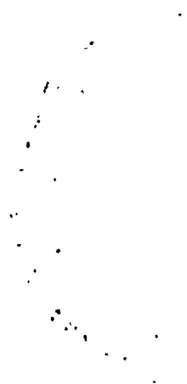
शुद्धि-पत्र

पन्ना	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४२	४५	तथा ̈ ̈ तीनों ही	– नित्य योग, मधुर स्मृति तथा निस्सन्देहता, ये सभी
५५	अन्तिम	दू अथवा सरे	– अथवा दूसरे
५७	,,	भू उसने तकाल	– उसने भूतकाल
५६	१६	की की	– की
६३	२	उदय...तथा	– उदित न होना, जिज्ञासा की जागृति न होना,
६६	२२	स्वाभाविकता	– वास्तविकता
६७	२२	श्रमको	– श्रम के बाद
७४	११	मिट	– मिटा
७७	१७	योग	– भोग
७६	१५	यथा	– तथा
६५	३	योग	– भोग
१४०	१५	विस्मृति	– स्मृति
१५०	२५	अतीत से	– अतीत को
१६५	१६	सिद्धि	– निर्भरता
१६५	२४	अनी	– अपनी
१६६	२	होकर	– का
१६६	८	शरणागति	– शरणागत
१६६	२४	अपना मानने	– अपना न मानने
१७५	अन्तिम	नहीं हो सकती	– हो सकती है
१६६	१३	दूसरों की...करता	– निर्बलों की निर्बलता का हरण करता
२०५	१३	साधक...नहीं	– साधक को निर्दोषता से निराश नहीं होना है
२१०	१५	अकर्तव्य	– कर्तव्य


चारण साहित्य शोध संस्थान
परि. सं. 306
क्रमांक
अजमेर



चित्त-शुद्धि

मानव - सेवा - संघ
वृन्दावन

प्रकाशक
मानव-सेवा-संघ, वृन्दावन

२०१५ वि०, १५ अगस्त, १९५८
प्रथम संस्करण – ३००० प्रतियाँ
मूल्य : २ रुपए ५० न.पै.

मुद्रक
खण्डेलवाल प्रेस एवं प्रकाशन
मानमन्दिर, वाराणसी-१

भूमिका

जब बाहर का संघर्ष मनुष्य के जीवन में जागृति लाता है तब उसकी वृत्ति अन्तर्मुखी होती है। अपना अन्तःनिरीक्षण (*Introspection*) करते ही उसे बाहर से भी अधिक भयावह संघर्ष का दर्शन होता है, जिसे देखकर वह एक बार घबड़ाता है फिर उस संघर्ष से छुटकारा पाने के प्रयत्न में लग जाता है। मानवता की ओर उन्मुख होनेवाले व्यक्ति के जीवन का पहला प्रश्न है अन्तर्द्वन्द्व मिटाना। साधनयुक्त जीवन का ही नाम मानव-जीवन है। इस दृष्टि से व्यक्ति जब जीवन को साधनमय बनाने चलता है तो पहली बाधा कहें अथवा पहली मंजिल कहें, चित्त की अशुद्धि का प्रश्न उसके सामने आता है।

जैसे खेत में अन्न उपजाने के लिए उसके सभी झाड़-जंगल को समूल नष्ट कर खेत तैयार किया जाता है, तभी उसमें बीज डालने पर पौधे लहलहाते हैं, वैसे ही किसी भी विध्यात्मक साधन को सफल बनाने के लिए चित्त को शुद्ध करना आवश्यक है, जिसके बिना कोई भी विध्यात्मक साधन कभी भी सफल नहीं हो सकता। अतः मानव के जीवन में साधन के पथ में पहला प्रश्न है चित्त को शुद्ध करना। प्रस्तुत पुस्तक में इसी विषय की विशद व्याख्या अनेक रूपों में अनेक ढंग से विभिन्न योग्यता, विचार और स्तर के साधकों के चित्त की दशा पर दृष्टि रखकर की गई है।

साधारणतः जब इन्द्रिय-ज्ञान और बुद्धि-ज्ञान का संघर्ष चलता है तो हम चित्त का एक अलग ही अस्तित्व मान लेते हैं और उसको अपने अधीन करने का विफल प्रयास करते रहते हैं, उसकी निन्दा

करते हैं, हार मानते हैं, साधन कठिन बताते हैं और अपनी विवशता कहकर जी चुराते हैं।

चित्तशुद्धि के प्रस्तुत विवेचन द्वारा यह प्रकाश मिलता है कि चित्त करता नहीं है, करण है। अशुद्धि उसका दोष नहीं है, अपना दोष है। व्यक्ति ने स्वयं उसे अशुद्ध किया है और वह स्वयं उसे शुद्ध भी कर सकता है।

समस्त सृष्टि में जो शक्ति (*universal energy*) निरन्तर कार्य कर रही है, चित्त उसी शक्ति की एक सुन्दर अभिव्यक्ति है। वह स्वरूप से अशुद्ध नहीं है।

इस विवेचन में 'चित्त' शब्द का प्रयोग अन्तःकरण के अर्थ में किया गया है। यह जीवन के एक पहलू के कार्यों का प्रतीक मात्र है। मनोवैज्ञानिक भाषा में जिसे *Psychic Apparatus* कहते हैं उसकी क्रियाओं के फल का आधार चित्त है। इन्द्रिय ज्ञान का प्रभाव इसमें अंकित होता है। प्रभाव जब तक अंकित होता रहता है तब तक चित्त का अस्तित्व भासता है। जब अंकित प्रभाव मिट जाता है तब चित्त का भास नहीं होता।

चित्त का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। जिसका स्वतंत्र अस्तित्त्व है, जो स्वयं प्रकाश है उसमें अशुद्धि का प्रवेश हो नहीं सकता। इसलिए जिसमें अशुद्धि का प्रवेश है उसका स्वतंत्र अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। फिर जिसके अस्तित्व का भास ही अशुद्धि पर निर्भर करता है उसके अस्तित्व का प्रश्न ही कैसे उठ सकता है। इस दृष्टि से यह सिद्ध है कि चित्त का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है।

सीमित अहम्‌भाव की स्वीकृति से कर्तृत्व का अभिमान और वस्तुओं के सम्बन्ध से भोक्तृत्व की रुचि उत्पन्न होती है। उनका प्रभाव जिसमें अंकित होता है उसका नाम है चित्त। जैसे *Mind*

शब्द का कोई *Objective* पहलू नहीं है वैसे ही चित्त शब्द का कोई स्थूल रूप नहीं है। इसकी क्रियाओं द्वारा इसका भास होता है।

सुने हुए, माने हुए, व्यक्त, अव्यक्त, भुक्त, अभुक्त इन्द्रियजनित सुख का राग अंकित होने के कारण जब संकल्पों की उत्पत्ति, पूर्ति और अपूर्ति के सुख-दुःख का प्रवाह चलने लगता है तब हम कहने लगते हैं कि चित्त दुखी है, खिन्न है, प्रसन्न है, चंचल है, द्वन्द्व से भरा है आदि आदि। व्यक्त और अव्यक्त रूप से चलनेवाले आन्तरिक संघर्ष के कारण 'जीवनी शक्ति' (*Libidinal Force*) चित्त के द्वन्द्व और उसके दमन में व्यय होने लगती है, तब दैनिक जीवन के अभियोजन (*Adjustment*) एवं विध्यात्मक साधन के लिए सामर्थ्य और अवकाश नहीं रह जाता। साधक चित्त को जिसमें लगाना चाहता है वहाँ लगता नहीं और जहाँ से उसे हटाना चाहता है वहाँ से वह हटता नहीं। चित्त साधक के अधीन नहीं रहता, वरन् साधक अपने को अपने चित्त के अधीन पाता है। यही चित्त की सबसे बड़ी अशुद्धि है।

चित्त के शुद्ध स्वरूप के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि चित्त के अस्तित्व का भास मिट जाना ही इसकी शुद्धि है। निर्विकारता आ जाय और वास्तविक जीवन से भिन्न का अस्तित्व न रह जाय— यही शुद्ध चित्त का स्वरूप है। चित्त का स्वरूप, उसका कार्य, उसकी अशुद्धि और शुद्धि के सम्बन्ध में उपर्युक्त निश्चित धारणा (*Definite conception*) लेकर अशुद्धि के कारण, शुद्धि के उपाय और उसके परिणाम का विशद विवेचन सम्पूर्ण पुस्तक में किया गया है। चित्त की अशुद्धि का स्थूल से स्थूल और सूक्ष्म से सूक्ष्म रूप का उल्लेख किया गया है, यथा—

१. 'सामर्थ्य का दुरुपयोग चित्त की अशुद्धि है।'
२. 'दोष की वेदना का न होना चित्त की अशुद्धि है।'

३. 'कर्त्तव्य का न करना, विश्राम न पाना, जिसको अपना माना उसको प्यार न करना अस्वाभाविकता है। इससे चित्त अशुद्ध होता है।'

४. 'किसी भी की हुई, सुनी हुई, देखी हुई भूतकाल की बुराई के आधार पर अपने को अथवा दूसरे को सदा के लिए बुरा मान लेना चित्त की अशुद्धि है।'

५. 'वर्त्तमान की नीरसता चित्त की अशुद्धि का परिचय है।'

६. 'व्यर्थ चिन्तन चित्त को शान्त नहीं होने देता।'

७. 'वस्तु, अवस्था एवं परिस्थिति के आधार पर अपना मूल्यांकन करने से चित्त अशुद्ध होता है।'

८. 'संयोग की दासता और वियोग का भय चित्त की अशुद्धि है।'

९. 'करने में सावधान और होने में प्रसन्न नहीं रहने से चित्त अशुद्ध होता है।'

१०. 'ज्ञान और जीवन में भेद होना चित्त की अशुद्धि है।'

११. 'साधक अपने व्यक्तित्व के मोह में आवद्ध होकर चित्त को अशुद्ध कर लेता है।'

१२. 'चित्त को दवाए रखना चित्त की अशुद्धि का पोपक है।'

१३. 'संकल्पों की उत्पत्ति और पूर्ति में ही जीवन-बुद्धि चित्त की अशुद्धि है।'

१४. 'अहम्‌भाव का महत्त्व चित्त की अशुद्धि है।'

१५. 'शुद्धि के साधन में श्रम, चढ़ाई का अनुभव एक अस्वाभाविकता है। यह चित्त की अशुद्धि है।'

१६. 'सीमित गुणों का भोग अशुद्धि है।'

१७. 'साधन-मार्ग की प्राप्त सिद्धियों में सन्तुष्टि शुद्धि में बाधा है।'

१८. 'सीमित अहम्‌भाव का नाश न होना मौलिक एवं अंतिम अशुद्धि है।'

साधक अपने चित्त की वैज्ञानिक व्याख्या नहीं जानता। वह ज्योंही अपनी मौलिक माँग (जीवन, सामर्थ्य, रस) की पूर्ति के लिये साधन में प्रवृत्त होना चाहता है त्योंही चित्त की अशुद्धि से उसकी मुठभेड़ होती है और बेचारा अजान साधक वहीं उलझ जाता है। अनमोल जीवन का बहुत बड़ा भाग चित्त से सुलझने में ही निकल जाता है। साधकों की इस दशा को दृष्टि में रखकर जीवन की प्रत्यक्ष अनुभूत अशुद्धियों से प्रत्येक निबन्ध का प्रारम्भ किया गया है और उन अशुद्धियों के कारण तथा शुद्धि के अति व्यावहारिक उपाय बताए गए हैं। यद्यपि चित्त की अशुद्धि का मौलिक कारण एक ही है :— वस्तु, अवस्था, परिस्थिति में जीवनबुद्धि की स्वीकृति, तथापि यह मौलिक अशुद्धि विभिन्न व्यक्तियों के चित्त में विभिन्न रूपों में व्यक्त होती है। इसलिए साधक के चित्त में अशुद्धि जिन-जिन रूपों में व्यक्त होती है उनका उल्लेख किया गया है जिससे साधक को पुस्तक की विषय-वस्तु अपने जीवन की विषय वस्तु मालूम हो।

शिक्षा-विभाग में साहित्य के पाठ्य-क्रम में जिस प्रकार वर्णमाला-परिचय से लेकर भाषा-विज्ञान (*Philology*) का क्रम दिया रहता है और छात्र अपनी वर्त्तमान योग्यतानुसार अध्ययन आरम्भ करता है, वैसे ही प्रस्तुत पुस्तक में विभिन्न स्तर के साधकों के लिए कर्म, चिन्तन एवं स्थिति-काल की विभिन्न अशुद्धियों एवं उनके मिटाने के उपायों का विवेचन किया गया है। इस पुस्तक में प्रत्येक साधक को अपने चित्त का चित्र देखने को मिल सकता है और प्रत्येक अपने योग्य साधन को अपनाकर अपना चित्त शुद्ध कर सकता है।

सब से अधिक महत्त्वपूर्ण (*Outstanding*) बातें जो इस चित्तशुद्धि के विवेचन में मुझे मिलती हैं वे निम्नलिखित हैं :—

१. 'चित्त का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है।'

२. 'चित्त करण है, कर्त्ता नहीं।'

३. 'इसकी अशुद्धि अपना बनाया हुआ दोष है इसलिए अपने द्वारा मिटाया जा सकता है।'
४. 'जब चित्त का ही स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है तो अशुद्धि स्थायी हो नहीं सकती, इसलिए अशुद्धि का नाश अवश्यम्भावी है।'
५. 'सर्वांश में चित्त किसी का अशुद्ध नहीं है।'
६. 'विवेक के अनादर से अशुद्धि उत्पन्न हुई है, अतः विवेक के आदर से इसका नाश निश्चित है।'
७. 'विवेक प्रत्येक मानव को सदा से प्राप्त है।'
८. 'निज विवेक के आदर द्वारा प्रत्येक साधक युग-युग की अशुद्धि को वर्त्तमान में मिटाने में समर्थ है।'
९. 'अशुद्धि के मिटते ही वास्तविक जीवन की प्राप्ति का साधन सुलभ हो जाता है अर्थात् साधन और जीवन में अभिन्नता हो जाती है।'
१०. 'चित्तशुद्धि साधक का पहला और अन्तिम पुरुषार्थ है।'
११. 'अशुद्धि के ज्ञान में शुद्धि का उपाय निहित है।'
१२. 'एक बार शुद्धि आ जाने पर फिर अशुद्धि नहीं आती।'

चित्तशुद्धि के सम्बन्ध में कहे गए उपरोक्त प्रत्येक वाक्य साधक के पथ को अनुप्राणित करनेवाले हैं। जैसे कोई व्यक्ति धुमिल प्रकाश में अपनी विकृत प्रतिच्छाया को देखकर प्रेत के भय से आक्रान्त हो गया हो उसे यह बता दिया जाय कि वह प्रेत नहीं है, उसकी अपनी ही छाया है तो वह निर्भय होकर हँसने लगेगा, उसी प्रकार उपरोक्त वाक्य चित्त की विकृति, चंचलता और उसको जीतने की दुरूहता के भय से आक्रान्त साधक को भयमुक्त करनेवाले हैं।

साधक चित्त की अशुद्धि से घबड़ाते क्यों हैं? क्योंकि वे नहीं जानते कि अशुद्धि अस्तित्वविहीन है, वे नहीं जानते कि यह प्रमादजनित है। उन्हें यह विश्वास नहीं रहता कि चित्तशुद्धि

वर्त्तमान जीवन का प्रश्न है। अनजानमें ही वे विध्यात्मक साधन अपनाने का विफल प्रयास करते हैं, चित्त को बलपूर्वक दबाते हैं, थककर सफलता से निराश होने लगते हैं और अपने साधन में सन्देह करने लगते हैं जो साधक के जीवन का सब से काला भाग है।

प्रस्तुत पुस्तक में चित्तशुद्धि का जो विवेचन दिया गया है वह साधकों का भ्रम मिटाकर उनके साधन को सजीव बनानेवाला है। चित्तशुद्धि वर्त्तमान जीवन का प्रश्न है, यह बात स्वीकार करते ही साधक में अदम्य उत्साह उत्पन्न होता है और वह साधन में तल्लीन हो जाता है।

चित्तशुद्धि का विषय मानव जाति के मानसिक स्वास्थ्य के पहलू पर भी प्रकाश डालता है। आधुनिक युग में मानसिक स्वास्थ्य को ठीक रखने के लिए बड़े-बड़े सिद्धान्त बनाए जा रहे हैं क्योंकि आज मनुष्य का 'अभियोजन' (*Adjustment*) अपेक्षाकृत कठिन हो गया है। विचारक इस बात को समझने लगे हैं कि असंतुलन का कारण बाहर की अपेक्षा मनुष्य के भीतर अधिक है। मानसिक विकृतियों से पीड़ित भाई-बहनों के लिए मानसिक चिकित्सालयों पर अपार धन-राशि खर्च हो रही है। कितने ही प्रतिभाशाली अन्वेषक रोगियों के दुःख से पीड़ित होकर अपना जीवन रोगों के कारण और उनके निवारण की खोज पर लगाए जा रहे हैं। फिर भी स्विटज़रलैंड के विख्यात मानसिक रोगों के चिकित्सक और मनोविज्ञान के अध्यापक (*Psychiatrist* एवं *Psychology teacher*) *Dr. Boss* के व्यथित हृदय से निराशा-भरी वाणी निकलती है :—

"As we study more and more in Psychology, we find ourselves hanging in the air, our findings are baseless. I have come to Indian saints to find something more soild, more dependable which we can give to our students."

शब्दावली मुझे ठीक याद नहीं है पर सारांश यही है कि मनोविज्ञान

के क्षेत्र में वे जितना ही अधिक अध्ययन करते हैं उतना ही अधिक उनका ज्ञान निराधार मालूम होता है। वे चाहते हैं कि कुछ अधिक विश्वसनीय तत्त्व प्राप्त हो, इसी के लिए वे भारतीय संतों के पास आए हैं ताकि अपने विद्यार्थियों को कुछ अधिक विश्वसनीय तत्त्व दे सकें।

ठीक है। चित्तशुद्धि की प्रस्तुत व्याख्या को पढ़कर मुझे ऐसा लगता है कि जिस विज्ञान का विशेषतः *Psychopathology* का आधार ही अस्तित्वविहीन है, उसमें से कोई *Dependable* तत्त्व कैसे मिल सकता है।

आज चित्त के व्यक्त और अव्यक्त संघर्ष को सुलझाने का प्रयास करनेवाले मानव जाति के हितचिन्तकों को यदि यह विदित हो जाय कि द्वन्द्वजनित विकृति का आधार ही अस्तित्वविहीन है तो उस समस्या को सुलझाने का सरल मार्ग निकल जाय। तब *Freud* के इन शब्दों को हमें दुहराना नहीं पड़े कि *"We can not supress the cry that life is not easy"* "हम इस क्रन्दन को दबा नहीं सकते कि जीवन आसान नहीं है।"

यह बात तो *Psychic Apparatus* के अस्तित्व को स्वीकार कर उठनेवाले संकल्पों की पूर्ति-अपूर्ति को जीवन मानकर ही कही जाती है। वस्तु में जीवनबुद्धि रखने के बाद संघर्ष, निराशा, क्षोभ और विकृति से परित्राण कैसे मिले? नहीं मिल सकता। अशुद्धिजनित पीड़ा से परित्राण तो वास्तविक जीवन से अभिन्न होने पर ही सम्भव है। प्रस्तुत व्याख्या *Normal-Abnormal* को चेतन-अचेतन संघर्ष की पीड़ा से बचाने का महामंत्र है।

अशुद्धि का मूल कारण है देह, अवस्था, वस्तु एवं परिस्थिति में जीवनबुद्धि जो प्रमादजनित है। शुद्धि का मूल उपाय बताया गया है :-

(१) आस्तिक दृष्टि से विश्वासपूर्वक अनन्त की अहैतुकी कृपा का आश्रय लेना।

(२) अध्यात्म दृष्टि से विवेकपूर्वक अचाह होना।

(३) भौतिक दृष्टि से वर्त्तमान कार्य को पवित्र भाव से, पूरी शक्ति लगाकर लक्ष्य पर दृष्टि रखते हुए विधिपूर्वक सम्पादित करना।

शुद्धि का परिणाम बताया गया है चित्त की स्थिरता, शान्ति और स्वस्थता। शुद्धि से सर्व-हितकारी भावनाएँ उदित होती हैं, शान्ति से सामर्थ्य और स्वाधीनता आती है और चित्त की स्वस्थ दशा में न शान्ति भंग होती है और न अशुद्धि आती है। अतः चित्त को जिसमें लगना चाहिए उसमें लग जाता है और जिससे हटना चाहिए उससे हट जाता है। प्रत्येक दशा में साधक की शान्ति, निर्भयता एवं प्रसन्नता सुरक्षित रहती है। साधक के साधन और जीवन में एकता हो जाती है। यही मानव-जीवन की सार्थकता है, यही साधक की सिद्धि है।

प्रस्तुत पुस्तक के रचयिता मानवता के प्रेमी एक संत हैं जिन्होंने जीवन की घटनाओं से चित्त की अशुद्धियों का अध्ययन किया है और अपने अनुभूत प्रयोगों के आधार पर चित्तशुद्धि के साधनों का प्रतिपादन किया है। आप के विचारों में अद्भुत क्रान्ति है। आप की पैनी दृष्टि जीवन की समस्याओं की गुह्यतम तह तक पहुँचती है। इसलिए आप द्वारा प्रतिपादित साधन साधक की समस्याओं का मूलोच्छेदन करने में समर्थ हैं। यदि आप ने मानव-सेवा-संघ द्वारा प्रकाशित 'संत समागम', 'मानव की माँग', 'जीवन-दर्शन' आदि पुस्तकें पढ़ी होंगी तो आप उनकी शैली से पहले से ही परिचित होंगे। 'चित्त-शुद्धि' भी उन्हीं की पवित्र वाणी द्वारा अभिव्यक्त विचारों का संग्रह है। सत्य के साथ किसी व्यक्ति-विशेष का नाम जोड़ना उनके सिद्धान्त से उचित नहीं है, इसी कारण उनके द्वारा

रचित पुस्तकों में उनका नाम नहीं दिया जाता। साधक-समाज की उलझनों से व्यथित इन महामानव को स्वतः जो प्रकाश मिला है वह आप के आगे 'चित्त-शुद्धि' के रूप में प्रस्तुत है। इसमें प्रतिपादित चित्त की अशुद्धि का मूल कारण, शुद्धि के मुख्य साधन और उनका परिणाम मुझे अत्यन्त उपयोगी और आशाजनक मालूम होते हैं। यह हम सब के लिए कल्याणकारी हो, इसी सद्भावना के साथ---

मानव-सेवा-संघ आश्रम
वृन्दावन (उत्तर प्रदेश)
दिनांक : ६-३-५८

विनीता
देवकी



: १ :

मेरे निज स्वरूप परमप्रिय,

चित्त की शुद्धि का भले ही किसी को ज्ञान न हो पर चित्त की अशुद्धि का तो ज्ञान मानव मात्र को है, क्योंकि यदि ऐसा न होता तो चित्त की शुद्धि का प्रश्न ही उत्पन्न न होता। विचार यह करना है कि हमारी अपनी दृष्टि में अपने चित्त में क्या अशुद्धि प्रतीत होती है। जब हम अपने चित्त को अपने अधीन नहीं पाते हैं तब यह भास होता है कि चित्त में कोई दोष है। यदि हमारा चित्त हमारे अधीन होता तो हम चित्त के लगाने तथा हटाने में अपने को सर्वदा स्वाधीन पाते। पर ऐसा करने में हम अपने को असमर्थ पाते हैं। हमारी असमर्थता ही हमें यह बता देती है कि हमारे चित्त में कोई अशुद्धि है।

किसी में अस्वाभाविकता का आ जाना ही अशुद्धि है। इस दृष्टि से हमें अपनी अनुभूति के आधार पर यह जान लेना है कि हमारे चित्त में क्या अस्वाभाविकता आ गई है जिससे हम अपने चित्त को अपने अधीन नहीं रख पाते हैं। संकल्पों की उत्पत्ति तथा पूर्ति को ही हम अपना जीवन मान बैठे हैं। यद्यपि संकल्पों की उत्पत्ति से पूर्व भी जीवन है और संकल्प-पूर्ति के पश्चात् भी जीवन है परन्तु हम उस स्वाभाविक जीवन की ओर ध्यान नहीं देते और संकल्प की उत्पत्ति तथा उसकी, पूर्ति की द्वन्द्वात्मक परिस्थिति को ही जीवन मान लेते हैं; यही अस्वाभाविकता है। इस अस्वा-

भाविकता के अभाव से ही चित्त अशुद्ध हो गया है। इस दृष्टि से संकल्पों की उत्पत्ति-पूर्ति में ही जीवन-बुद्धि स्वीकार करना और संकल्पों से अतीत के जीवन की जिज्ञासा तथा लालसा जाग्रत न होना ही चित्त की अशुद्धि है।

संकल्पों की उत्पत्ति जिसमें होती है और उनकी पूर्ति जिन साधनों से होती है, उन दोनों का जो प्रकाशक है अथवा जिससे उन दोनों को सत्ता मिलती है, उसमें जीवन-बुद्धि स्वीकार न करना अनुभूति का विरोध है; और संकल्पों की उत्पत्ति-पूर्ति में ही जीवन-बुद्धि स्वीकार करना, यह निज अनुभूति का अनादर करना है। इस भूल से ही चित्त अशुद्ध हो गया है। अब विचार यह करना है कि संकल्पों की उत्पत्ति का उद्गम स्थान क्या है और उन संकल्पों की पूर्ति जिन साधनों से होती है उनका स्वरूप क्या है? जिन मान्यताओं से किसी न किसी प्रकार के भेद की उत्पत्ति होती है, उन मान्यताओं में अहम्-बुद्धि स्वीकार करने पर ही संकल्पों की उत्पत्ति होती है और जिन वस्तुओं से संकल्पों की पूर्ति होती है वे सभी वस्तुएँ पर-प्रकाश्य हैं, परिवर्तनशील हैं और उत्पत्ति-विनाशयुक्त हैं। इसी कारण संकल्प-पूर्ति का सुख संकल्प-उत्पत्ति का हेतु बन जाता है। उत्पत्ति-पूर्ति का क्रम सतत चलता रहता है। उससे तद्रूप होकर प्राणी अनेक प्रकार के अभावों में आबद्ध होकर दीनता तथा अभिमान की अग्नि में दग्ध होता रहता है। यदि संकल्पों की उत्पत्ति-पूर्ति से अतीत के जीवन पर विश्वास हो जाय अथवा उसका अनुभव हो जाय तो प्राणी बड़ी ही सुगमतापूर्वक चिर-विश्राम पाकर कृत-कृत्य हो जाता है।

संकल्पों की उत्पत्ति-पूर्ति के जीवन में सभी किसी न किसी प्रकार का अभाव अनुभव करते हैं। यही समस्या उस जीवन से अतीत के जीवन की ओर प्रेरित करती है। वह प्रेरणा जिसका

प्रकाश है, उसकी सत्ता स्वीकार करना और संकल्प-उत्पत्ति-पूर्ति के जीवन को केवल राग-निवृत्ति का साधन मानना चित्त की अशुद्धि मिटाने में समर्थ है। इस दृष्टि से संकल्प-उत्पत्ति-पूर्ति का जीवन अभाव रूप है और उससे अतीत का जीवन भावरूप है। अभाव का प्रकाशन भावरूप सत्ता से ही होता है। यदि अभाव की अनुभूति को वास्तविक जीवन की लालसा मान लिया जाय तो अभाव की अनुभूति भी वास्तविक जीवन की ओर अग्रसर करने में हेतु बन जाती है। इस दृष्टि से संकल्प-उत्पत्ति-पूर्ति का जीवन वास्तविक जीवन का साधन मात्र है और कुछ नहीं। अतः संकल्प-उत्पत्ति-पूर्ति को ही जीवन स्वीकार करना चित्त को अशुद्ध रखना है। यद्यपि इस स्वीकृति में निज अनुभूति का विरोध है, फिर भी उसका प्रभाव चित्त पर अङ्कित रहना चित्त की अशुद्धि का स्वरूप है।

इस दृष्टि से चित्त की अशुद्धि जो जीवन में दिखाई देती है वह ऐसी वस्तु नहीं है कि मिट न सके। अवश्य मिट सकती है। पर कब? जब संकल्प-पूर्ति के सुख का महत्व न रहे, अपितु उसमें पराधीनता का दर्शन हो और संकल्प-अपूर्ति का क्षोभ भय-भीत न कर सके। संकल्प-पूर्ति के सुख की दासता और संकल्प-अपूर्ति का भय मिट जाने पर संकल्प-उत्पत्ति-पूर्ति के जीवन से तद्रूपता नहीं रहती है। तद्रूपता के मिटते ही चित्त स्वतः शुद्ध होने लगता है। पर चित्त इतनी गहरी खाई है कि उसके शुद्ध, शांत तथा स्वस्थ होते समय भुक्त-अभुक्त संकल्पों के प्रभाव से प्रेरित होकर संकल्पों का प्रवाह चलने लगता है। उसे देखकर साधक भयभीत हो जाता है और स्वयं अपने आप अपनी तथा चित्त की निन्दा करने लगता है। यद्यपि चित्त निन्दनीय नहीं है, उसमें जो भुक्त-अभुक्त संकल्पों का प्रभाव अङ्कित हो गया है

की उत्पत्ति होती है तो संकल्प के बिना वस्तुओं की प्रतीति कैसे हुई ? और यदि कोई यह कहे कि संकल्प से वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं तो संकल्प-अपूर्त्ति का प्रश्न ही जीवन में क्यों आया ? अतः न तो वस्तुओं से संकल्प की उत्पत्ति सिद्ध होती है और न संकल्प से वस्तुओं की। परन्तु प्राणी संकल्प के द्वारा ही वस्तुओं से संबन्ध स्थापित करता है। सम्बन्ध उसी से हो सकता है जिससे किसी न किसी प्रकार की एकता तथा भिन्नता हो। इस दृष्टि से संकल्प तथा वस्तुओं में किसी न किसी प्रकार की एकता और भिन्नता अवश्य है। वस्तुओं के द्वारा सुख की आशा ने संकल्प को जन्म दिया और संकल्प पूर्त्ति ने वस्तु को महत्व प्रदान किया।

अब विचार यह करना है कि वस्तुओं के द्वारा सुख की आशा का जन्म कैसे हुआ ? शरीररूपी वस्तु में अहम्-बुद्धि हो जाने पर वस्तुओं की कामना स्वतः उत्पन्न होती है, क्योंकि शरीर और सृष्टि में गुणों की भिन्नता और स्वरूप की एकता है। इसी कारण शरीर से तद्रूप होने पर सृष्टि से सुख की आशा उत्पन्न होती है। शरीर की तद्रूपता न तो वस्तु है और न संकल्प अपितु अविवेक है। इस दृष्टि से यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि अविवेक से ही संकल्प और वस्तु में सम्बन्ध की स्थापना हुई। विवेकपूर्वक शरीर से तद्रूपता मिट जाने पर संकल्प की उत्पत्ति ही नहीं होती। संकल्पों की निवृत्ति होते ही सुख-दुःख से अतीत, शान्ति के साम्राज्य में प्रवेश हो जाता है, जिसके होते ही भोक्ता, भोग की रुचि और भोग्य वस्तुएँ इन तीनों का भेद मिट जाता है, क्योंकि भोक्ता से भिन्न भोग की रुचि, और भोग की रुचि के बिना भोग्य-वस्तु की प्रतीति ही सम्भव नहीं है। अथवा यों कहो कि भोग की रुचि का जो समूह है उसमें जिसने अहम्-बुद्धि को स्वीकार किया उसी को भोक्ता कह सकते हैं। भोक्ता में ही संकल्पों की उत्पत्ति

होती है और संकल्पों की उत्पत्ति ही भोग्य वस्तुओं से सम्बन्ध जोड़ती है जो वास्तव में चित्त की अशुद्धि है। संकल्प की उत्पत्ति जिन भोग्य वस्तुओं से सम्बन्ध जोड़ देती है, उन वस्तुओं का अस्तित्व क्या है? ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है कि जिसकी प्राप्ति अप्राप्ति में स्वतः न बदल जाय। अप्राप्ति उसी की हो सकती है जिसका स्वतंत्र अस्तित्व न हो। इस दृष्टि से किसी भी वस्तु का स्वतंत्र अस्तित्व ही सिद्ध नहीं होता। स्वतंत्र अस्तित्व उसी का हो सकता है, जिससे वस्तुओं की उत्पत्ति हो और जिसमें वस्तुएँ विलीन हों। वस्तुओं की उत्पत्ति के मूल में जो अनुत्पन्न तत्त्व है, उसी की स्वतंत्र सत्ता हो सकती है। उस स्वतंत्र सत्ता को जो स्वीकार कर लेता है, वह बड़ी ही सुगमतापूर्वक वस्तुओं से असंग हो जाता है। वस्तुओं से असङ्ग होते ही चित्त स्वतः शुद्ध हो जाता है। वस्तुओं से सङ्ग की स्थापना कब हुई थी, इसका ज्ञान सम्भव नहीं है, किन्तु वस्तुओं से असङ्गता हो सकती है। इससे यह मान ही लेना पड़ता है कि वस्तुओं का सङ्ग स्वीकार किया गया है और उसका परिणाम यह हुआ है कि चित्त अशुद्ध हो गया है; जिसके होने से जीवन पराधीनता, जड़ता आदि दोषों में आबद्ध हो गया है, जो किसी को भी स्वभाव से प्रिय नहीं है। इसी कारण चित्तशुद्धि का प्रश्न जीवन का प्रश्न है। उसे वर्तमान में ही हल करना है। वह तभी सम्भव होगा जब संकल्प की उत्पत्ति और पूर्ति के द्वन्द्वात्मक सुख-दुःख-युक्त जीवन से अतीत के जीवन को प्राप्त करें, जो विवेकसिद्ध है।

३-५-५६

: ? :

मेरे निज स्वरूप परमप्रिय,

सर्वांश में चित्त कभी भी अशुद्ध नहीं होता। यदि ऐसा होता तो चित्त की शुद्धि का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। इससे यह समझ लेना चाहिए कि चित्त में जो अशुद्धि भासती है वह उसके किसी अंश मात्र में है। जिस ज्ञान से चित्त की अशुद्धि को जानते हैं उसी ज्ञान में चित्त को शुद्ध करने की सामर्थ्य निहित है। पर कब? जब चित्त की अशुद्धि के कारण की खोज की जाय। चित्तशुद्धि की उत्कट लालसा अशुद्धि के कारण की खोज करने में समर्थ है। कारण कि शुद्धि की लालसा अशुद्धिजनित सुख की रुचि को खा लेती है। उसके मिटते ही अशुद्धि का कारण स्पष्ट विदित हो जाता है, जिसके होते ही अशुद्धि का कारण स्वतः मिटने लगता है और उसके मिटते ही चित्त शुद्ध हो जाता है। अतः चित्त की शुद्धि से किसी को निराश नहीं होना चाहिए और न हार स्वीकार करनी चाहिए, अपितु चित्तशुद्धि की उत्कट लालसा को सबल तथा स्थायी बनाना चाहिए।

यह नियम है कि जिस ज्ञान से चित्त की अशुद्धि का कारण विदित होता है वह नित्य है, स्वाभाविक है, भौतिक दृष्टि से प्राकृतिक विकास है, अध्यात्म-दृष्टि से अपने ही स्वरूप की महिमा है और आस्तिक दृष्टि से अनन्त की अहैतुकी कृपाशक्ति है। हमें उस ज्ञान का आदर करना चाहिए क्योंकि वही हमारा वास्तविक

पथ-प्रदर्शक है। इतना ही नहीं, उसे तो निज की ही सम्पत्ति समझना चाहिए अर्थात् उससे अत्यन्त आत्मीयता हो, उसका कभी भी विरोध न हो तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक चित्तशुद्धि की साधना में सफलता प्राप्त हो जाती है।

संकल्प-पूर्ति का सुख जड़ता उत्पन्न करता है और नवीन संकल्पों की पुनरावृत्ति की प्रेरणा देता है, अर्थात् जिन संकल्पों की पूर्ति अनेक बार हो चुकी है, उनकी वास्तविकता का परिचय नहीं होने देता अपितु संकल्प-पूर्ति के सुख का राग ही उत्पन्न कर पराधीन बना देता है, जिससे प्राणी परिस्थितियों की दासता से मुक्त नहीं हो पाता, किसी न किसी परिस्थिति का आवाहन ही करता रहता है। परन्तु जब संकल्प-अपूर्ति का चित्र सामने आता है और उसकी पूर्ति से प्राणी को निराशा होने लगती है तब संकल्प-पूर्ति से उत्पन्न हुई जड़ता मिटने लगती है और एक नवीन चेतना उदित होती है। यद्यपि संकल्प-अपूर्ति की घड़ियाँ बड़ी ही दुःखद प्रतीत होती हैं, किन्तु उसी से वास्तविक जीवन की ओर गतिशील होने के लिए प्रकाश मिलता है। इस दृष्टि से संकल्प-अपूर्त्ति की वेदना भी जीवन का एक आवश्यक अंग है। साधक को उससे भयभीत नहीं होना चाहिए।

संकल्प-पूर्ति का सुख साधन-पथ में अग्रसर होनेवाले साधक के लिये विश्राम का क्षण है, उसी को जीवन मानकर ठहरना नहीं चाहिए। विश्राम का क्षण सुखद है, इसमें सन्देह नहीं और वास्तविक उद्योग के सामर्थ्य के लिए उसकी आवश्यकता भी है, जिससे साधक अपने अभीष्ट लक्ष्य तक पहुँच सके। संकल्प-अपूर्ति की वेदना संकल्प-पूर्ति के सुख से मुक्त करके साधक को अपने अभीष्ट लक्ष्य तक पहुँचने के लिए नवीन स्फूर्ति प्रदान करती

है। इस दृष्टि से संकल्प-पूर्ति तथा अपूर्ति दोनों में ही उस अनन्त का मंगलमय विधान निहित है।

यद्यपि संकल्प-पूर्ति का सुख सभी को प्रिय होता है और संकल्प-अपूर्ति का दुःख किसी को भी अभीष्ट नहीं है, परन्तु संकल्प-पूर्ति का वह अंश जो संकल्प-पूर्ति की वास्तविकता का परिचय देने में समर्थ होता है, साधक के लिए हितकर है; अर्थात् संकल्प-पूर्ति में कितना सुख है, इसका बोध हो जाता है। पर यदि उसी को जीवन मान लिया जाय तो संकल्प-पूर्ति से जड़ता आ जाती है, क्योंकि जिन वस्तुओं से संकल्प पूरा होता है उनसे तादात्म्य हो जाता है और उनका महत्त्व इतना बढ़ जाता है कि वस्तुओं से अतीत भी कोई जीवन है, इसकी चेतना नहीं रहती। उस जड़ता का नाश संकल्प-अपूर्ति की वेदना से होता है। इस दृष्टि से संकल्प-अपूर्ति बड़े ही महत्त्व की वस्तु है। पर असावधानी के कारण यदि साधक संकल्प-अपूर्ति के दुःख से भयभीत हो जाय तो वह बेचारा संकल्प-पूर्ति की दासता में आबद्ध हो जाता है। अतः बड़ी ही सावधानीपूर्वक इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि संकल्प-अपूर्ति से वेदना चाहे जितनी हो, पर संकल्प-पूर्ति की आशा नहीं करनी चाहिए। संकल्प-पूर्ति से निराश हो जाने पर वस्तुओं से अतीत के जीवन की जिज्ञासा तथा लालसा स्वतः जागृत होती है, जो संकल्प-पूर्ति के राग को खा जाती है, जिसके मिटते ही जिज्ञासा की पूर्ति हो जाती है।

संकल्प-उत्पत्ति किसी अप्राप्त की प्राप्ति के लिए प्रेरित करती है, अर्थात् प्राप्त परिस्थिति में असन्तोष उत्पन्न कर देती है। ऐसी दशा में या तो किसी अप्राप्त वस्तु—अवस्था आदि का आवाहन होने लगता है अथवा सभी अवस्थाओं से अतीत के जीवन की लालसा जागृत होती है। जिन संकल्पों से किसी अप्राप्त वस्तु,

अवस्था आदि का आवाहन होने लगता है, वे संकल्प अशुद्ध हैं और त्याज्य हैं, क्योंकि जड़ता तथा पराधीनता की ओर ले जाते हैं; और जो संकल्प सभी अवस्थाओं से अतीत के जीवन की जिज्ञासा जागृत करते हैं, वे शुद्ध संकल्प हैं। यह नियम है कि अशुद्ध संकल्प मिट जाने पर शुद्ध संकल्प स्वतः पूरे हो जाते हैं।

अशुद्ध संकल्पों के त्याग में शुद्ध संकल्पों की पूर्ति का सामर्थ्य निहित है और शुद्ध संकल्पों की पूर्ति के सुख के त्याग में निर्विकल्प होने का सामर्थ्य निहित है। निर्विकल्पता आ जाने पर सुख-दुःख गलकर चिरशांति में विलीन हो जाते हैं और चित्त की अशुद्धि स्वतः मिटने लगती है।

अनावश्यक तथा अशुद्ध संकल्पों के त्याग से चित्त-शुद्धि की साधना आरम्भ होती है। प्राकृतिक नियम के अनुसार अशुद्ध संकल्पों के त्याग से उन शुद्ध संकल्पों की पूर्ति स्वतः हो जाती है, जिनका राग संकल्प-पूर्ति के विना मिट ही नहीं सकता। अनावश्यक संकल्प शुद्ध ही क्यों न हों, पर वे परिस्थिति के अनुरूप आवश्यक शुद्ध संकल्पों की पूर्ति में वाधक होते हैं, क्योंकि अनावश्यक संकल्पों से प्राप्त शक्ति का ह्रास हो जाता है। जो शक्ति शुद्ध संकल्पों की पूर्ति के लिए मिली थी, वह व्यर्थ ही नष्ट हो जाती है। इस दृष्टि से अनावश्यक संकल्पों का त्याग अनिवार्य है। अशुद्ध संकल्पों से अकर्तव्य का जन्म होता है, जो कर्तव्यपरायणता से तो विमुख कर ही देता है साथ ही अवनति की ओर भी ले जाता है, अर्थात् वर्तमान वस्तुस्थिति से भी गिरावट की ओर ले जाता है। इस दृष्टि से अशुद्ध और अनावश्यक दोनों ही प्रकार के संकल्प त्याज्य हैं।

अनावश्यक तथा अशुद्ध संकल्पों के त्याग का उपाय क्या है? आवश्यक संकल्पों को परिस्थिति के अनुसार, पवित्र भाव से,

लक्ष्य पर दृष्टि रखकर कर्तव्य-बुद्धि से पूरा कर डालना चाहिए। आवश्यक संकल्प वही है जिसको पूरा करने का सामर्थ्य प्राप्त हो और जिसका सम्बन्ध वर्त्तमान से हो, जिसको विना पूरा किए किसी भी प्रकार रह न सकें और जिसके पूरे होने में किसी का अहित न हो। इस दृष्टि से आवश्यक संकल्पों की पूर्ति में साधक परतंत्र नहीं है। आवश्यक संकल्प पूरे हो जाने पर विद्यमान राग की निवृत्ति हो जाती है, जिसके होते ही अशुद्ध संकल्प स्वतः मिट जाते हैं। अतः वड़ी ही तत्परतापूर्वक आवश्यक संकल्प पूरा कर डालना चाहिए। आवश्यक संकल्पों की पूर्ति में प्राकृतिक विरोध नहीं है। असावधानी और आलस्य के कारण ही आवश्यक संकल्प पूरे नहीं होते। जब आवश्यक संकल्प पूरे नहीं होते, तब अनावश्यक और अशुद्ध संकल्प उठने लगते हैं जो प्राप्त सामर्थ्य का ह्रास तथा दुरुपयोग कराने में हेतु बन जाते हैं, जिससे चित्त में उत्तरोत्तर अशुद्धि ही वृद्धि पाती है। इस दृष्टि से आवश्यक संकल्पों का पूरा करना अत्यन्त आवश्यक है।

शुद्ध तथा आवश्यक संकल्प की पूर्ति का प्रयत्न आरम्भ होते ही अनावश्यक तथा अशुद्ध संकल्पों का प्रवाह वड़े ही वेग से उठने लगता है। साधक उसे देख भयभीत हो जाता है, और बल-पूर्वक उस प्रवाह को मिटाने का उद्योग करने लगता है पर वेचारा सफल नहीं होता। ऐसी दशा में यह आवश्यक हो जाता है कि संकल्पों का जो प्रवाह उठ रहा है, उससे असहयोग कर लिया जाय। वह तभी सम्भव होगा जब साधक को यह विश्वास हो जाय कि भुक्त-अभुक्त इच्छाओं के प्रभाव से ही दवे हुए संकल्प मिटने के लिये उठ रहे हैं, यह नवीन संकल्पों की उत्पत्ति नहीं है। संकल्प पूर्ति अपूर्ति के सुख-दुःख का जो भोग है, उसी से भुक्त

अभुक्त इच्छाओं का प्रभाव चित्त में अंकित हुआ है। जब साधक चित्तशुद्धि की साधना में प्रवृत्त होता है, तब चित्त में स्वतः एक स्फूर्ति आती है, जिससे अंकित प्रभाव मिटने के लिए प्रकट होने लगता है। पर साधक इस रहस्य को बिना जाने बलपूर्वक संकल्पों के उस प्रवाह को रोकने लगता है। इतना ही नहीं, वह अशुद्ध संकल्पों से भयभीत होकर चित्त की निन्दा करने लगता है और शुद्ध संकल्पों का सुख भोगने लगता है। उसका परिणाम यह होता है कि जो दबी हुई अशुद्धि मिट रही थी, वह ज्यों की त्यों अंकित हो जाती है। ऐसी दशा में साधक को बड़ी ही सावधानीपूर्वक चित्तशुद्धि के लिए अथक प्रयत्न करना चाहिए। उससे निराश नहीं होना चाहिए, अपितु प्रयत्नशील बने रहने के लिए नित-नव उत्कंठा तथा उत्साह बढ़ना चाहिये।

प्राकृतिक नियम के अनुसार ऐसी कोई अशुद्धि है ही नहीं, जो स्वतः न मिट जाय, पर अशुद्धि-जनित जो सुख है उसका त्याग हम नहीं करते, इस कारण अशुद्धि की पुनरावृत्ति होती रहती है। यदि अशुद्धि की स्वतंत्र सत्ता न स्वीकार की जाय और अशुद्धि-जनित जो सुख है उसको न अपनाया जाय तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक अशुद्धि सदा के लिए मिट जाती है।

चित्त की अशुद्धि का ज्ञान ही तब होता है जब चित्तशुद्धि की साधना आरम्भ होती है। अतः चित्त की अशुद्धि को जान कर यह नहीं समझना चाहिए कि चित्त शुद्ध नहीं हो रहा है, क्योंकि चित्त की एकाग्रता की साधना करते समय ही चित्त की चंचलता का बोध होता है और चित्त को निर्मल करते समय ही उसकी मलिनता भासती है। चित्त की चंचलता तथा मलिनता का बोध चित्त की एकाग्रता तथा निर्मलता का साधन है, क्योंकि जिस ज्ञान से चित्त के विकारों का बोध होता है उसी ज्ञान में चित्त

को निर्विकार बनाने का सामर्थ्य विद्यमान है, क्योंकि वह ज्ञान जिसकी देन है वह सर्वसमर्थ है।

अपनी अपनी धारणा के अनुसार कोई उस ज्ञान को भौतिक विकास मानकर, कर्त्तव्यपरायण होकर, अशुद्धि का अन्त कर देता है। कर्त्तव्यपरायणता विद्यमान राग को मिटाकर विश्राम प्रदान करती है, जिससे चित्त स्वतः शान्त स्वस्थ तथा शुद्ध हो जाता है, क्योंकि विश्राम मिलने पर आवश्यक शक्ति का स्वतः विकास होता है, जो चित्त को शुद्ध करने में समर्थ है। कोई उस ज्ञान को निज विवेक का प्रकाश मानकर अविवेक-जनित अशुद्धि का अन्त करने में समर्थ होता है; कारण कि विवेक असंगता प्रदान करता है। असंगता प्राप्त होते ही चिर-शान्ति स्वतः आ जाती है। यह नियम है कि शान्ति सब प्रकार का सामर्थ्य प्रदान करने में समर्थ है। अतः विवेकी का चित्त बड़ी सुगमतापूर्वक शुद्ध हो जाता है। कोई उस ज्ञान को अनन्त की अहैतुकी कृपा-शक्ति मानता है और उसी का आश्रय लेकर निश्चिन्त हो जाता है। अतः उसे यह विश्वास हो जाता है कि अनन्त की कृपाशक्ति स्वतः चित्त को शुद्ध, शान्त तथा स्वस्थ बना रही है।

४-५-५६

: ३ :

मेरे निज स्वरूप परमप्रिय,

ज्यों ज्यों चित्त में शुद्धता आती जाती है त्यों-त्यों सामर्थ्य का विकास अपने आप होता जाता है, क्योंकि शुद्धि में शान्ति और शान्ति में सामर्थ्य स्वतःसिद्ध है। यदि सामर्थ्य का उपयोग केवल संकल्प-पूर्ति अर्थात् सुखभोग के ही लिए किया जाय तो पराधीनता आदि अनेक दोष उत्पन्न हो जायँगे जो चित्त की शुद्धि में बाधक होंगे। इसलिए सामर्थ्य का उपयोग संकल्प-पूर्त्ति-मात्र में ही नहीं करना चाहिए, क्योंकि संकल्प-पूर्त्ति से जितना सुख मिलता है उससे कहीं अधिक शांति संकल्प-निवृत्ति से प्राप्त होती है। सुख और शांति में एक बड़ा अन्तर है। सुख प्राणी को पराधीनता, जड़ता, मृत्यु एवं आसक्ति की ओर ले जाता है और शान्ति उसे स्वाधीनता, चिन्मयता, अमरत्व एवं प्रेम की ओर अग्रसर करती है। इस दृष्टि से सुख की अपेक्षा शान्ति कहीं अधिक महत्त्व की वस्तु है। वह तभी सुरक्षित रह सकती है जब संकल्पों की पूर्ति के सुख को अधिक महत्त्व न दिया जाय। जब संकल्प-पूर्ति के सुख की दासता नहीं रहती, तब संकल्प-उत्पत्ति तथा अपूर्ति का दुःख स्वयं निर्जीव हो जाता है। इस प्रकार सुख-दुःख का प्रभाव मिटते ही जिज्ञासा तथा लालसा स्वतः जागृत होती है। यदि साधक शांति में रमण करने लगे, तो जिज्ञासा तथा लालसा दब जायँगी। जिज्ञासा तथा लालसा में शिथिलता आते

ही किसी न किसी प्रकार का संकल्प उत्पन्न हो जायगा, जिससे शांति भंग हो जायगी। अतः उसे संकल्पों की अपूर्ति के दुःख से भयभीत नहीं होना चाहिए, उनकी पूर्ति के सुख में आवद्ध नहीं होना चाहिए और उनकी निवृत्ति की शांति में रमण नहीं करना चाहिए।

चित्त में अशुद्धि सामर्थ्य के दुरुपयोग से आती है और शुद्धि स्वाभाविक है। सामर्थ्य के दुरुपयोग का आरम्भ कब हुआ, यह नहीं कहा जा सकता, पर यदि सामर्थ्य का दुरुपयोग न किया जाय, तो चित्त शुद्ध हो जाता है। अतः सामर्थ्य का दुरुपयोग ही चित्त की अशुद्धि में हेतु है। सामर्थ्य का दुरुपयोग न करने पर सदुपयोग स्वतः होने लगता है। अब यदि कोई यह कहे कि हम तो असमर्थ हैं, तो प्राकृतिक नियम के अनुसार सर्वांश में असमर्थता किसी भी व्यक्ति में नहीं होती; और यदि उसे असमर्थ स्वीकार कर भी लिया जाय तो भी यह तो मानना ही होगा कि असमर्थता से किसी प्रकार का अहित नहीं हो सकता, अर्थात् असमर्थता से अकर्त्तव्य का जन्म ही नहीं हो सकता। असमर्थ प्राणी तो स्वतः ही उस पर निर्भर हो जाता है, जो सर्वसमर्थ है। इस दृष्टि से असमर्थता से चित्त अशुद्ध नहीं होता अपितु सामर्थ्य के दुरुपयोग से ही चित्त अशुद्ध होता है। कर्त्तव्य-पालन में असमर्थता की बात मन में तभी आती है जब हम प्राप्त सामर्थ्य का व्यय सुखभोग में करने लगते हैं। असमर्थता के कारण हमारा चित्त अशुद्ध हो गया यह बात किसी प्रकार युक्तियुक्त नहीं है। असमर्थता-काल में जो निर्भरता प्राप्त होती है, वही सामर्थ्य के सदुपयोग से भी प्राप्त होती है, क्योंकि सामर्थ्य के सदुपयोग से सामर्थ्य का अभिमान गल जाता है। इस दृष्टि से चित्तशुद्धि में असमर्थता और सामर्थ्य के सदुपयोग का समान स्थान है।

अब विचार यह करना है कि सामर्थ्य के सदुपयोग और दुरुपयोग का अर्थ क्या है ? स्वाधीनता, चिन्मयता एवं अमरत्व से विमुख होकर वस्तु, अवस्था, परिस्थितियों के द्वारा सुखभोग में सामर्थ्य का व्यय करना ही उसका दुरुपयोग है। ऐसा करने से प्राणी जड़ता, पराधीनता एवं मृत्यु आदि दोषों में आवद्ध हो जाता है, जो किसी को भी अभीष्ट नहीं है। इतना ही नहीं, सुखभोग से प्रमाद, हिंसा आदि विकार स्वतः उत्पन्न हो जाते हैं, जिससे अपना अकल्याण और समाज का अहित होने लगता है और यदि प्राप्त सामर्थ्य से किसी का अहित न हो, हमारी प्रसन्नता किसी और पर निर्भर न हो, अर्थात् जिससे नित्य सम्बन्ध तथा आत्मीयता नहीं है, उस पर निर्भर न हो तो यह सामर्थ्य का सदुपयोग है। इतना ही नहीं, प्राकृतिक नियम के अनुसार प्राप्त सामर्थ्य किसी असमर्थ की धरोहर है। वह उसी के काम आनी चाहिए अर्थात् सर्व-हितकारी प्रवृत्ति में ही सामर्थ्य का सद्व्यय है। सामर्थ्य का सदुपयोग होते ही हिंसा जैसा भयंकर दोष स्वतः मिट जाता है; जिसके मिटते ही स्नेह की एकता अपने आप आ जाती है। स्नेह की एकता से भेद गल जाता है। उसके गलते ही सब प्रकार के भय और संघर्ष मिट जाते हैं, जिसके मिटते ही चिरशान्ति की स्थापना स्वतः हो जाती है, जिसमें अपना कल्याण तथा सभी का हित निहित है।

अब विचार यह करना है कि सामर्थ्य के दुरुपयोग में हमारी प्रवृत्ति ही क्यों होती है ? संकल्प-अपूर्ति का जो दुख है उसे हम हर्षपूर्वक सहन नहीं कर पाते और यह भूल जाते हैं कि संकल्प-अपूर्ति में भी हित है। संकल्प-पूर्ति को ही सब कुछ मान बैठते हैं इसी कारण सामर्थ्य के दुरुपयोग में प्रवृत्ति होती है। यद्यपि संकल्प-पूर्ति में वस्तु, व्यक्ति आदि का ही महत्त्व बढ़ता है जिससे

चित्त में लोभ, मोह आदि विकार उत्पन्न हो जाते हैं, फिर भी संकल्प-पूर्ति को ही महत्त्व देकर प्राणी चित्त को अशुद्ध करता रहता है।

अब यदि कोई यह कहे कि संकल्प-पूर्ति भी तो जीवन का एक आवश्यक अङ्ग है क्योंकि कुछ संकल्प ऐसे भी तो उठते हैं कि जिनका पूरा होना अनिवार्य है। जिन संकल्पों का पूरा होना अनिवार्य है, वे तो प्राकृतिक नियम के अनुसार स्वतः पूरे हो जाते हैं। जो संकल्प स्वतः पूरे होते हैं, यदि उनकी पूर्ति के सुख में हम अपने को आबद्ध न करें तो सङ्कल्पों की पूर्ति भी सङ्कल्प-निवृत्ति का साधन बन जाती है। अतः संकल्प भले ही पूरे हों, पर उनकी पूर्ति का महत्त्व चित्त में अङ्कित न हो तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक अनावश्यक संकल्प मिट जाते हैं, जिनके मिटते ही संकल्प-पूर्ति-अपूर्ति में कोई भेद ही नहीं रहता और साधक उस जीवन का अधिकारी हो जाता है जो संकल्प-उत्पत्ति तथा पूर्ति से पूर्व है, जिसमें किसी प्रकार का अभाव नहीं है। इस दृष्टि से संकल्प-पूर्ति का जीवन में स्थान भले ही हो पर उसका कोई विशेष महत्त्व नहीं है। इस रहस्य को जान लेने पर साधक बड़ी ही सुगमतापूर्वक संकल्प-पूर्ति के प्रभाव से मुक्त हो जाता है।

संकल्प-पूर्ति के प्रभाव से मुक्त होते ही सभी परिस्थितियों से अपना महत्त्व बढ़ जाता है; अर्थात् वस्तु आदि की दासता मिट जाती है, जिसके मिटते ही निर्लोभता निर्मोहता आदि दिव्य गुण स्वतः आने लगते हैं और जिससे बड़ी ही सुगमतापूर्वक चित्त शुद्ध हो जाता है। परन्तु यदि साधक उन गुणों का उपभोग करने लगे तो परिच्छिन्नता में आबद्ध होकर चित्त को अशुद्ध कर लेता है, अर्थात् उसका अहम्-भाव पुष्ट हो जाता है। यद्यपि अहम्-भाव का महत्त्व परिस्थितियों की दासता से मुक्त करने में समर्थ है,

परन्तु यदि उसी को जीवन मान लिया जाय तो अनेक प्रकार के भेद उत्पन्न होते हैं जिनके होते ही चित्त में राग-द्वेष आदि विकार उत्पन्न हो जाते हैं। इस दृष्टि से अहम् का महत्त्व चित्त को अशुद्ध ही करता है। जैसे कोई सारी नदी को पार कर किनारे पर आकर डूब जाय वही दशा उस साधक की होती है जो परिस्थितियों की दासता से मुक्त हो अहम्-भाव की पूजा में लग जाता है। उसका परिणाम यह होता है कि साधन-प्रणालियों में, विचार-धारा में जो महानता होती है, जिससे साधक को सिद्धि मिलती है, जो आदरणीय है, उसमें जब अहम्-भाव की छाप लग जाती है, तब अहम्-भाव के दोष उन पद्धतियों में आ जाते हैं और पद्धतियों की महानता के आधार पर साधकों में मिथ्या अभिमान आ जाता है; जिसके आते ही स्नेह की एकता मिट जाती है, उसके मिटते ही संघर्ष उत्पन्न हो जाते हैं और साधक-गण अपनी-अपनी पद्धतियों के नाम लेकर उनकी महिमा गाते रहते हैं। पर पद्धति और जीवन में इतनी भिन्नता हो जाती है कि जिस पद्धति की वे महिमा गाते हैं उसका घोर विरोध उन्हीं के जीवन द्वारा स्वतः होने लगता है, अर्थात् जो कहते हैं, जो मानते हैं, और जिसका प्रचार करते हैं उसका प्रभाव उनके जीवन में लेश-मात्र भी नहीं रहता। उसका परिणाम यह होता है कि मस्तिष्क तथा हृदय में संतुलन नहीं रहता जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है। अहम् का पुजारी साधक पद्धति और जीवन में भेद होने पर भी पद्धति के नाम पर अपने प्राण तक दे देता है पर दूसरों के द्वारा अपनी पद्धति का विरोध नहीं सहन कर सकता, अर्थात् अपनी पद्धति के प्रति उसकी इतनी आसक्ति हो जाती है कि वह दूसरी पद्धतियों का अनादर करता है और अपनी पद्धति का अनुसरण स्वयं नहीं कर पाता पर दूसरे से अपनी पद्धति मनवाने के लिए जो

नहीं करना चाहिए वह भी करता है। यह पद्धतियों की आसक्ति का परिणाम है, जिसका जन्म चित्त की अशुद्धि से हुआ है।

यद्यपि प्रत्येक पद्धति किसी न किसी साधक के लिए हितकर अवश्य है परन्तु ऐसी कोई पद्धति हो ही नहीं सकती जो सर्वांश में सभी के लिए हितकर सिद्ध हो क्योंकि पद्धति की उत्पत्ति व्यक्ति की योग्यता, रुचि एवं परिस्थिति आदि से होती है। सर्वांश में समान योग्यता, रुचि तथा परिस्थिति दो व्यक्तियों की भी नहीं होती तो फिर किसी पद्धति को इतना महत्त्व देना कि उसे सभी मान लें, यह उस पद्धति के समर्थक के अहम्-भाव का विकार है। इस कारण जब तक अहम्-भावरूपी अणु न तोड़ दिया जाय तब तक न तो चित्त ही शुद्ध हो सकता है और न दिव्य चिन्मय जीवन से ही अभिन्नता हो सकती है। अतः चित्त-शुद्धि के लिए जहाँ संकल्प-पूर्त्ति के महत्त्व का विरोध है, वहाँ अहम्-भाव के महत्त्व का भी घोर विरोध है। अहम् को महत्त्व देना अनन्त से विमुख होना है और चित्त को अशुद्ध करना है। चित्त के अशुद्ध रहते हुए किसी को भी न तो चिरशान्ति तथा सामर्थ्य मिल सकता है और न अमरत्व तथा अगाध अनन्त रस की उपलब्धि हो सकती है। इस दृष्टि से चित्तशुद्धि अत्यन्त आवश्यक है। पर वह तभी सम्भव होगा जब अहम् अनन्तको समर्पित कर दिया जाय। उसके लिए साधक को संकल्प की पूर्ति, अपूर्ति एवं निवृत्ति से अतीत के जीवन पर अविचल विश्वास करना अनिवार्य है।

५-५-५६

: ४ :

मेरे निज स्वरूप परमप्रिय,

गुणों के अभिमान तथा सीमित प्रीति से चित्त अशुद्ध होता है। गुणों का अभिमान शरीर और विश्व में, व्यक्ति और समाज में, दो वर्गों में, दो देशों में, दो सम्बन्धियों में, दो दलों में परस्पर किसी न किसी प्रकार का भेद अवश्य उत्पन्न करता है। इतना ही नहीं, जिज्ञासा की अपूर्ति और कामना की उत्पत्ति में भी गुणों के अभिमानसे उत्पन्न भेद ही हेतु है। प्रेमी और प्रेमास्पद के बीच में यदि कोई दूरी उत्पन्न करता है तो वह गुणों का अभिमान ही है। इस दृष्टि से गुणों के अभिमान का साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है; अर्थात् वह सर्वथा त्याज्य है।

यह नियम है कि गुणों के अभिमान तथा सीमित प्रीति से चित्त में किसी-न-किसी प्रकार की अशुद्धि अवश्य आ जाती है, क्योंकि गुणों के अभिमान से व्यक्तित्व का महत्त्व बढ़ता है और सीमित प्रीति से द्वेष की उत्पत्ति होती है जिससे वैर-भाव उत्पन्न हो जाता है जो समस्त संघर्षों का मूल है। यद्यपि व्यक्ति समाज के अधिकारों का समूह है और कुछ नहीं परन्तु व्यक्तित्व की दासता साधक को अधिकार-लालसा में आवद्ध कर देती है, जिससे वह बेचारा दीन हो जाता है, वह अपनी प्रसन्नता दूसरों के कर्त्तव्य तथा उदारता पर ही निर्भर कर लेता है। यदि उसके अधिकार की पूर्ति हो गई तो राग में आवद्ध हो जाता है और यदि

अधिकार की पूर्ति नहीं हुई तो क्रोध की अग्नि में जलने लगता है। राग और क्रोध दोनों ही चित्त को अशुद्ध कर देते हैं।

राग भोग-वासनाओं में आबद्ध कर देता है और क्रोध से कर्त्तव्य की, स्वरूप की और प्रेमास्पद की विस्मृति हो जाती है। कर्त्तव्य की विस्मृति से व्यक्ति का अकल्याण होता है और समाज में असुन्दरता आ जाती है; क्योंकि कर्त्तव्य-परायणता से ही व्यक्ति सत्पथ की ओर अग्रसर हो सकता है और सुन्दर समाज का निर्माण होता है। इस दृष्टि से कर्त्तव्य की विस्मृति से व्यक्ति और समाज दोनों ही की क्षति होती है। कारण कि कर्त्तव्य-परायणता से विद्यमान राग की निवृत्ति हो जाती है जिससे साधक सत्य की खोज करने में समर्थ होता है और कर्त्तव्य-परायणता किसी के अधिकार का अपहरण नहीं होने देती। जब किसी के अधिकारों का अपहरण नहीं होता तब स्वतः सुन्दर समाज का निर्माण हो जाता है। स्वरूप की विस्मृति देह आदि वस्तुओं से तद्रूप कर देती है जिससे वेचारा साधक अमरत्व से विमुख हो मोह में आवद्ध हो जाता है और मृत्यु की ओर अग्रसर होता है। प्रेमास्पद की विस्मृति अनेक आसक्तियों को उत्पन्न कर देती है जिससे वेचारा साधक अगाध अनन्त रस से विमुख हो जाता है। इस दृष्टि से क्रोध का त्याग अनिवार्य है। पर वह तभी हो सकता है जब व्यक्ति अधिकार - लालसा से मुक्त हो दूसरों के अधिकारों की रक्षा में तत्पर बना रहे।

भोग-वासनाओं में आवद्ध प्राणी नित्य योग से विमुख हो जाता है। उसका परिणाम बड़ा ही भयंकर होता है। कारण कि भोग वासनाएं भोगी को भोग में प्रवृत्त कर उसे शक्तिहीन, पराधीन बना देती हैं और जड़ता में आवद्ध कर देती हैं। इस दृष्टि से भोग-वासनाओं को त्याग नित्य योग प्राप्त करना अनिवार्य है।

यह नियम है कि नित्य-योग से चिरशान्ति तथा सामर्थ्य एवं स्वाधीनता स्वतः प्राप्त होती है। पर यह तभी सम्भव होगा जब साधक अधिकार-लालसा से मुक्त हो राग तथा क्रोध रहित हो जावे। राग तथा क्रोध का अन्त करने के लिए प्राणी को व्यक्तित्व की दासता से मुक्त होना अनिवार्य है।

व्यक्तित्व की दासता का अन्त करने के लिए गुणों के अभिमान को गलाना ही पड़ेगा। वह तभी सम्भव होगा जब साधक पर-दोष-दर्शन से विमुख हो निज-दोष जानने का प्रयत्न करे। यह नियम है कि पर-दोष-दर्शन न करने से निज दोष का दर्शन स्वतः हो जाता है। उसके होते ही गुणों का अभिमान गलने लगता है। गुणों का अभिमान गलते ही सभी दोष स्वतः मिट जाते हैं क्योंकि अपनी दृष्टि में भी कोई प्राणी अपने को निन्दनीय नहीं रखना चाहता। यह नियम है कि अपनी दृष्टि में निन्दनीय नहीं रहने पर ही वास्तविक प्रसन्नता का प्रादुर्भाव होता है और फिर किसी प्रकार के दोष की उत्पत्ति नहीं होती।

गुणों का अभिमान दोषों की भूमि में ही उपजता है, निर्दोषता में नहीं और दोषों की भूमि पर-दोष-दर्शन से सुरक्षित रहती है। पर-दोष-दर्शन करनेवाली दृष्टि सीमित गुणों को महत्त्व देने से ही उत्पन्न होती है। साधक जब दोष-जनित आसक्ति को बलपूर्वक दबाने की चेष्टा करता है तब अपने अहम्-भाव में किसी प्रलोभन से प्रेरित होकर सीमित गुणों का आरोप कर लेता है। उससे दोष-जनित आसक्ति तो मिट नहीं पाती प्रत्युत गुणों का आश्रय लेकर साधक उनके अभिमान में आबद्ध हो जाता है और फिर उसके हृदय और मस्तिष्क में सामञ्जस्य नहीं रहता। इसका परिणाम यह होता है कि वह जिसमें चित्त को लगाना चाहता है उसमें लगा नहीं पाता और जिससे हटाना चाहता है

उससे हटा नहीं पाता, अथवा यों कहो कि जो करना चाहिए वह कर नहीं पाता और जो नहीं करना चाहिए उसकी रुचि नष्ट नहीं होती। इस भयंकर अवस्था में बेचारा साधक जो करना चाहिए उसके करने का अभिनय-सा करता रहता है और जो नहीं करना चाहिए उसकी वासना को बलपूर्वक दबाता रहता है, पर मिटा नहीं पाता।

चित्त में इस प्रकार की वासना-जनित दबी हुई अशुद्धि कभी न कभी प्रकट हो जाती है जिससे भयभीत होकर साधक समझने लगता है कि मैं उन्नति के पथ से च्युत हो गया। पर बात ऐसी नहीं है। गुणों का अभिमान रखते हुए कोई भी उन्नति के पथ पर अग्रसर नहीं हो सकता। दबे हुए दोष का प्रकट होना दोष नहीं अपितु निर्दोषता का साधन है। वास्तविक दोष तो अभिमान-युक्त गुण ही हैं जिन्हें हम प्रमादवश महत्त्व देते रहते हैं। साधक को अपने में गुणों का भास तभी होता है जब उसकी दृष्टि दूसरों की निर्बलता पर जाती है। वास्तविक गुणों का प्रादुर्भाव होने पर उनका भास नहीं होता। अतः जब तक गुणों का भास हो तब तक समझना चाहिए कि गुणों के स्वरूप में कोई दोष है।

यह निर्विवाद सत्य है कि गुणों के अभिमान के आधार पर ही सीमित अहम्-भाव जीवित है और उससे ही कोई भला और कोई बुरा, कोई छोटा और कोई बड़ा, कोई ऊँचा और कोई नीचा भासता है। अहम्भाव के रहते हुए कामनाओं का नाश नहीं हो सकता, उनके नष्ट हुए बिना निस्सन्देहता नहीं आ सकती और निस्सन्देहता के बिना निर्भयता, समता, मुदिता आदि का प्रादुर्भाव नहीं होता। इस दृष्टि से सीमित अहम्-भाव का अन्त करने के लिए गुणों के अभिमान का त्याग परम अनिवार्य है।

अहम्-भाव की पूजा से गुणों का अभिमान सुरक्षित रहता है। अब विचार यह करना है कि अहम्-भाव की पूजा क्या है? अपने सुख में ही सुखी होना अर्थात् अपने ही सम्मान में, अपनी ही ख्याति में, अपने ही प्यार में रमण करते रहना और उसी के लिए ऊपर-ऊपर से गुणों का लेप चढ़ाना जिससे व्यक्तित्व की पूजा में क्षति न हो, परन्तु अपनी ही दृष्टि में अपने को पूजा के योग्य न पाना; फिर भी दूसरों से पूजा की आशा करना—इसी प्रमाद से अहम्-भाव पोषित होता है।

साधक अपनी दृष्टि में जैसा है यदि वैसा ही दूसरों की दृष्टि में रहना चाहता है, तो बड़ी सुगमतापूर्वक गुणों के अभिमान से मुक्त हो सकता है और सच्चे सम्मान के योग्य बन सकता है, परन्तु ऐसा होने में वह अपने को इस कारण असमर्थ पाता है कि अपने जाने हुए दोषों के त्याग में असावधानी करता है। यह नियम है कि जो अपनी दृष्टि में दोषी है वही दूसरों से निर्दोष कहलाने की आशा करता है। अर्थात् दोष-जनित वेदना को दबाने के लिये दूसरों की दृष्टि में निर्दोष बने रहने का प्रयास करता है और उसी के लिए ऊपर से गुणों का बलपूर्वक भेष बनाता है। बना हुआ भेष कभी-न-कभी बिगड़ ही जाता है। यदि साधक अपनी ही दृष्टि में आदर के योग्य बने रहने के लिए प्रयत्नशील रहे तो अहम्-भाव की दासता तथा गुणों के अभिमान से रहित हो सकता है। यह तभी सम्भव होगा जब अपने जाने हुए दोषों का त्याग करने में वह सर्वदा तत्पर रहे। यह नियम है कि दोषों का त्याग करते ही गुणों का अभिमान स्वतः गल जाता है जिसके गलते ही चित्त शुद्ध हो जाता है।

अब विचार करना है कि गुण क्या है और दोष क्या है। दूसरों की ओर से अपने प्रति होने वाले दोष का ज्ञान स्वतः हो जाता है

और दूसरों से हम वही आशा करते हैं जो गुण है। कोई भी अपना अनादर, हानि, क्षति नहीं चाहता। सभी आदर और प्यार तथा रक्षा चाहते हैं। जिन प्रवृत्तियों से किसी की क्षति हो, किसी का अनादर हो, किसी का अहित हो, वे सभी दोष हैं, और जिन प्रवृत्तियों से दूसरों का हित, लाभ एवं प्रसन्नता हो वे सभी गुण हैं। गुणों का उपयोग दूसरों के प्रति होता है और उससे अपना विकास स्वतः हो जाता है। जिन प्रवृत्तियों से दूसरों काअहित होता है उन प्रवृत्तियों से अपना भी अकल्याण ही होता है। यह रहस्य जान लेने पर दूसरों के अहित की कामना सदा के लिए मिट जाती है और सर्व-हितकारी भावना स्वतः जागृत होती है। सर्व-हितकारी भावना की भूमिमें ही गुण विकास पाते हैं। जो किसी का बुरा नहीं चाहता उसके सभी दोष स्वतः मिट जाते हैं। एक ही दोष स्थानभेद से भिन्न-भिन्न प्रकार का भासता है। सर्वांश में किसी भी दोष के मिट जाने पर सभी दोष मिट जाते हैं और सर्वांश में किसी भी गुण के अपना लेने पर सभी गुण स्वतः आ जाते हैं। इस दृष्टि से दोषों की निवृत्ति और सद्‌गुणों की अभिव्यक्ति युगपद् है। सर्वांश में सद्‌गुणों की अभिव्यक्ति होने पर निरभिमानता आ जाती है क्योंकि दोषों की उत्पत्ति नहीं होती और गुणों से अभिन्नता हो जाती है। यह नियम है कि जिससे अभिन्नता हो जाती है उसका भास नहीं होता, अर्थात् उसमें अहम्‌बुद्धि नहीं होती, अपितु वह जीवन हो जाता है। सर्वांश में सद्‌गुणों की अभिव्यक्ति जीवन में तभी सम्भव है जब दबी हुई अशान्ति प्रकट होकर मिट जाय और वास्तविक चिरशान्ति की स्थापना हो जाय। शान्ति का भेष बनाकर बैठ जाना और भीतर विप्लव उठते रहना, उसे प्रकट न करना; चित्त को अशुद्ध रखना है। अब विचार यह करना है कि

ऐसा शान्ति का भेष प्राणी क्यों बनाता है। दूसरों की दृष्टि में मिथ्या आदर पाने के प्रलोभन से ऊपर से शान्त और भीतर से क्षुभित बना रहता है। दबा हुआ क्षोभ अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न करता है और प्राणी को शक्तिहीन बना देता है जिससे अनेक प्रकार के भय उत्पन्न हो जाते हैं। क्षोभरहित होने के लिए अपने भीतर का चित्र बड़ी ही सावधानी से प्रकाशित कर दे तो क्षोभ मिटने लगता है और जो करना चाहिए उसका बोध हो जाता है, जिससे मानसिक शान्ति सुरक्षित हो जाती है। मानसिक शान्ति सुरक्षित रहने से असमर्थता मिट जाती है। सामर्थ्य का सदुपयोग करते ही क्षोभ सदा के लिए मिट जाता है, जिसके मिटते ही चित्त शुद्ध हो जाता है।

किसी को क्षुभित न करने में ही क्षोभरहित होना नहीं है अपितु किसी से क्षुभित न होना और किसी को क्षुभित न करना आ जाय तभी समझना चाहिए कि क्षोभ से छुटकारा मिल गया। कोई हमें बुरा समझेगा इस भय से हमें शान्त ही रहना है, अपने क्षोभ को प्रकट नहीं करना है, इस शान्ति का कोई महत्व नहीं है। भयरहित शान्ति ही वास्तविक शान्ति है। वह तभी सम्भव है जब अनुकूलता तथा प्रतिकूलताओं के आक्रमण का प्रभाव ही न हो। बुरा कहलाने का भय और सज्जन कहलाने का प्रलोभन जब तक रहेगा तब तक चित्त शुद्ध नहीं हो सकता। यदि बुराई हो तो उसका त्याग करना है। हमें कोई बुरा न समझे इससे हम भले हो नहीं जाते; भले तो बुराई के त्याग से ही हो सकते हैं। किसी में सुन्दरता और किसी में असुन्दरता का प्रतीत होना; किसी के प्रति आकर्षण और किसी से विकर्षण उत्पन्न होना चित्त की अशुद्धि का ही परिणाम है। कारण कि अपना दोष ही किसी में महत्त्व का दर्शन कराता है और अपने अभिमान से ही किसी

में दोष भासता है। निर्दोषता तथा निरभिमानता आ जाने पर न किसी के प्रति आकर्षण होता है और न किसी से विकर्षण। अतः जाने हुए दोष को त्याग, गुणों के अभिमान से रहित, अहम्-भाव की दासता से मुक्त होकर चित्त शुद्ध कर लेना चाहिए। चित्त के शुद्ध होने पर इन्द्रिय-ज्ञान से अनेक भेद भासने पर भी वास्तविक अभेदता प्राप्त होती है, जिसके होते ही समता आ जाती है जो वास्तविक जीवन से अभिन्न करने में समर्थ है।

६-५-५६

: ५ :

मेरे निज स्वरूप परमप्रिय,

गुण-दोषयुक्त जीवन ही वर्तमान वस्तुस्थिति है। इसके आधार पर ही प्राणी का व्यक्तित्व जीवित है। केवल दोषों के आधार पर किसी का भी व्यक्तित्व अर्थात् अहम् भाव जीवित नहीं रह सकता। ऐसा कोई व्यक्ति हो ही नहीं सकता जो सर्वांश में दोषी हो। बुरा से बुरा व्यक्ति भी किसी-न-किसी अंश में किसी-न-किसी के लिए भला सिद्ध होता है। व्यक्तियों में केवल अन्तर इतना ही होता है कि कहीं गुणों की अधिकता और दोषों की न्यूनता और कहीं दोषों की अधिकता और गुणों की न्यूनता। इसी आधार पर हम किसी को भला और किसी को बुरा मान बैठते हैं। गुण-दोष समान अवस्था में किसी व्यक्ति में नहीं होते, क्योंकि दो विरोधी शक्तियाँ सम होने पर गतिशून्य हो जाती हैं। गति तभी तक रहती है जब तक वैषम्य हो।

जिस प्रकार प्रत्येक काष्ठ में किसी-न-किसी अंश में अग्नि विद्यमान रहती है, तभी काष्ठ का अस्तित्व उपयोगी सिद्ध होता है। यदि किसी कारण अग्नि की मात्रा अधिक हो जाय तो काष्ठ काष्ठ के रूप में उपयोगी नहीं रहता और यदि काष्ठ किसी अंश में न रहे तो प्रज्ज्वलित अग्नि भी शांत हो जाती है। उसी प्रकार गुण-दोष के वैषम्य के आधारपर ही सीमित अहम्-भाव की सिद्धि

होती है और उसमें कर्तृत्व और भोगत्व जीवित रहता है। उसी कर्तृत्व और भोगत्व के अभिमान से चित्त अशुद्ध होता है।

चित्तशुद्धि के लिए गुण-दोष-युक्त अहम्-भाव का अन्त करना अनिवार्य है। यह नियम है कि दोषों का अन्त होने पर गुणों का अभिमान स्वयं गल जाता है और सर्वांश में गुणों का प्रादुर्भाव होने पर दोष स्वतः मिट जाते हैं और फिर सीमित अहम्-भाव जीवित नहीं रहता। प्राकृतिक नियम के अनुसार कोई भी व्यक्ति सर्वांश में दोषी नहीं हो सकता। जिस प्रकार अंधकार प्रकाश से ही प्रकाशित है, उसके बिना नहीं, उसी प्रकार दोष का अस्तित्व भी किसी गुण के आधार से ही प्रकाशित होता है, बिना गुण के नहीं। तात्पर्य यह है कि सर्वांश में न तो कोई दोषी हो ही सकता है और न कोई दोषी रहना ही चाहता है; कारण कि दोष अपनी दृष्टि में भी अपने को प्रिय नहीं होता और दूसरों को भी प्रिय नहीं होता। जिसके प्रति किसी भी अंश में प्रियता नहीं रहती उसका अस्तित्व ही नहीं रह सकता; अथवा यों कहो कि उससे सम्बन्ध ही नहीं रह सकता। प्रियता में ही सम्बन्ध सुरक्षित रखने का सामर्थ्य है। दोष दोषी को अपनी दृष्टि में भी चैन से नहीं रहने देता और दूसरे तो दोष से उपेक्षा करते ही हैं, पर दोषी अपने किसी गुण को देख दोष से उत्पन्न हुई वेदना को शिथिल कर लेता है अथवा पराए दोष को देख मिथ्या सन्तोष कर बैठता है जिससे दोष दोषी से निकल नहीं पाता। इस दृष्टि से अपना गुण और दूसरों का दोष देखना बड़ा ही भयंकर दोष है; अथवा यों कहो कि यही दोष सभी दोषों की भूमि है। इस दोष का अंत होते ही सभी दोष स्वतः मिट जाते हैं और फिर चित्त शुद्ध हो जाता है।

अब यदि कोई कहे कि अपना गुण नहीं देखना चाहिए, तो क्या दोषों को ही देखते रहें? तात्पर्य यह है कि अपने दोषों का

चिंतन करते रहना ही और अपने को दोषी मानते रहना ही चित्त-शुद्धि का उपाय नहीं है, परन्तु जब अपने में दोष का दर्शन हो तब उस व्यथा को दबाने के लिए अपना गुण अथवा पराया दोष नहीं देखना चाहिए। ऐसा करने से दोष-जनित वेदना तीव्र हो जाएगी और दोष-जनित सुख का राग मिट जाएगा। सुख का राग मिटते ही दोष की उत्पत्ति ही न होगी, अर्थात् स्वतः निर्दोषता आ जायगी जो गुणों के अभिमान को खाकर चित्त को शुद्ध कर देगी। दोष की वेदना का तीव्र न होना ही चित्त को अशुद्ध रखने में हेतु है। यद्यपि वेदना स्वयं उत्पन्न होती है, पर प्राणी प्रमादवश उसे दबा देता है। उसका परिणाम यह होता है कि चित्त शुद्ध नहीं हो पाता।

चित्त की अशुद्धि के कारण ही साधक प्रिय-वियोग, सन्देह तथा विश्राम न पाने की वेदना सहन करता रहता है; अथवा यों कहो कि वेदना असह्य न होने से, न तो विश्राम ही मिलता है और न निस्सन्देहता एवं प्रेम की ही प्राप्ति होती है। असह्य वेदना उस समय तक नहीं होती जब तक दुःख के साथ-साथ किसी प्रकार का सुख है। सुख-रहित दुःख वेदना को तीव्र करता है और असह्य वेदना अशुद्धि को खा जाती है। अशुद्धि का अन्त होते ही साधक को विश्राम, निस्सन्देहता तथा प्रेम की प्राप्ति हो जाती है।

जब-जब स्वभाव से ही विश्राम, निस्सन्देहता एवं प्रेमप्राप्ति की लालसा उदय होती है तब-तब साधक चित्त की अशुद्धिजनित सुखासक्ति से उस लालसा को शिथिल कर देता है। उसका परिणाम यह होता है कि जो विश्राम, निस्सन्देहता और प्रेम वर्तमान जीवन की वस्तु थी उसे भविष्य पर छोड़ देता है और अनेक मन-गढ़न्त बहाने करता रहता है कि प्रतिकूल परिस्थिति के कारण मुझे विश्राम नहीं मिलता। यद्यपि प्रत्येक प्रवृत्ति के अंत

में स्वभाव से ही विश्राम आता है पर साधक उसकी ओर ध्यान न देकर विश्राम काल में भी अनुकूल परिस्थितियों का व्यर्थ चिन्तन करता रहता है और विश्राम न मिलने में प्राप्त परिस्थिति की निन्दा करता है।

सभी परिस्थितियाँ स्वभाव से ही परिवर्तनशील हैं और विश्राम अपने ही में मौजूद है। जो अपने में है उससे विमुख होना और जिन परिस्थितियों में सतत परिवर्तन है उनको महत्त्व देना और उनके पीछे दौड़ना ही साधक को विश्राम से वञ्चित रखता है। यदि साधक सावधानी से वर्तमान कार्य को पवित्र भाव से, सुन्दरतापूर्वक, परिस्थिति के अनुसार कर डाले और अप्राप्त परिस्थिति का चिन्तन न करे तो बड़ा ही सुगमतापूर्वक प्राप्त विश्राम से अभिन्न हो सकता है। इस दृष्टि से विश्राम के लिए किसी अप्राप्त परिस्थिति की अपेक्षा नहीं है। जिसके लिए अप्राप्त परिस्थिति अपेक्षित नहीं है उसका सम्बन्ध वर्तमान जीवन से है। जिसका सम्बन्ध वर्तमान से है उसे वर्तमान में प्राप्त न करना और उसके लिए भविष्य की आशा रखना अपना ही प्रमाद है और कुछ नहीं। प्रमाद के रहते हुए चित्त शुद्ध हो नहीं सकता। इस दृष्टि से प्रमाद का साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है।

सन्देह प्राणी को स्वभाव से ही अप्रिय है और निस्सन्देहता स्वभाव से ही प्रिय है, कारण कि निस्सन्देहता जीवन से अभिन्न हो जाती है और सन्देह सदैव भेद उत्पन्न करता है। इस दृष्टि से निस्सन्देहता प्राप्त करना परम अनिवार्य है। पर वह तभी सम्भव है जब साधक में सन्देह की वेदना जागृत हो जाय; अर्थात् निस्सन्देहता के बिना किसी भी प्रकार चैन से न रह सके। जैसे यदि किसी को तीव्र प्यास लगी हो और मधुर-शीतल जल उसके हाथ में हो, उस समय उससे कोई पूछे कि तुम पहले

जल पीना चाहते हो अथवा निस्सन्देह होना चाहते हो ? और वह यह कहे कि मैं जल पीने से पूर्व निस्सन्देह होना चाहता हूँ; तो ऐसी वस्तुस्थिति में निस्सन्देहता अवश्य प्राप्त होती है; कारण कि निस्सन्देहता की जिज्ञासा जिस काल में सभी कामनाओं को खाकर सबल तथा स्थायी हो जाती है, उसी काल में निस्सन्देहता स्वतः आ जाती है। यह नियम है कि कामनाओं की निवृत्ति में जिज्ञासा की पूर्ति निहित है। जिज्ञासा-पूर्त्ति के लिए किसी वस्तु आदि की अपेक्षा नहीं है। केवल जिज्ञासा की पूर्ण जागृति होनी चाहिए जो सन्देह की वेदना से उदित होती है। इस दृष्टि से सन्देह का सहन करना ही निस्सन्देहता से विमुख होना है।

अब यह विचार करना है कि सन्देह रहते हुए साधक उसे सहन क्यों करता रहता है; जब कि निस्सन्देहता उसकी वास्तविक आवश्यकता है ? इन्द्रिय-ज्ञान को ही, जो वास्तव में परिवर्तन-शील है, नित्य ज्ञान मान लेने पर सन्देह की वेदना उदित नहीं होती। इसी कारण साधक सन्देह सहन कर लेता है। परन्तु जब वह बुद्धि-ज्ञान से इन्द्रिय-ज्ञान पर विजयी होता है तब सन्देह की वेदना तीव्र हो जाती है। यह नियम है कि समस्त कामनाएँ इन्द्रिय-ज्ञान से ही जीवन पाती हैं। ज्यों-ज्यों इन्द्रिय ज्ञान का प्रभाव मिटता जाता है त्यों-त्यों कामनाएँ भी मिटती जाती हैं। जिस काल में बुद्धि-जन्य ज्ञान इन्द्रियजन्य-ज्ञान के प्रभाव को खा लेता है उसी काल में समस्त कामनाएँ मिट जाती हैं, जिनके मिटते ही निस्सन्देहता अपने आप आ जाती है। यदि इन्द्रिय-ज्ञान का उपयोग सेवा में किया जाय पर उस ज्ञान का प्रभाव चित्त में अंकित न हो तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक चित्त शुद्ध हो जाता है। इस दृष्टि से निस्सन्देहता भी वर्त्तमान जीवन की ही वस्तु है। अतः जब तक निस्सन्देहता प्राप्त न हो तब तक

किसी दूसरे कार्य में प्रवृत्ति ही नहीं होनी चाहिए, क्योंकि सन्देह-युक्त दशा में जो प्रवृत्ति होगी उससे चित्त अशुद्ध ही होगा।

जिस प्रकार प्राणी को विश्राम तथा निस्संदेहता प्रिय है, उसी प्रकार प्रेम की प्यास भी प्राणी में स्वाभाविक है, क्योंकि प्रेम के बिना नित, नव, अगाध, अनन्त रस की उपलब्धि नहीं हो सकती। रस का त्याग किसी को अभीष्ट नहीं है। अतः रस जीवन का आवश्यक अङ्ग है। यदि किसी से पूछा जाय कि तुम्हें रसविहीन जीवन चाहिए? तो वह कहेगा--कदापि नहीं। रस-विहीन जीवन किसी को प्रिय नहीं। जीवन-रहित रस भी अपेक्षित नहीं है। रस और जीवन में इतनी अभिन्नता है कि इन दोनों का विभाजन सभी को असह्य है। अर्थात् रस और जीवन में विभाजन हो ही नहीं सकता।

जिस प्रकार विश्राम में निस्सन्देहता का सामर्थ्य विद्यमान है उसी प्रकार निस्सन्देहता में प्रेम का सामर्थ्य विद्यमान है। जब जीवनमें विश्राम आ जाता है तब निस्सन्देहता भी आ जाती है, एवं जब निस्सन्देहता आती है तब प्रेम का भी प्रादुर्भाव स्वतः हो जाता है। निस्सन्देहता में अभिन्नता, अभिन्नता में आत्मीयता और आत्मीयता में प्रेम स्वतः विद्यमान है। इस दृष्टि से विश्राम, निस्सन्देहता और प्रेम इन तीनों में अभिन्नता है। विश्राम सामर्थ्य का प्रतीक है। निस्सन्देहता जीवन का प्रतीक है और प्रेम रस का प्रतीक है। सामर्थ्य, जीवन और रस ये तीनों ही सभी को स्वभाव से अभीष्ट हैं; अथवा यों कहो कि ये तीनों किसी एक ही में हैं और वही वास्तविक जीवन है जिसकी उपलब्धि चित्तशुद्धि में ही निहित है।

प्रत्येक साधक के मन में यह अविचल विश्वास रहना चाहिए कि विश्राम, निस्सन्देहता तथा प्रेम की प्राप्ति हो सकती है। पर

ऐसा विश्वास तभी सम्भव होगा जब साधक प्राप्त वस्तु, योग्यता एवं परिस्थिति में सन्तोष न करे और न उनका दुरुपयोग करे। प्राप्त वस्तु आदि का सदुपयोग वस्तुओं से अतीत के जीवन से सम्बन्ध जोड़ने में समर्थ है, जिसकी प्राप्ति विश्राम, निस्सन्देहता और प्रेम से ही सम्भव है। इतना ही नहीं, जीवन में ही निस्सन्देहता, विश्राम तथा प्रेम निहित है। जीवन उसे ही कहते हैं जो अपने ही में हो, जिससे वियोग किसी प्रकार न हो सके तो फिर निस्सन्देहता, विश्राम, प्रेम आदि से दूरी कैसी, भेद कैसा? जो अपने ही में है वह अपने ही ज्ञान से प्राप्त हो सकता है। उसके लिए किसी 'परज्ञान' की अपेक्षा नहीं है। 'परज्ञान' का आश्रय तो सन्देह ही उत्पन्न करता है। ऐसा कोई सन्देह है ही नहीं जिसकी उत्पत्ति इन्द्रियज्ञान तथा बुद्धिज्ञान से न हो। इन दोनों के ज्ञान से अतीत जो ज्ञान है उसमें सन्देह नहीं है और उसी में जीवन है, सौंदर्य्य है। जिसे अपने ही सौंदर्य्य तथा जीवन में प्रेम हो जाता है वह सभी बन्धनों से रहित हो अपने ही में सब कुछ पाकर कृत-कृत्य हो जाता है। पर यह तभी सम्भव होता है जब साधक 'परज्ञान' का आश्रय त्याग 'निज-ज्ञान' द्वारा चित्त शुद्ध कर लेता है। अतः चित्तशुद्धि के लिए साधक को वर्तमान में ही प्रयत्नशील होना चाहिए। चित्त की शुद्धि में ही चिर-शान्ति, अर्थात् विश्राम तथा जीवन एवं प्रेम निहित है।

७—५—५६

: ६ :

मेरे निज स्वरूप परमप्रिय,

चित्त की अशुद्धि हमारी अपनी बनाई हुई वस्तु है, वह किसी और की देन नहीं है और न प्राकृतिक विधान से उत्पन्न हुई है। इसी कारण चित्त शुद्ध करने का दायित्व अपने ही पर है। चित्त कब से अशुद्ध हुआ है, इसका ज्ञान भले ही न हो पर चित्त की अशुद्धि का कारण क्या है, इसका ज्ञान अवश्य है। यदि ऐसा न होता तो चित्तशुद्धि का प्रश्न ही उत्पन्न न होता। न होनेवाले कार्यों को करने की सोचना और होनेवाले कार्यों को चित्त में जमा रखना ही चित्त की अशुद्धि में हेतु है।

अब विचार यह करना है कि न होनेवाले कार्य का चिन्तन हम क्यों करते हैं और होनेवाले कार्यों को क्यों नहीं कर डालते। जब साधक अपनी वस्तुस्थिति से अपने को छिपाने लगता है तब उसके मस्तिष्क में न होनेवाले कार्य उत्पन्न होते हैं। पर वह उन्हें कार्यान्वित कर ही नहीं सकता। उसका परिणाम यह होता है कि जो सामर्थ्य, योग्यता, परिस्थिति उसे वर्तमान कार्य करने के लिए मिली थी, उसका व्यर्थ ही ह्रास हो जाता है जिससे जो कर सकता था वह भी नहीं कर पाता और जो नहीं कर सकता है उसके चिन्तन में आबद्ध हो जाता है। इस स्थिति में चित्त उत्तरोत्तर अशुद्ध ही होता जाता है। साधक को बड़ी ही सावधानीपूर्वक शीघ्रातिशीघ्र, इस दशा से अपने को मुक्त करना चाहिए। वह तभी सम्भव होगा जब वर्तमान कार्य को सबसे अधिक महत्त्व दिया जाय और जो नहीं कर सकता है उसकी

लेश-मात्र भी चिन्ता न की जाय। इतना ही नहीं, चाहे जितना भी सुन्दर संकल्प क्यों न हो, यदि उसकी पूर्ति सम्भव नहीं है तो उसे अनावश्यक जानकर अवश्य त्याग देना चाहिए। न होनेवाले कार्यों के त्याग से होनेवाले कार्यों के करने की सामर्थ्य स्वतः आ जायगी और उन कार्य्यों के हो जाने पर स्वतः विश्राम मिल जायगा जो आवश्यक शक्ति प्रदान करने में समर्थ है।

अप्राप्त वस्तु, व्यक्ति आदि का चिन्तन सदा के लिए निकाल देना चाहिए। उसकी प्राप्ति तो हो ही नहीं सकती क्योंकि वस्तु व्यक्ति की प्राप्ति चिन्तन-साध्य नहीं है अपितु कर्म-साध्य है। यह नियम है कि जो कर्म-साध्य है उसकी प्राप्ति भविष्य में होती है। पर उससे नित्य सम्बन्ध कभी भी सम्भव नहीं है। इस दृष्टि से वस्तु, व्यक्ति आदि प्राप्त करने योग्य नहीं हैं प्रत्युत वस्तुओं का सदुपयोग और व्यक्तियों की सेवा वर्तमान परिस्थिति के अनुसार करना अभीष्ट है। वस्तु, व्यक्ति आदि के व्यर्थ चिन्तन ने ही लालसा तथा जिज्ञासा को जागृत नहीं होने दिया। उसका परिणाम यह हुआ कि जिसकी प्राप्ति चिन्तन-साध्य थी उससे भी वंचित रहे और शक्तिहीन होने के कारण जो कर्म-साध्य था उससे भी निराश होना पड़ा अर्थात् प्राणी अनेक प्रकार के अभावों में आबद्ध हो गया।

अभावों का अभाव करने के लिए यह आवश्यक है कि वर्तमान कार्य को सुन्दरतापूर्वक किया जाय और कार्य के अन्त में किसी भी कार्य का चिन्तन न किया जाय और न किए हुए कार्य के द्वारा किसी फल की आशा की जाय, अपितु करने की रुचि का अन्त करने के लिए ही सर्वहितकारी कार्यों को परिस्थिति के अनुसार कर डालना चाहिए। ऐसा करते ही जिज्ञासा की जागृति तथा विरह का प्रादुर्भाव स्वयं होगा। जिज्ञासा तथा

विरह अभ्यास नहीं है अपितु स्वतः होनेवाला चिन्तन है। वह ज्यों-ज्यों सबल तथा स्थाई होता जाता है त्यों-त्यों चित्त के सभी दोष स्वतः मिटते जाते हैं। जिस काल में चित्त सर्वांश में शुद्ध हो जाता है उसी काल में जिज्ञासा की पूर्ति तथा प्रेम की प्राप्ति अपने आप हो जाती है।

जिज्ञासा-पूर्ति तथा प्रेम-प्राप्ति में पराधीनता नहीं है और वस्तु, व्यक्ति आदि की प्राप्ति में स्वाधीनता नहीं है। जिसकी प्राप्ति में स्वाधीनता है उसके लिए पराधीन हो जाना और जिसकी प्राप्ति में पराधीनता है उसके लिये अपने को स्वाधीन मानना चित्त की अशुद्धि है। परिस्थितियों की प्रतिकूलता का भय, न जानने का दोष और कर्त्तव्य-पालन में असमर्थता स्वीकार करना अस्वाभाविक है; कारण कि प्रत्येक परिस्थिति प्राकृतिक न्याय है। इसके सदुपयोग में ही सभी का हित है। तो फिर किसी भी परिस्थिति से भयभीत क्यों होना? जो जानते हैं उसीसे निस्सन्देहता तथा वास्तविकता का अनुभव हो सकता है, तो फिर न जानने का दोष क्यों स्वीकार करना! जो कर सकते हैं वही करना है तो फिर कर्त्तव्य-पालन में असमर्थता कैसी?

जो अप्राप्त है उसकी चाह से रहित होना है, जो जानते हैं उसी का आदर करना है और जो कर सकते हैं उसी को कर डालना है। अप्राप्त की चाह से रहित होते ही योग स्वतः सिद्ध होगा। जो जानते हैं उसका आदर करते ही स्वतः बोध होगा। जो कर सकते हैं उसके करते ही स्वतः सुन्दर परिस्थिति प्राप्त होगी। चित्त की अशुद्धि ने ही जिज्ञासु को तत्त्व-ज्ञान नहीं होने दिया और चित्त की अशुद्धि ने ही प्रेमी को प्रेमास्पद से नहीं मिलने दिया। जिससे आत्मीयता है भला उसकी विस्मृति हो सकती है? कदापि नहीं। जिसको बिना जाने हम किसी प्रकार रह ही

नहीं सकते क्या उससे भेद तथा दूरी रह सकती है? कदापि नहीं। प्राकृतिक नियम के अनुसार जिज्ञासा की पूर्त्ति तथा प्रेम की प्राप्ति स्वाभाविक है और वर्त्तमान जीवन की वस्तु है।

जिसे नहीं जानते हैं उसके भूलने को भूल नहीं कहते। भूल उसी के सम्बन्ध में कही जाती है जिसको जानते तो हैं पर भूल गए। यदि साधक यह विचार करने लगे कि मैं क्या जानता हूँ तो भूल स्वतः मिट जाती है और बड़ी ही सुगमतापूर्वक निस्सन्देहता प्राप्त होती है। प्राकृतिक नियम के अनुसार प्राणी जो कर सकता है यदि उसे कर डाले तो विद्यमान राग की निवृत्ति अवश्य हो जाती है, जिसके होते ही कार्य के अन्त में स्वतः विश्राम मिलता है, जिससे नित्ययोग की प्राप्ति होती है। यदि कार्य के अन्त में विश्राम नहीं मिलता तो समझना चाहिए कि कार्य करने में कोई असावधानी अवश्य हुई है नहीं तो विश्राम का प्राप्त होना स्वाभाविक है। साधक को परिस्थिति के अनुसार कार्य करने में स्वाधीनता है पर उसके फल पर दृष्टि रखना अथवा अपवित्र भाव से करना अथवा कार्य करने में अपनी पूरी शक्ति न लगाना, ये कर्त्तव्य-पालन में दोष हैं। इन दोषों के होने पर ही कार्य के अन्त में विश्राम नहीं मिलता है। अब कोई यदि यह कहे कि कार्य के फल की आशा क्यों नहीं रखनी चाहिए? जो कुछ किया जाता है उसका फल प्राकृतिक नियम के अनुसार समष्टि शक्तियों से बनता है। फल कर्त्ता के अधीन नहीं है। जो कर्त्ता के अधीन नहीं है उस पर दृष्टि रखना कर्त्ता का दोष है। जैसे खेत में दाना बोने का कृषक को अधिकार है पर वह दाना प्राकृतिक नियमों के अनुरूप ही उगेगा और फल देगा। कोई भी कृषक न तो प्राकृतिक खेत को ही उत्पन्न कर सकता है और न दाने को ही बना सकता है। प्राकृतिक पदार्थों के उपयोग में ही

प्राणी का अधिकार है, परन्तु उपयोग का फल प्राकृतिक नियम से होता है, मनमाने ढंग से नहीं। इस दृष्टि से कर्त्तव्यपालन-मात्र ही में अपना अधिकार मानना चाहिए और फल पर दृष्टि नहीं रखनी चाहिए। इतना ही नहीं, प्राकृतिक नियम के अनुसार जो भी फल प्राप्त हो उसे भी दूसरों की सेवा में ही लगाते रहना चाहिए। सेवा करने मात्र को ही अपना कर्त्तव्य समझना चाहिए। इस प्रकार वर्त्तमान कार्य करने से कार्य के अन्त में साधक को विश्राम अवश्य मिलेगा। विश्राम के न मिलने में कर्त्ता का अपना ही कोई दोष है और कुछ नहीं।

इन्द्रियों के ज्ञान से जो कुछ जानने में आता है उस पर विश्वास करना, अथवा उससे ममता करना चित्त को अशुद्ध करना है। विश्वास केवल उसी पर करना है जिसे इन्द्रिय, बुद्धि आदि से नहीं जानते हो। इन्द्रियों के ज्ञान से जिन वस्तुओं को जानते हो उनका सदुपयोग और जिन व्यक्तियों को जानते हो उनकी सेवा करना चित्तशुद्धि का साधन है। पर उनमें आसक्त होना अथवा उनसे ममता करना केवल लोभ-मोह में आबद्ध होना है, जो चित्त की अशुद्धि है। प्राकृतिक नियम के अनुसार लोभ से दरिद्रता और मोह से जड़ता उत्पन्न होती है जो चित्त को अशुद्ध कर देती है। यदि निर्लोभतापूर्वक विधिवत् वस्तुओं का उपयोग किया जाय और निर्मोहतापूर्वक व्यक्तियों की सेवा की जाय तो न तो उन पर विश्वास होता है, न सम्बन्ध रहता है और न चित्त अशुद्ध होता है।

वस्तु, व्यक्ति का विश्वास गलते ही उस अनन्त पर स्वतः विश्वास हो जाता है जिसको किसी ने इन्द्रिय, बुद्धि आदि के ज्ञान से नहीं जाना। यह नियम है कि जिस पर विश्वास हो जाता है उससे नित्य सम्बन्ध तथा आत्मीयता स्वतः होने लगती है, जिसके होते ही विश्वासपात्र की मधुर स्मृति अपने आप आने

लगती है और उस समय तक उत्तरोत्तर बढ़ती ही रहती है जब तक विश्वासी स्वयं प्रीति होकर अपने विश्वासपात्र के प्रेम को पा नहीं लेता। इस दृष्टि से विरह की जागृति भी स्वाभाविक है। उसमें किसी प्रकार की अस्वाभाविकता नहीं है। पर आश्चर्य की बात तो यह है कि जो विरह स्वाभाविक है उसे हम अभ्यास-द्वारा प्राप्त करने का प्रयास करते हैं। उसका परिणाम यह होता है कि इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि द्वारा किया हुआ अभ्यास जब शिथिल होता है तब प्रिय-चिन्तन मिट जाता है और वस्तु आदि का चिन्तन होने लगता है। विरह की उत्पत्ति इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि के स्वभाव को प्रीति में बदल देती है। अतः उसे मन लगाना नहीं पड़ता, स्वतः मन लग जाता है; और उसे प्रिय से, जो भिन्न है, उससे मन हटाना नहीं पड़ता, स्वतः हट जाता है। मन को लगाने-हटाने का रोग तभी तक रहता है जब तक जीवन में अस्वाभाविकता है, जो चित्त की अशुद्धि से उत्पन्न हुई है। कर्तव्य-पालन में ही शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि वस्तुओं से सम्बन्ध होता है। कर्तव्य की पूर्ति होते ही सभी वस्तुओं से, जो हमें अत्यन्त निकट भासती हैं, सम्बन्ध स्वतः टूट जाता है। यदि हमारा शरीर आदि वस्तुओं से सम्बन्ध-विच्छेद नहीं हुआ तो समझना चाहिए कि जो वस्तुएँ हमें कर्त्तव्य-पालन के लिए मिली थी उनके द्वारा कर्तव्य-पालन नहीं किया। देखने, सुनने, समझने, करने आदि के लिए ही शरीर आदि वस्तुएँ मिली हैं। जो करना है उसके कर डालने पर, जो समझना है उसके समझ लेने पर सभी वस्तुओं से असंगता हो जाती है। यह सदैव ध्यान रहे कि वह कभी भी नहीं करना है जिसे कर नहीं सकते और उसे देखना समझना नहीं है जिसे समझ नहीं सकते। यदि इसी बात को एक ही बात में कहा जाय तो यह कह देना चाहिए कि कामना-पूर्ति-काल में ही शरीर

आदि वस्तुओं से सम्बन्ध होता है। कामना-निवृत्ति का महत्त्व बढ़ जाने पर सभी वस्तुओं से स्वतः सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, जिसके होते ही उससे, जिस पर विश्वास किया था, नित्य सम्बन्ध हो जाता है। इस दृष्टि से कर्तव्य-पालन तथा नित्य योग एवं मधुर स्मृति तथा निस्सन्देहता, ये तीनों ही चित्तशुद्ध होने पर स्वाभाविक रूप से प्राप्त होते हैं; इनकी प्राप्ति में लेश मात्र भी अस्वाभाविकता नहीं है।

प्राप्त परिस्थिति के अनुसार कर्त्तव्य-परायण न होना, जो सभी वस्तुओं से अतीत है उसमें विश्वास न होना और जाने हुए का आदर न करना ये तीनों ही बातें अस्वाभाविक हैं और इस अस्वाभाविकता को अपना लेने से ही चित्त अशुद्ध हुआ है। अतः चित्तशुद्धि के लिए अस्वाभाविकता का त्याग और स्वाभाविकता को अपना लेना अनिवार्य है। पर यह बड़ी ही सावधानी से समझना चाहिए कि कामना-पूर्ति का महत्त्व जब तक रहता है तब तक अस्वाभाविकता में स्वाभाविकता और स्वाभाविकता में अस्वाभाविकता प्रतीत होती है। सभी कामनाएँ कभी किसी की पूरी नहीं होतीं और कुछ कामनाएँ सभी की पूरी होती हैं। जो कामनाएँ पूरी हो ही नहीं सकतीं उनको चित्त में अंकित रखना कुछ अर्थ नहीं रखता, और जो कामनाएँ स्वतः पूरी हो ही जायँगी उनकी पूर्ति के सुख में आबद्ध होना भी कुछ अर्थ नहीं रखता! अतः कामना-पूर्ति का कोई महत्त्व नहीं है। यह जान लेने पर कामना निवृत्ति का सामर्थ्य स्वतः आ जाता है, जिसके आते ही, जो स्वाभाविक है वह जीवन हो जाता है और जो अस्वाभाविक है उसकी स्वतः निवृत्ति हो जाती है। अस्वाभाविकता मिटते ही चित्त स्वतः शुद्ध हो जाता है।

८-५-५६

: ७ :

मेरे निज स्वरूप परमप्रिय,

चित्त की अशुद्धि का ज्ञान जिस ज्ञान से होता है उसी ज्ञान में चित्त की शुद्धि का साधन भी विद्यमान है। परन्तु जब साधक अपने उस ज्ञान का आदर नहीं करता जिससे उसने अशुद्धि को जाना था तब अशुद्धि मिटाने के लिए अनेक बाह्य अस्वाभाविक उपचारों का अनुसरण करता है परन्तु चित्तशुद्ध नहीं होता, क्योंकि अस्वाभाविकता से ही तो चित्त अशुद्ध हुआ है। जिससे चित्त अशुद्ध हुआ है, उससे भला शुद्ध कैसे हो सकता है? कदापि नहीं हो सकता। इस दृष्टि से चित्तशुद्धि के लिए हमें स्वाभाविक साधना को ही अपनाना होगा। उसके लिए साधक को सर्वप्रथम उस ज्ञान का आदर करना होगा जिस ज्ञान से उसने चित्त की अशुद्धि को जाना है।

अशुद्धि का ज्ञान उसके परिणाम को और शुद्धि की महिमा को प्रकाशित करता है। ज्यों-ज्यों अशुद्धि के परिणाम का बोध होता जाता है त्यों-त्यों अशुद्धि-जनित सुख-भोग की आसक्ति स्वतः मिटती जाती है, जिसके मिटते ही अशुद्धि की पुनरावृत्ति नहीं होती, जिसके न होने से अशुद्धि सदा के लिए निर्मूल हो जाती है। चित्तशुद्धि की साधना में जो अस्वाभाविकता तथा परिश्रम प्रतीत होता है उसका एक मात्र कारण यह है कि जिस अशुद्धि को विवेकपूर्वक मिटाना चाहिए उसे हम बलपूर्वक मिटाते हैं।

अविवेक-जन्य अशुद्धि बलपूर्वक दबाई जा सकती है, मिटाई नहीं जा सकती। इस दृष्टि से चित्तशुद्धि की साधना विवेकयुक्त होनी चाहिए, तभी सफलता हो सकती है।

चित्तशुद्धि के साधक के लिए यह अनिवार्य है कि अपने चित्त की वास्तविक वस्तुस्थिति को सरलता-पूर्वक प्रकट कर डाले, इससे अशुद्धि निर्जीव हो जाती हैं। सरलता के बिना चित्त की वास्तविकता का निरीक्षण ही नहीं हो सकता। उसके बिना हुए अशुद्धि मिट नहीं सकती। अतः सरलतापूर्वक चित्त की वस्तुस्थिति जानने तथा प्रकट करने का प्रयत्न करना चाहिए। वह तभी-सम्भव होगा जब हम जैसे अपनी दृष्टि में हैं, वैसे ही दूसरों की दृष्टि में भी रहने की आशा करें। कृत्रिमता-पूर्वक अपना प्रकाशन न करें। अकृत्रिमता आते ही चित्त की दबी हुई अशुद्धि का ज्ञान भी हो जाता है और उसको प्रकट करने का साहस भी आ जाता है। यह नियम है कि अशुद्धि को अशुद्धि जान लेने पर ही अशुद्धि निर्जीव हो जाती है और उसका प्रकाशन हो जाने पर तो उसकी पुनरावृत्ति होती ही नहीं है। इस दृष्टि से चित्त की अशुद्धि को जानकर उसका प्रकाशन अनिवार्य है। पर साधक को इस बात का ध्यान रहे कि उसे जिस अशुद्धि का ज्ञान हुआ है वह अशुद्धि भूत-काल की है! उसको न दुहराने का व्रत लेना है किन्तु भूत-काल की अशुद्धि के आधार पर चित्त को वर्तमान में अशुद्ध नहीं मानना है। यह नियम है कि वर्तमान की शुद्धि भविष्य में कभी अशुद्धि में परिवर्तित नहीं होती; अथवा यों कहो कि भूतकाल की अशुद्धि का त्याग वर्तमान में हो सकता है परन्तु वर्तमान की शुद्धि भविष्य में मिट नहीं सकती।

चित्त की अशुद्धि को दबाने की प्रवृत्ति जीवन में क्यों आती

है ? इस भय से कि उसके प्रकाशन से हमारी निन्दा होगी, तिरस्कार होगा, हमें कोई अपनाएगा नहीं। परन्तु जिस प्रकार दवा हुआ बीज वृक्ष होकर एक से अनेक हो जाता है, उसी प्रकार दबी हुई अशुद्धि उत्तरोत्तर वृद्धि को ही प्राप्त होती है। जिस भय से आज हम उसे दवाते हैं वह भय अवश्य आ जाएगा क्योंकि भय का बीज जब तक विद्यमान है तब तक हम अभय हो ही नहीं सकते। तो फिर उसे दबाने से क्या लाभ ? अर्थात् कुछ नहीं। इस दृष्टि से अभय होने के लिए यह अनिवार्य है कि चित्त में जो बीज-रूप से अशुद्धि विद्यमान है उसको शीघ्रातिशीघ्र मिटा दिया जाय और उसका प्रकाशन उन लोगों के सामने कर दिया जाय जो अशुद्धि के प्रकाशन का महत्त्व जानते हों और जो सब प्रकार से अपने हित-चिन्तक हों जैसे सद्गुरु, सन्मित्र, माता-पिता आदि अथवा उन लोगों से जो अपने दुःख से दुखी हों और उन्नति को देखकर जिनमें ईर्ष्या न हो, अपितु हर्षित हों।

साधक को अपना चित्र निज ज्ञान से देखना चाहिए। यदि अपना चित्र अपनी दृष्टि में सुन्दर हो और समाज की दृष्टि उसके विरुद्ध हो तो लेशमात्र भी भयभीत नहीं होना चाहिए। कारण कि ज्ञान का आदर जिन्होंने किया उन्हीं के द्वारा समाज में क्रांति हुई; अर्थात् विरोधी समाज भी उनका अनुसरण करने लगता है जो निज ज्ञान का आदर करते हैं (निज ज्ञान का अर्थ इन्द्रिय-ज्ञान नहीं लेना चाहिए अपितु प्राप्त विवेक लेना चाहिए) उसी निज ज्ञान के प्रकाश में साधक को अपने चित्त की दशा को देखना चाहिए। यदि उसमें किसी अशुद्धि का दर्शन हो तो उसे शीघ्र ही मिटा देना चाहिए। जब तक न मिटे तब तक चित्त से असहयोग कर लेना चाहिए। अर्थात् चित्त की ममता से रहित हो जाना चाहिए। पर इस बात का ध्यान

रहे कि असहयोग क्रोध नहीं है प्रत्युत सम्बन्ध-विच्छेद के द्वारा चित्त का सुधार है। क्रोध न अपने प्रति हितकर सिद्ध होता है और न दूसरों के प्रति, कारण कि क्रोध से विस्मृति उत्पन्न होती है जो कर्त्तव्य से च्युत कर देती है। सम्बन्ध-विच्छेद से ममता का नाश होता है जिससे राग की निवृत्ति होती है जिसके होते ही चित्त शुद्ध हो जाता है। इस दृष्टि से संबंध-विच्छेद करने से किसी का अहित नहीं होता।

प्राणी अपना सुधार दुलार तथा प्यारपूर्वक, जिनसे ममता होती है उनका सुधार क्षुब्ध होकर और जिनसे ममता नहीं है उनका सुधार उपेक्षा भाव से करने की सोचता है। पर ऐसा करने से सुधार होता नहीं। जिनसे ममता नहीं है उनका सुधार दुलार तथा प्यारपूर्वक ही सम्भव है, उपेक्षा द्वारा नहीं। जिनसे ममता है उनका सुधार मोहरहित होने से सम्भव है, क्षुभित होने से नहीं, और अपने चित्त का सुधार अपने प्रति घोर न्याय तथा असहयोग से ही सम्भव है, दुलार तथा प्यार से नहीं। अतः दूसरोंके समान अपने प्रति न्याय और अपने समान दूसरे के प्रति प्यार करने से ही चित्त शुद्ध हो सकता है, कारण कि यदि दूसरों के प्रति क्षमा तथा प्रेम का व्यवहार न किया तो उनसे भेद बना रहेगा जिससे न तो उनका ही हित होगा और न अपना ही चित्त शुद्ध होगा। जिस प्रवृत्ति से दूसरों का हित होता है उसी से अपना चित्त शुद्ध होता है। जिनसे ममता नहीं है उनसे भेद है। भेद को जीवित रखने से भी चित्त अशुद्ध होता है। और जिनसे ममता है उनसे किसी न किसी प्रकार की आसक्ति है। आसक्ति से भी चित्त अशुद्ध होता है। अतः जिनसे भेद है उनसे एकता करने के लिए उनके प्रति क्षमाशीलता का प्रयोग करना पड़ेगा और जिनसे आसक्ति है उनके प्रति निर्मोहता तथा असहयोग का प्रयोग करना

पड़ेगा तभी चित्त क्षोभरहित हो सकता है। यह नियम है कि क्षोभरहित होते ही आवश्यक सामर्थ्य स्वतः आ जाता है जिसका सदुपयोग करते ही साधक का चित्त शुद्ध हो जाता है। अपने प्रति क्षमाशीलता का प्रयोग उसका दुरुपयोग है और दूसरों के प्रति न्याय तथा उपेक्षा का प्रयोग उनका दुरुपयोग है। दिव्य-गुणों का उपयोग यथास्थान न करने से कोई लाभ नहीं होता अपितु हानि ही होती है। इस दृष्टि से जिनसे ममता नहीं है उन्हीं के प्रति क्षमाशीलता का प्रयोग हितकर सिद्ध होता है। मोहयुक्त क्षमा से किसी का भी हित नहीं होता—न अपना और न उसका—जिससे मोह है। अपना हित तो अपने प्रति न्याय करने ही में है और दूसरों का हित क्षमा में निहित है। अतः चित्त शुद्ध करने के लिए अपने प्रति न्याय और दूसरों के प्रति प्रेम करना ही होगा।

यह ध्यान रहे कि न्याय वही सार्थक है जो रक्षा में समर्थ हो। न्याय भी वही कर सकता है जो क्रोध से रहित हो और प्रेम वही कर सकता है जो काम से रहित हो। जिसकी प्रसन्नता दूसरों पर निर्भर है वह प्रेम नहीं कर सकता, और जो सुखभोग में आसक्त है वह अपने प्रति न्याय नहीं कर सकता। न्याय करने के लिए सुख-भोग की दासता का अंत करना होगा और प्रेमी होने के लिए सुख की आशा से रहित होना होगा। यह नियम है कि जो जिससे सुख की आशा करता है उससे प्रेम नहीं कर सकता। और न्याय तथा प्रेम के बिना चित्त शुद्ध नहीं हो सकता। इस दृष्टि से प्राप्त सुख की आसक्ति से रहित और अप्राप्त सुख की आशा से रहित होने ही में चित्त की शुद्धि निहित है।

६-५-५६

: ८ :

मेरे निज स्वरूप परमप्रिय,

चित्तशुद्धि जीवन का आवश्यक अङ्ग है। समस्त समस्याओं का हल उसी में निहित है। इतना ही नहीं, वर्तमान मानव-जीवन चित्तशुद्धि के ही लिए मिला है। कारण कि चित्त की अशुद्धि अविवेकजन्य है जो प्राप्त विवेक के उपयोग से मिट सकती है। विवेक मानवमात्र को स्वभाव से ही प्राप्त है। इस दृष्टि से चित्त के शुद्ध करने में हम सभी स्वाधीन हैं। पराधीनता अप्राप्त वस्तु आदि की प्राप्ति में भले ही हो, पर चित्त को शुद्ध करने में किसी प्रकार की पराधीनता नहीं है। प्रत्येक परिस्थिति में चित्तशुद्धि अपेक्षित है। यह नियम है कि जिसकी आवश्यकता मानव-मात्र को सर्वत्र सर्वदा है, उसकी पूर्ति अवश्यम्भावी है। अतः चित्त-शुद्धि से कभी निराश नहीं होना चाहिए।

अब विचार यह करना है कि जिसकी पूर्ति अवश्यम्भावी है उसे प्राप्त करने में हमें असमर्थता क्यों प्रतीत होती है। उसका एक मात्र कारण यह है कि जब हम विवेक के प्रकाश में अपने में कोई दोष पाते हैं तो अपने प्रति वह न्याय नहीं करते जो उसी दोष में दूसरों के प्रति करते हैं। उसका परिणाम यह होता है कि वह दोष दृढ़तापूर्वक चित्त में अंकित हो जाता है। अपने प्रति न्याय बिना किए कभी निर्दोषता की उपलब्धि सम्भव नहीं है। अपने प्रति न्याय करने में कठिनाई क्या है? यदि इस पर विचार

किया जाय तो ऐसा प्रतीत होता है कि दोषजनित सुख के बदले में उससे कहीं अधिक दुःख का हर्षपूर्वक अपना लेना न्याय का सर्व-प्रथम अंग है। न्याय के इस प्रथम अंग का उपयोग हम दूसरों पर तो बड़े ही सहज भाव से करने लगते हैं पर अपने प्रति सुख के स्थान पर दुःख के अपनाने में भयभीत होते हैं। इस कारण अपना दोष जान लेने पर भी अपने को क्षमा करने की बात सोचते हैं। उसका परिणाम यह होता है कि जो क्षमा दूसरों के प्रति करने की थी, जिससे पारस्परिक एकता प्राप्त होती, वह अपने प्रति करने से अपने व्यक्तित्व का मोह और दृढ़ हो जाता है, जो दोषों का मूल है। अपने प्रति किया हुआ मोह अनेक अशुद्धियाँ उत्पन्न करता है। इसी कारण अपने प्रति हमें न्याय ही करना चाहिये। पर वह तभी सम्भव होगा जब हम यह स्वीकार करें कि क्षमा अपने प्रति नहीं करनी है, दूसरों के प्रति करनी है।

न्याय का दूसरा अंग है किए हुए दोष को न दुहराना। यह अंग अपने प्रति तभी सम्भव है जब न्याय के प्रथम अंग को अपना लिया जाय। यह नियम है कि जब दुःख इतना बढ़ जाता है कि सुख का राग मिट जाय तब दोष न दुहराने की दृढ़ता स्वतः आ जाती है; कारण कि सुख-लोलुपता से ही दोष में प्रवृत्ति होती है। जब दुःख ने उसे खा लिया तब किया हुआ दोष न दुहराना स्वाभाविक हो जाता है, जिसके होते ही निर्दोषता दृढ़ हो जाती है जो न्याय का तीसरा अंग है।

न्याय से कभी अपना अहित नहीं होता, अपितु अपना तथा दूसरों का हित ही होता है। इस दृष्टि से न्याय को अपनाने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिये। न्याय से भयभीत होना भूल है, क्योंकि उसके बिना अपना सुधार ही सम्भव नहीं है। जब प्राणी

अपने प्रति स्वयं न्याय करने लगता है तब वह दूसरों की दृष्टि में अदण्डनीय अर्थात् क्षमापात्र बन जाता है। जो अपने प्रति न्याय नहीं करता उसके प्रति दूसरों के मन में स्वतः क्षोभ तथा क्रोध उत्पन्न होता है, उसका परिणाम यह होता है कि प्रकृति के विधान में, उसके प्रति विरोधी सत्ता स्वयं उत्पन्न हो जाती है। इतना ही नहीं, जो अपने प्रति न्याय नहीं करता उसके द्वारा दूसरों के प्रति अन्याय स्वतः होने लगता है जिससे समाज में भी उसके प्रति विरोधी सत्ता उत्पन्न हो जाती है। वह विरोध इस सीमा तक बढ़ जाता है कि उस व्यक्ति के न रहने पर भी वह जिस वर्ग का था उस वर्ग से, जिस जाति का था उस जाति से और जिस मत सम्प्रदाय आदि को मानता था उन सबसे समाज में एक स्थायी विद्रोह की परम्परा चल जाती है। इस दृष्टि से अपने प्रति न्याय न करने से घोर क्षति होती है। अतः अपने प्रति न्याय करना परम अनिवार्य है।

अपने प्रति आप न्याय करने से समाज में निन्दा नहीं होती, अपितु आदर ही मिलता है, किन्तु जब दूसरों के द्वारा अपने प्रति न्याय होता है तब समाज में निन्दा होती है। इस दृष्टि से भी अपने प्रति न्याय करने में कितना महत्त्व है। न्याय के इस रहस्य को जो जान लेते हैं वे हर्षपूर्वक अपने प्रति न्याय करने लगते हैं। अपने प्रति न्याय का अर्थ अपने पर क्रोधित होना नहीं है, न अपना विनाश करना है और न अपनी क्षति करना है, अपितु न्याय का अर्थ है असहयोगपूर्वक अपना सुधार। असहयोग से सम्बन्ध-विच्छेद होता है। सम्बन्ध-विच्छेद से राग-द्वेष नहीं रहता। राग-रहित होने से सुखासक्ति मिट जाती है और द्वेष-रहित होने से क्रोध का नाश हो जाता है। सुखासक्ति मिट जाने से दोषों की पुनरावृत्ति नहीं होती, जिससे निर्दोषता का प्रादुर्भाव

स्वतः हो जाता है और क्रोध-रहित होने से हिंसा का भाव मिट जाता है, जिससे अपने सुधार पर तो दृष्टि रहती है पर अपने विनाश की भावना मिट जाती है। न्याय का वास्तविक प्रयोग अपने ही पर हो सकता है दूसरों पर नहीं। न्याय वह तत्त्व है जिसमें न हिंसा है और न पक्षपात। जिस न्याय में हिंसा और पक्षपात की गन्ध हो वह न्याय के स्वरूप में अन्याय का चित्र है। अन्याय का जीवन में कोई स्थान नहीं है। जो न्याय को अपना लेता है वह आदरणीय होता है निन्दनीय नहीं।

पूर्ण न्याय का प्रयोग हमें अपने मन के ही साथ करना है— जैसे-जैसे दूरी बढ़ती जाय वैसे-वैसे न्याय क्षमा के रूप में बदलते जाना चाहिए। तात्पर्य यह है कि जिससे जितनी अधिक समीपता हो, उसके प्रति उतना ही अधिक न्याय करना चाहिए। ज्यों-ज्यों दूरी बढ़ती जाय त्यों-त्यों न्याय क्षमा के रूप में परिवर्तित होता जाना चाहिए। न्याय और क्षमा एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। जिनसे ममता है उनके प्रति न्याय करने से जो हित होता है वही हित जिनसे ममता नहीं है उनके प्रति क्षमा करने से होता है। न्याय और क्षमा के फल में कोई भेद नहीं है।

न्याय और क्षमा के बाह्य रूप में भले ही भेद हों, परन्तु वास्तविकता में कोई भेद नहीं है। जब हम अपने प्रति अन्याय करनेवालों को क्षमा करते हैं तब हमारे और उनके बीच में जो दूरी तथा भेद था वह मिटने लगता है। उसका परिणाम यह होता है कि परस्पर में स्नेह की एकता उत्पन्न हो जाती है, जिससे हमारे और उनके बीच परस्पर हिंसा का भाव मिट जाता है। एक दूसरे का भला चाहने लगते हैं और फिर संघर्ष सदा के लिए मिट जाता है। इतना ही नहीं, जब दोषी के दोष को सहन करते हुए उसके बदले में उसके प्रति सद्भावना तथा सद्व्यवहार




किया जाता है तब उसके मन में स्वतः अपनी भूल का पश्चात्ताप होने लगता है। पश्चात्ताप की अग्नि ज्यों-ज्यों प्रज्वलित होती जाती है त्यों-त्यों उसके जीवन से दोष स्वतः भस्मीभूत होते जाते हैं, और फिर उसमें निर्दोषता का प्रादुर्भाव स्वतः हो जाता है।

अब विचार यह करना है कि क्षमा का स्वरूप क्या है? क्षमा अपने और विपक्षी के बीच में निर्वैरता की स्थापना करती है जिसके होते ही अपनी ओर से बुराई के बदले में भलाई स्वतः होने लगती है और अपने प्रति होने वाली बुराई की विस्मृति हो जाती है। इतना ही नहीं, क्षमा से पूर्व जो अपने प्रति बुराई प्रतीत होती थी, वह भलाई प्रतीत होने लगती है और क्षमाशील में स्वतः निरभिमानता आने लगती है। वह क्षमा इसलिए नहीं करता कि दूसरा अपराधी है, अपितु अपने ही को अपराधी मानकर क्षमा करता है। वह इस रहस्य को जान लेता है कि यदि मेरी भूल न होती तो मेरे साथ कोई बुराई कर ही नहीं सकता था; मेरी ही की हुई बुराई दूसरों के द्वारा मेरे सामने आती है, उस बेचारे का कोई दोष नहीं है, यदि मैं उससे किसी प्रकार का सम्बन्ध न जोड़ता, उससे आशा न करता, तो उसके द्वारा मेरे प्रति बुराई हो ही नहीं सकती थी।

किसी वस्तु, व्यक्ति आदि के द्वारा सुख की आशा करना तथा उसे अपना मानना प्रमाद है। इस प्रमाद से ही अपने प्रति बुराई होती है। वस्तुओं का सदुपयोग और व्यक्तियों की सेवा के लिए ही जीवन मिला है। उनसे सुख की आशा करना अथवा उनसे ममता करना अपनी ही भूल है। इस भूल का अन्त करते ही चित्त स्वतः शुद्ध हो जाता है, जिसके होते ही अपने प्रति न्याय और दूसरे के प्रति क्षमा स्वतः होने लगती हैं। शुद्धि का प्रादुर्भाव सदैव नित्य तथा विभु होता है, क्योंकि वह अनन्त की विभूति

है। अनन्त की विभूति कभी सान्त नहीं होती, अपितु अनन्त ही होती है। अशुद्धि सदैव सीमित और विनाशशील होती है क्योंकि उसकी उत्पत्ति सीमित अहम् भाव से होती है। इस दृष्टि से अशुद्धि का अन्त करना अनिवार्य है जिसके होते ही शुद्धि का प्रादुर्भाव स्वतः हो जाता है। अशुद्धि कोई ऐसी नहीं होती जिसमें कर्तृत्व न हो और शुद्धि सर्वदा स्वतःसिद्ध, स्वाभाविक होती है। इसीसे अशुद्धि का अन्त होते ही शुद्धि का प्रादुर्भाव हो जाता है।

अब विचार यह करना है कि न्याय तथा क्षमा के प्रयोग का क्रम क्या है? जब साधक को अपने शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि में अशुद्धि का दर्शन हो तब उसे इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि के प्रति न्याय करना चाहिए। अर्थात् उनसे विवेक पूर्वक असहयोग कर लेना चाहिए। ऐसा करते ही वे सभी स्वतः शुद्ध हो जाएँगे। कारण कि जिस वस्तु से ममता नहीं रहती वह अनन्त को समर्पित हो जाती है। यह नियम है कि जो वस्तु अनन्त को समर्पित हो जाती है वह अनन्त की कृपा-शक्ति से स्वतः शुद्ध हो जाती है, वह निन्दनीय नहीं रहती अपितु अनन्त के नाते सेवा तथा प्यार की पात्र बन जाती है।

चित्त शुद्ध हो जाने पर सभी साधन सफल हो जाते हैं। चित्त की शुद्धि के बिना केवल बलपूर्वक जो साधन किया जाता है उससे मिथ्या अभिमान की ही वृद्धि होती है, कोई विशेष लाभ नहीं होता। चित्त-शुद्धि के बिना जो कुछ किया जाता है वह निरर्थक ही सिद्ध होता है। चित्त शुद्ध हो जाने पर समस्त जीवन में सौंदर्य आ जाता है। इस दृष्टि से चित्त-शुद्धि जीवन का अत्यन्त आवश्यक अंग है। उसके लिए साधक को अपने लिए न्याय तथा दूसरों के प्रति क्षमा का प्रयोग करना है।

चित्त-शुद्धि होते ही शरीर, मन और बुद्धि आदि सभी शुद्ध हो जाते हैं। शरीर की शुद्धि में कर्म की शुद्धि निहित है, जिससे सुन्दर समाज का निर्माण होता है। मन की शुद्धि से योग सिद्ध होता है जो शान्ति तथा सामर्थ्य का प्रतीक है। बुद्धि की शुद्धि से बोध की प्राप्ति होती है जो अमर तथा चिन्मय जीवन का प्रतीक है। और अहम् शुद्ध हो जाने पर प्रेम का प्रादुर्भाव होता है जिसमें अनन्त अगाध रस है। इस दृष्टि से चित्त-शुद्धि में ही समस्त जीवन की पूर्णता निहित है।

१०-५-५६

: ६ :

मेरे निज स्वरूप परमप्रिय,

किसी भी की हुई, सुनी हुई, देखी हुई बुराई के आधार पर अपने को अथवा दूसरे को सदा के लिए बुरा मान लेने से चित्त अशुद्ध हो जाता है। बुराईकाल में ही कर्त्ता भले ही बुरा हो पर उससे पूर्व और उसके पश्चात् बुरा नहीं है। फिर भी उसे बुरा मानते रहना उसके प्रति घोर अन्याय है। प्राकृतिक नियम के अनुसार किसी में बुराई की स्थापना करना उसे बुरा बनाना है, और अपने प्रति बुराई के आने का बीज बोना है, क्योंकि कर्म-विज्ञान की दृष्टि से जो दूसरों के प्रति किया जाता है वह कई गुना अधिक होकर अपने प्रति होने लगता है, यह प्राकृतिक विधान है। इस दृष्टि से किसी को भी बुरा मानना अपने को बुरा बनाने में हेतु है; अथवा यों कहो कि अपने को भला बनाने के लिए दूसरों के प्रति भलाई करना तथा उन्हें भला समझना अनिवार्य है। किसी को बुरा मानने में न तो अपना ही हित है और न उसका जिसे बुरा मानते हैं। इस दृष्टि से किसी में भी कभी बुराई की स्थापना नहीं करनी चाहिए। यही चित्तशुद्धि का सुगम उपाय है।

कोई भी व्यक्ति सर्वांश में बुरा नहीं होता, सभी के लिए बुरा नहीं होता और सर्वदा बुरा नहीं होता। तो फिर किसी को बुरा मानना क्या मिथ्या नहीं है? अर्थात् अवश्य है। बुराई की प्रतीति अपने में हो अथवा दूसरे में, आंशिक होती है, और वह भी

सदैव नहीं रहती। व्यक्ति प्रमादवश भूतकाल की बुराई के आधार पर अपने को वर्तमान में बुरा मान लेता है। यह मान्यता की हुई बुराई की स्मृति-मात्र है, बुराई नहीं। यदि की हुई बुराई की स्मृति को अहम्भाव में स्थापित कर दिया गया तो बुराई की पुनरावृत्ति स्वतः होने लगती है। इस कारण की हुई बुराई की स्मृति की स्थापना न अपने में करनी चाहिए और न दूसरों में। हाँ, यदि बुराई की स्मृति वेदना जागृत करती है तो वह वेदना बुराई-जनित सुख का राग मिटाने में साधन-रूप है। पर कब? जब उस प्रकार की बुराई को, जिसकी कि वह स्मृति है, न दुहराने का दृढ़ संकल्प कर लिया जाय, और उसके विपरीत जो निर्दोपता है उसकी स्थापना कर ली जाय तो सभी दोप स्वतः मिट जाते हैं, क्योंकि किसी भी दोप की स्वतंत्र सत्ता नहीं है।

यह सभी जानते हैं कि अंधकार प्रकाश की ही न्यूनता है, पर अंधकार प्रकाश नहीं है। उसी प्रकार दोप गुण की ही न्यूनता है, पर दोप गुण नहीं है। हाँ, यह अवश्य है कि दोप का कोई अपना स्वतंत्र अस्तित्व नहीं हैं। इसी कारण उसकी निवृत्ति हो सकती है। यह नियम है कि निवृत्ति उसी की होती है जो सर्वदा न रहे। जब दोप सर्वदा रहनेवाली वस्तु नहीं है तब किसी को भी दोपी मानना किसी प्रकार भी न्यायसंगत नहीं है। पर प्राणी प्रमादवश अपने को तथा दूसरों को स्थायी रूप से दोपी मान लेता है। चित्तशुद्धि के लिए दोप-युक्त मान्यताओं का त्याग अनिवार्य है।

निर्दोप मान्यताएँ साधनरूप हैं। जो साधनरूप मान्यताएँ हैं वे कर्त्तव्य की प्रतीक हैं। कर्त्तव्य-पालन में विद्यमान राग की निवृत्ति तथा दूसरों के अधिकार की रक्षा निहित है। इस दृष्टि से कर्त्तव्य के अर्थ में केवल सर्व-हितकारी प्रवृत्ति ही आ सकती है। प्राकृतिक नियम के अनुसार प्रत्येक प्रवृत्ति निवृत्ति में स्वतः

बदल जाती है और निवृत्ति-काल में वह मान्यता भी मिट जाती है जिस मान्यता से प्रवृत्ति उत्पन्न हुई थी। यदि निवृत्ति-काल में मान्यता का अन्त नहीं होता तो समझना चाहिए कि साधन-रूप मान्यता नहीं थी अथवा मान्यता के अनुरूप विधिवत् कर्त्तव्य-पालन नहीं किया गया। इन्हीं दो कारणों से निवृत्ति-काल में मान्यता का अस्तित्व भासता है। साधनरूप मान्यता बीज है सर्व-हितकारी प्रवृत्ति का। सर्व-हितकारी प्रवृत्ति वासना-रहित निवृत्ति प्रदान करने में समर्थ है और निवृत्ति में सर्व-हितकारी प्रवृत्ति का सामर्थ्य विद्यमान है। इस दृष्टि से सर्व-हितकारी प्रवृत्ति और वासनारहित निवृत्ति एक दूसरे के पूरक हैं और चित्तशुद्धि में हेतु हैं।

वस्तु, व्यक्ति आदि किसी को भी बुरा तथा भला नहीं मानना चाहिए अपितु उनका सदुपयोग करना चाहिए। वस्तुओं के सदुपयोग से व्यक्तियों की सेवा सिद्ध होती है और व्यक्तियों की सेवा से समाज में सदाचार की वृद्धि होती है। स्वरूप से तो सभी वस्तुएँ परिवर्त्तनशील तथा विनाशी है, अतः उनके सम्बन्ध में कोई एक निश्चित धारणा करना भूल है। इस भूल से ही प्राणी वस्तुओं को भला-बुरा मानकर राग-द्वेष में आबद्ध हो जाता है, जो चित्त की अशुद्धि में हेतु है।

शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि सभी करण हैं, कर्त्ता नहीं। करण की निन्दा करना कर्त्ता की असावधानी है, और कुछ नहीं। कर्त्ता का प्रभाव ही करण में भासित होता है। अतः कर्त्ता अपनी शुद्धि-अशुद्धि को ही शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि में देखता है, पर कहता यह है कि मेरे शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि अशुद्ध हैं। जब कर्त्ता अपने में से वह अशुद्धि निकाल देता है, जो भूतकाल की घटनाओं के आधार पर

अपने में आरोपित कर ली है, तब शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि अपने आप शुद्ध हो जाते हैं। इस दृष्टि से अपने में से अशुद्धि का त्याग और उसमें शुद्धि की स्थापना अनिवार्य है, जिसके करते ही चित्त सदा के लिए शुद्ध हो जाता है। अपने को दोषी मानना दोष को निमन्त्रण देना है। अतः 'दोषी था पर अब नहीं हूँ' ऐसा मानते ही निर्दोषता की अभिव्यक्ति स्वतः हो जायगी।

सभी दोष, सभी बन्धन दोष-युक्त मान्यता पर ही जीवित हैं। अपने में निर्दोषता की स्थापना करते ही समस्त दोष तथा बन्धन स्वयं मिट जायंगे। दोष-युक्त मान्यताएँ रोग के समान हैं और निर्दोषता की स्थापना औषध के समान है। जिस प्रकार औषध रोग को खाकर स्वतः मिट जाती है उसी प्रकार निर्दोषता की स्थापना दोषों को खाकर स्वतः मिट जाती है, अर्थात् गुणों का अभिमान अंकित नहीं होता। दोष का अन्त होते ही अनन्त से नित्य सम्बन्ध तथा अभिन्नता हो जाती है और अहम्भाव गल जाता है; अथवा यों कहो कि अनन्त से नित्ययोग हो जाता है जो सभी मान्यताओं से अतीत है।

साधनरूप मान्यताएँ कर्त्तव्य-परायणता में परिवर्तित हो कर मिट जाती हैं और असाधन-रूप मान्यताएँ केवल अस्वीकृति-मात्र से मिट जाती हैं। अब विचार यह करना है कि असाधन-रूप मान्यताएँ चित्त में क्यों अंकित हैं? जिन दोष-युक्त प्रवृत्तियों के आधार पर असाधन-रूप मान्यता की स्वीकृति हुई थी, वह प्रवृत्ति वर्तमान में नहीं है परन्तु फिर भी हम उसका त्याग नहीं करते हैं, यह 'नहीं' को 'है' मानना है। मान्यता की खोज करने से उसका अस्तित्व नहीं मिलता और फिर उसकी स्वीकृति स्वतः मिट जाती है। पर मान्यता की खोज वही कर सकता है जो निज विवेक के प्रकाश में वस्तु, अवस्था आदि के स्वरूप को जानने का

प्रयत्न करे। यह नियम है कि जिसकी खोज हम ज्ञानपूर्वक करते हैं यदि उसका अस्तित्व है तो उससे एकता हो जाती है और यदि वह अस्तित्वहीन है तो उससे भिन्नता हो जाती है; अथवा यों कहो कि ज्ञान-द्वारा खोज करने से सत्य की प्राप्ति और असत्य की निवृत्ति हो जाती है। ज्ञान निवृत्ति या प्राप्ति कराने में समर्थ है, वह सम्बन्ध तथा किसी मान्यता में सद्भाव उत्पन्न नहीं करता। मान्यता का सद्भाव मिटते ही भेद नष्ट हो जाता है और सम्बन्ध टूटते ही राग-द्वेष मिट जाता है। राग-द्वेप-रहित होते ही किसी को बुरा-भला मानने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता और भेद-नाश होते ही अभिन्नता तथा आत्मीयता एवं स्वरूप से एकता हो जाती है जो योग, बोध, तथा प्रेम की प्राप्ति में हेतु है। इस दृष्टि से मान्यता केवल ऐसी वस्तु है कि खोज करने पर तो उसका पता ही न चले और विना खोज किए सत्य प्रतीत हो।

भूतकाल की प्रवृत्तियों को सत्य तथा स्थायी मानकर कोई भी व्यक्ति अपने को सर्वांश में निर्दोप सिद्ध नहीं कर सकता और प्रत्येक साधक की की हुई भूल न दोहराने का व्रत लेकर वर्त्तमान में ही निर्दोपता से अभिन्न हो सकता है। इस दृष्टि से अपने में अथवा दूसरों में दोषी भाव की स्थापना करना केवल मान्यता के आधार पर उसमें आबद्ध रहना है जो दोपों की पुनरावृत्ति का कारण है। अतः निर्दोप होने के लिए अपने तथा दूसरों में दोपी भाव की अस्वीकृति अनिवार्य है; अथवा यों कहो कि सभी मान्यताओं को त्याग, मान्यताओं के प्रकाशक, अनन्त से अभिन्न होने में ही निर्दोपता है। किसी भी मान्यता को सुरक्षित रखना अपने को दोषी बनाए रखना है। साधनरूप मान्यताओं को कर्त्तव्य-परायणता से और असाधन-रूप मान्यताओं को अस्वीकृति से मिटाना होगा, तभी चित्त शुद्ध हो सकता है।

मान्यता का सद्भाव विकल्परहित विश्वास है जो ज्ञान के समान भासता है। विश्वास का महत्त्व केवल कर्त्तव्य के प्रति, अनन्त के प्रति अथवा देह से अतीत अपने प्रति है। इसके अतिरिक्त जो विश्वास है वह प्रमाद है। कर्त्तव्यपरायणता रागनिवृत्ति के लिए है, अनन्त का विश्वास परम प्रेम के लिये है और अपना विश्वास अमरत्व के लिए अपेक्षित है। इसके अतिरिक्त साधक के जीवन में विश्वास का कोई सदुपयोग ही नहीं है। कर्त्तव्य का निर्णय प्राकृतिक विधान तथा निज विवेक पर निर्भर है। इसी कारण कर्त्तव्य-पालन में अधिकार है, फल में नहीं। कर्त्तव्य के बदले में किसी फल की आशा करना नवीन राग में आबद्ध होना है, जो वास्तव में अकर्त्तव्य है। कर्त्तव्य का सम्बन्ध प्राप्त परिस्थिति से है। अतः परिस्थिति के सदुपयोग मात्र में ही कर्त्तव्य का महत्त्व है। परिस्थिति का सदुपयोग सभी वस्तु, अवस्था आदि से असंग करने में समर्थ है। वस्तु, अवस्था आदि की असंगता समस्त कामनाओं का अंत कर देती है। कामनाओं का अंत होते ही चित्त शुद्ध हो जाता है जिससे जिज्ञासा की पूर्ति तथा प्रेम की प्राप्ति स्वतः हो जाती है, कारण कि कामनाओं की निवृत्ति होते ही चिरशांति तथा आवश्यक सामर्थ्य स्वतः आ जाता है। इस दृष्टि से कामना-निवृत्ति में ही समस्त कर्त्तव्यों की परावधि है।

असाधन-रूप मान्यता तो, दूसरों की कौन कहे, अपने लिए भी अपने को प्रिय नहीं होती, क्योंकि अपनी दृष्टि में भी जब हम दोषी रहना नहीं चाहते तो फिर किसी अन्य को दोषी मानना क्या उसके प्रति घोर अन्याय नहीं है? अवश्य है। अब रही साधन-रूप मान्यता की बात, जिससे कर्त्तव्य के द्वारा मुक्त होना है। कर्त्तव्य-पालन में सभी साधकों को सर्वदा स्वाधीनता है क्योंकि जो जिसे नहीं कर सकता वह उसका कर्त्तव्य ही नहीं है। इतना ही नहीं,

प्राकृतिक नियम के अनुसार प्रत्येक कर्त्ता में कर्त्तव्य का ज्ञान और उसकी पूर्ति का सामर्थ्य विद्यमान है, पर यह रहस्य वे ही साधक समझ पाते हैं जो वर्तमान वस्तु-स्थिति के आधार पर कर्त्तव्य-पालन तथा सत्य की खोज करते हैं। कर्त्तव्य-पालन में ही भोग की निवृत्ति और योग की प्राप्ति, असत्य की निवृत्ति और सत्य की प्राप्ति, काम की निवृत्ति और अनन्त की प्राप्ति निहित है।

अपने सम्बन्ध में जो अपनी मान्यता है वह भी विवेकसिद्ध नहीं है, क्योंकि अपने अर्थ में 'यह' को ले नहीं सकते। वाह्य वस्तुओं की तो कौन कहे—शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि आदि सभी वस्तुएँ 'यह' के अर्थ में आ जाती हैं। 'यह' से भिन्न जो 'मैं' है उसे किसी ने कभी किसी भी करण के द्वारा विषय नहीं किया। इस दृष्टि से अपने में भी अपनी मान्यता का दर्शन नहीं होता। इतना ही नहीं, खोज करने पर शरीर आदि किसी भी वस्तु का स्वतंत्र अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। प्रत्येक वस्तु समस्त सृष्टि से अभिन्न है। इस दृष्टि से समस्त सृष्टि भी एक वस्तु ही है। तो फिर किसे अपना और किसे पराया मानोगे? या तो सभी अपने हैं, या कोई भी वस्तु अपनी नहीं है। जब सभी अपने हैं तो किसको बुरा समझोगे और जिससे कोई सम्बन्ध नहीं, उसके प्रति कुछ भी कहना बनता नहीं। अतः अपने और दूसरों के सम्बन्ध में जो मान्यताएँ हैं उनका कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। अस्तित्वहीन को स्वीकार करना विवेक का विरोध है, और कुछ नहीं। विवेक के अनादर से ही चित्त अशुद्ध हुआ है; अतः उसका आदर करना चाहिए।

विवेक का आदर करते ही सृष्टिरूप वस्तु जिस अनन्त के किसी अंश-मात्र में भासित होती है उससे अभिन्नता हो जायगी और सृष्टि की आसक्ति तथा दासता सदा के लिए मिट जाएगी,

जिसके मिटते ही चित्त शुद्ध हो जायगा और अनन्त से अभिन्नता प्राप्त होगी। इस दृष्टि से सभी मान्यताओं से जो अतीत है, उसी को स्वीकार करना, उसी में विश्वास करना, उसी से नित्य सम्बन्ध जोड़ना और उसी का योग, बोध तथा प्रेम प्राप्त करना साधक का परम पुरुषार्थ है, जिसकी सिद्धि चित्त शुद्ध होने पर ही सम्भव है, और चित्त की शुद्धि अपने में और दूसरों में निर्दोषता की स्थापना करने में ही निहित है।

११-५-५६

: १० :

मेरे निज स्वरूप परमप्रिय,

विरह का उदय एवं जिज्ञासा की जागृति तथा शान्ति का सुरक्षित न रहना और निरर्थक संकल्प-विकल्पों का प्रवाह चलना चित्त की अशुद्धि है। यद्यपि विरह, जिज्ञासा तथा शान्ति ये तीनों ही स्वाभाविक हैं परन्तु चित्त की अशुद्धि के कारण प्रयत्न-द्वारा भी साध्य नहीं हैं, यह बड़े ही आश्चर्य्य की बात है।

प्राकृतिक नियम के अनुसार प्रत्येक कार्य के अन्त में विश्राम तथा शान्ति स्वतः आनी चाहिए। पर ऐसा नहीं होता। उसका एकमात्र कारण यह है कि होनेवाली प्रवृत्ति में कोई न कोई दोष है। प्रवृत्ति-जनित दोष की निवृत्ति से ही प्रवृत्ति के अन्त में विश्राम सम्भव है। जो प्रवृत्ति उत्कण्ठा, उत्साहपूर्ण स्वार्थ-भाव से रहित नहीं होती उस प्रवृत्ति के अन्त में विश्राम नहीं मिलता, कारण कि उत्कण्ठा के विना प्रवृत्ति में रस की उत्पत्ति नहीं होती और उत्साह के विना प्राप्त सामर्थ्य का सद्व्यय नहीं होता और स्वार्थ-भाव से रहित हुए विना प्रवृत्ति-जनित दासता से मुक्ति नहीं मिलती। इन तीनों कारणों से प्रवृत्ति के अन्त में भी प्रवृत्ति का ही चिन्तन रहता है जो निरर्थक संकल्प-विकल्प उत्पन्न करने में हेतु है।

उत्कण्ठा न होने में कारण है प्राप्त परिस्थिति का अनादर। वह अनादर तभी होता है जब साधक को प्राकृतिक न्याय के अनुसार प्राप्त परिस्थिति में अपने हित का दर्शन नहीं होता। उसका एक

मात्र कारण यह है कि प्राणी उत्पत्ति-विनाश-युक्त परिस्थिति को ही अपना अस्तित्व अथवा जीवन मान लेता है। प्रत्येक परिस्थिति स्वभाव से ही अपूर्ण तथा अभाव-युक्त है। उसमें जीवन-बुद्धि होने से अनेक प्रकार के अभाव प्रतीत होने लगते हैं। उन अभावों से पीड़ित हो प्राणी प्राप्त परिस्थिति से असन्तुष्ट होता है और अप्राप्त परिस्थिति का आवाहन करने लगता है। वह इस बात को भूल जाता है कि ऐसी कोई परिस्थिति हो ही नहीं सकती जो अभाव-युक्त न हो। यद्यपि प्रत्येक परिस्थिति विद्यमान राग-निवृत्ति का साधन-मात्र है, जो साधन-मात्र है उसे साध्य मानना प्रमाद है। इस प्रमाद से ही प्राणी कामना पूर्ति और अपूर्ति के जाल में आबद्ध हो जाता है जिससे सुख की आशा और दुःख का भय स्वतः उत्पन्न होता है, जो निर्दोप प्रवृत्ति में बाधक है। सदोप प्रवृत्ति का परिणाम यह होता है कि वर्तमान कार्य करने की उत्कण्ठा ही दब जाती है, जो उत्साह को भंग कर देती है। उत्साह भंग होते ही आलस्य तथा शिथिलता का आ जाना स्वाभाविक है। आलस्य के आते ही प्राणी अपने कर्तव्य को भूलता है और दूसरों के कर्तव्य की प्रतीक्षा करने लगता है जिससे स्वार्थ-भाव पुष्ट होता है। ज्यों-ज्यों ये दोप सबल होते जाते हैं त्यों-त्यों निरर्थक संकल्पों का प्रवाह चलने लगता है और प्रवृत्ति के अन्त में जो स्वतः आनेवाला विश्राम है, उससे साधक वञ्चित हो जाता है। विश्राम के बिना शांति सम्भव नहीं है और शान्ति के बिना आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति हो नहीं सकती। अतः दोपयुक्त प्रवृत्ति से ही जीवन में असमर्थता तथा पराधीनता आती है जो किसी को भी प्रिय नहीं है।

यह नियम है कि परिस्थिति में ही जीवन-बुद्धि होने से जड़ता आ जाती है जिसके आते ही प्राणी इन्द्रियों के स्वभाव में आबद्ध

हो जाता है। इन्द्रियों के स्वभाव में आबद्ध होते ही वस्तु, व्यक्ति आदि की दासता उत्पन्न हो जाती है जो वस्तुओं से अतीत के जीवन की जिज्ञासा को शिथिल कर देती है। यद्यपि जिज्ञासा प्राणी में स्वभावसिद्ध है, परन्तु इन्द्रिय-जन्य स्वभाव से तादात्म्य होने के कारण इन्द्रिय-ज्ञान का प्रभाव चित्त पर अंकित हो जाता है जिससे वह बुद्धि-जन्य ज्ञान का अनादर करने लगता है। ज्यों-ज्यों प्राणी बुद्धि-जन्य ज्ञान का अनादर करता है त्यों-त्यों इन्द्रिय-जन्य ज्ञान का प्रभाव बढ़ता जाता है। ज्यों-ज्यों इन्द्रिय-जन्य ज्ञान का प्रभाव बढ़ता है त्यों-त्यों वस्तुओं में सत्यता, सुन्दरता एवं सुखरूपता प्रतीत होने लगती है, जो कामनाओं को उत्पन्न करने में समर्थ है। कामना-पूर्ति द्वारा सुख की आशा ने ही जिज्ञासा को शिथिल कर दिया है। यदि इन्द्रिय-जन्य ज्ञान का उपयोग वर्तमान कार्य को पवित्र भाव से, सुन्दरतापूर्वक करने में हो और बुद्धि-जन्य ज्ञान से शरीर आदि वस्तुओं के स्वरूप पर विचार किया जाय तो, प्रत्येक वस्तु में परिवर्तन, क्षण-भंगुरता, मलीनता आदि विकारों का दर्शन होगा। बुद्धि-जन्य ज्ञान का प्रभाव ज्यों-ज्यों सबल तथा स्थायी होता जायगा त्यों-त्यों इन्द्रियों के ज्ञान का प्रभाव स्वतः मिटता जायगा, अर्थात् इन्द्रियों के ज्ञान का उपयोग होगा पर उसका प्रभाव न रहेगा। इन्द्रिय-जन्य ज्ञान का प्रभाव मिटते ही राग वैराग्य में, भोग योग में बदल जावेगा और कामना-निवृत्ति द्वारा चिर-शान्ति प्राप्त होगी जो जिज्ञासा-पूर्ति में समर्थ है, क्योंकि कामनाओं की निवृत्ति में ही जिज्ञासा की पूर्ति निहित है।

यह सभी जानते हैं कि चित्त को स्वभाव से ही रस की माँग है जिसकी प्राप्ति प्रीति से ही सम्भव है। जिस प्रकार प्राणी को सामर्थ्य तथा जीवन की माँग है, उसी प्रकार प्राणी को प्रेम भी

अभीष्ट है। पर प्रेम का उदय तभी सम्भव होगा जब साधक कामना-उत्पत्ति के दुःख से भयभीत न हो, कामना-पूर्ति के सुख में आवद्ध न हो और कामना-निवृत्ति की शान्ति में रमण न करे, अपितु प्रवृत्ति में सेवा का भाव और निवृत्ति में शान्ति से अतीत की लालसा उत्तरोत्तर बढ़ती रहे; क्योंकि प्रीति उसी को प्राप्त होती है जिसकी दृष्टि सदैव प्रिय को रस प्रदान करने में रहती हो, सुख की आशा में नहीं। सुख की आशा ने ही प्राणी को प्रेम से विमुख किया है। यद्यपि प्रेम का आदान-प्रदान सभी को सर्वदा अत्यन्त प्रिय है, क्योंकि प्रेम का रस निवृत्ति पूर्ति से विलक्षण है, इसी से उसके आदान-प्रदान में अगाध अनन्त रस है, परन्तु सुख-भोग की रुचि ने नित नूतन विरह का उदय नहीं होने दिया। इस दृष्टि से सुख-भोग की रुचि का अन्त होने पर ही विरह की जागृति सम्भव है।

यह नियम है कि जो प्राणी की स्वाभाविक माँग है, जिज्ञासा प्रिय लालसा और शान्ति, उसकी प्राप्ति की साधना में भी स्वाभाविकता होनी चाहिए। पर भुक्त-अभुक्त इच्छाओं के प्रभाव ने उस स्वाभाविकता का अपहरण कर लिया है। जिन इच्छाओं की पूर्ति प्राणी अनेक वार कर चुका है, उन इच्छाओं की पूर्ति की वास्तविकता को उसने नहीं जाना। उसका परिणाम यह हुआ है कि भुक्त इच्छाओं ने अभुक्त इच्छाओं को जन्म देकर साधक को संकल्प-विकल्पों के द्वन्द्व में आबद्ध कर दिया है।

यदि साधक सावधानीपूर्वक इच्छापूर्ति की स्वाभाविकता को जानने का प्रयास करता तो उसे भली-भाँति ज्ञात हो जाता कि इच्छाओं की पूर्ति में सुख कितना है और परिणाम में पराधीनता, जड़ता एवं शक्तिहीनता कितनी है। इच्छा पूर्ति के परिणाम का प्रभाव ज्यों-ज्यों सबल तथा स्थाई होता जाता है त्यों-त्यों इच्छा

पूर्ति की दासता स्वतः मिटती जाती है। जिस काल में साधक सर्वांश में उस दासता से मुक्त हो जाता है उसी काल में इच्छा पूर्ति का प्रभाव मिट जाता है, जिसके मिटते ही साधन में स्वतः स्वाभाविकता आ जाती है।

कामना-पूर्ति के सुख का प्रभाव रहते हुए साधक जब बलपूर्वक शान्ति एवं जिज्ञासा तथा प्रिय लालसा को जागृत करने का प्रयास करता है तब सफल नहीं होता; कारण कि भुक्त-इच्छाओं के सुख के प्रभाव ने चित्त को अशुद्ध कर दिया है। अतः चित्त के अशुद्ध रहते हुए शान्ति, जिज्ञासा एवं लालसा की जागृति सम्भव नहीं है।

जब तक साधक वस्तु, व्यक्ति आदि के आश्रय के बिना रह नहीं सकता तब तक चित्त-शुद्ध हो नहीं सकता, और जब तक वस्तुओं के स्वरूप को जानकर सत्य की खोज नहीं करता तब तक वस्तु आदि के आश्रय से रहित नहीं हो सकता। इस दृष्टि से सत्य की खोज में ही असत्य का त्याग, और असत्य के त्याग में ही चित्त की शुद्धि निहित है।

प्राप्त विवेक के प्रकाश में साधक वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप को जानने का प्रयास किए बिना ही बलपूर्वक चित्त को वस्तुओं से हटाना चाहता है; अथवा यों कहो कि चित्त में जो वस्तुओं का अस्तित्व अंकित है उसे निकालना चाहता है पर सफल नहीं होता। उसका एक मात्र कारण यह है कि बलपूर्वक जिसे दबाया जाता है वह कभी न कभी निकल ही जाता है, क्योंकि श्रम को विश्राम अनिवार्य है। इसी कारण दबा हुआ चित्त साधक के अधीन नहीं रहता। कभी साधक चित्त को दबाता है और कभी चित्त साधक को दबाता है। साधक और चित्त के मध्य संघर्ष उस समय तक चलता ही रहता है जब तक साधक विवेकपूर्वक

वस्तुओं की वास्तविकता को जान, वस्तुओं से अतीत के जीवन से नित्य सम्बन्ध तथा उससे स्वरूप की एकता स्वीकार नहीं कर लेता।

वस्तुओं से अतीत के जीवन से नित्य सम्बन्ध स्वीकार करते ही साधक में स्वभाव से ही उसके प्राप्त करने की उत्कट लालसा जागृत होती है, जिसके होते ही चित्त को वस्तुओं से हटाने का प्रयास नहीं करना पड़ता अपितु चित्त स्वतः हट जाता है। यह नियम है कि असत् को असत् जान लेनें पर सत् की खोज स्वतः जागृत होती है। ज्यों-ज्यों सत् की खोज सबल तथा स्थाई होती जाती है त्यों-त्यों असत् से सम्बन्ध तथा असत् की कामना अपने आप मिटती जाती है, जिसके मिटते ही चित्त स्वभाव से ही असत् से विमुख होकर सत् से अभिन्न हो जाता है। परन्तु असत् को असत् जाने बिना असत् से चित्त को हटाने का प्रयास निरर्थक ही सिद्ध होता है। अतः असत् को असत् जानकर ही सत् की खोज करनी चाहिए, कारण कि असत् के ज्ञान में ही सत् की खोज करने का सामर्थ्य निहित है।

वर्तमान कार्य ही सर्वोत्कृष्ट कार्य है। इस रहस्य को जान लेने पर चित्त स्वभाव से ही वर्तमान कार्य में लग जाता है। चित्त पर दबाव डालकर उसे लगाना नहीं पड़ता है। यह नियम है कि वर्तमान कार्य ठीक होने पर ही बिगड़े हुए भूल का परिणाम मिट सकता है और भविष्य उज्ज्वल हो सकता है। इस दृष्टि से वर्तमान कार्य ही सर्वोत्कृष्ट कार्य है। वर्तमान बिगड़ने से भविष्य कभी सुन्दर नहीं हो सकता। प्राकृतिक नियम के अनुसार वर्तमान का परिणाम ही भविष्य होता है। इस दृष्टि से साधक को वर्तमान कार्य बड़ी ही सुन्दरतापूर्वक, पूरी शक्ति लगाकर करना चाहिए।

आवश्यक कार्य की पूर्ति और अनावश्यक कार्य के त्याग में ही

शान्ति निहित है; क्योंकि आवश्यक कार्य न करने से और अनावश्यक कार्य चित्त में जमा रखने से ही अशांति रहती है। अतः आवश्यक कार्य कर डालने पर और अनावश्यक कार्य का त्याग करने से चित्त स्वतः शांत हो जाता है।

सत्य की खोज, प्रिय-लालसा, शांति तथा वर्तमान कार्य का आदर, इन चारों की ओर प्रगति होने पर तो चित्त साधक के आधीन रहता है। इनके अतिरिक्त किसी में भी यदि चित्त को लगाना चाहे तो चित्त स्वभाव से लग नहीं सकता और अस्वाभाविकता से अर्थात् बलपूर्वक लगाया हुआ चित्त कभी स्थिर नहीं रह सकता। यहाँ तक कि साधारण दैनिक कार्यों में भी श्रमपूर्वक दबाव डालकर जब चित्त को लगाना पड़ता है तब उसका परिणाम यह होता है कि चित्त में उत्तरोत्तर नीरसता, मलिनता और शक्तिहीनता बढ़ती जाती है, जिससे कार्य के अन्त में भी चित्त स्थिर नहीं हो पाता। स्थिरता के बिना चित्त शांत तथा प्रसन्न तो हो ही नहीं सकता।

यद्यपि प्रत्येक कार्य के अन्त में स्थिरता तो स्वभाव से ही आती है पर वह स्थिरता इतनी निर्जीव हो गई है कि उससे चित्त शांत नहीं हो पाता, कारण कि कार्य में प्रवृत्ति आसक्तिपूर्वक होती है। यह नियम है कि जो कार्य जिस भाव से किया जाता है अन्त में उसका परिणाम भी वही होता है। अतः आसक्तिपूर्वक किया हुआ कार्य आसक्ति को ही दृढ़ करता है, जिससे कार्य के अन्त में चित्त में स्वाभाविक स्थिरता नहीं आती। प्राकृतिक नियम के अनुसार तो प्रत्येक आवश्यक कार्य आसक्ति-निवृत्ति का साधन है, किन्तु स्वार्थभाव ने उसे नवीन राग की उत्पत्ति का हेतु बना दिया है। यदि चित्त शुद्ध करना है तो प्रत्येक कार्य स्वार्थभाव को त्याग, सावधानीपूर्वक करना होगा, जिससे विद्यमान राग की

निवृत्ति हो जायगी और नवीन राग उत्पन्न न होगा। रागरहित होते ही द्वेष स्वतः मिट जायगा, जिसके मिटते ही हृदय में स्नेह की वृद्धि होगी। स्नेह की वृद्धि से चित्त की नीरसता तथा खिन्नता मिट जायगी, जिसके मिटते ही चित्त शांत तथा प्रसन्न हो जायगा। ज्यों-ज्यों चित्त में शांति तथा प्रसन्नता बढ़ती जायगी त्यों-त्यों चित्त स्वस्थ होता जायगा। चित्त के स्वस्थ होते ही जो करना है वह स्वतः होने लगेगा और जो नहीं करना है उसकी उत्पत्ति ही न होगी, अर्थात् चित्त निर्दोष हो जायगा। निर्दोषता आते ही चित्त में से वस्तुओं का आश्रय स्वतः मिट जायगा और सत्य की खोज उदित होगी जो समस्त कामनाओं को खा जायगी। कामनाओं का अन्त होते ही निरर्थक संकल्प स्वतः मिट जायँगे और आवश्यक संकल्प अपने आप पूरे हो जायँगे, पर संकल्प-पूर्ति का सुख चित्त में अंकित न होगा जिससे निर्विकल्पता स्वभाव से ही आ जायगी। जिसके आते ही जो हो रहा है उसी में अखण्ड प्रसन्नता सुरक्षित रहेगी। अनुकूलता की दासता तथा प्रतिकूलता का भय मिट जायगा। निर्भय होते ही चिर-विश्राम, अगाध प्रीति, निस्सन्देहता स्वतः प्राप्त होगी जो वास्तविक जीवन है। अतः साधक को बड़ी ही सावधानीपूर्वक सब प्रकार के प्रलोभन तथा भय को त्याग, चित्त शुद्ध करने के लिए अथक प्रयत्नशील रहना चाहिये।

१२-५-५६

: ११ :

मेरे निज स्वरूप परमप्रिय,

भय तथा प्रलोभन में आबद्ध होना ही चित्त की अशुद्धि है। अतः चित्तशुद्धि के लिए इन दोनों का अन्त करना होगा। अब विचार यह करना है कि भय तथा प्रलोभन की उत्पत्ति ही क्यों होती है। जब हमारी प्रसन्नता किसी और पर, अर्थात् जो अपना नहीं है, अथवा अपने से भिन्न है उस पर निर्भर हो जाती है, तब अनेक प्रकार के भय तथा प्रलोभन उत्पन्न हो जाते हैं जो चित्त को अशुद्ध कर देते हैं।

वस्तुओं की ममता, विश्वास में विकल्प, विवेक का अनादर इन तीन कारणों से ही समस्त दोषों की उत्पत्ति होती है। यद्यपि कोई भी वस्तु प्राकृतिक नियम के अनुसार व्यक्तिगत नहीं है क्योंकि किसी भी वस्तु का समष्टि शक्तियों तथा सृष्टि से विभाजन नहीं हो सकता, परन्तु प्राणी प्रमादवश काल्पनिक भेद स्वीकार कर, वस्तुओं को अपनी मान लेता है। उसका परिणाम यह होता है कि जो अपना है उसे अपना नहीं मान पाता और जो अपना नहीं है उसे अपना मान बैठता है। जो अपना है उसे अपना न मानना उससे मानी हुई भिन्नता स्वीकार करना है, और जो अपना नहीं है उसे अपना मानना मानी हुई एकता स्वीकार करना है। मानी हुई भिन्नता ने अपने से अपनी प्रीति नहीं होने दी और मानी हुई एकता से अनेक प्रकार की आसक्तियाँ उत्पन्न हो गईं जिन्होंने

प्राणी को पराधीन बना दिया, जड़ता में आबद्ध कर दिया, जिससे अनेक प्रकार के भय तथा प्रलोभन उत्पन्न हो गए। जब तक मानी हुई एकता और मानी हुई भिन्नता का अंत न कर दिया जाय तब तक भय तथा प्रलोभन से मुक्त होना सम्भव नहीं है। इन दोनों में से किसी एक का अन्त होने पर दोनों का अन्त हो जाता है, क्योंकि मानी हुई एकता से ही अपने से मानी हुई भिन्नता की उत्पत्ति होती है, और मानी हुई भिन्नता से ही पर से मानी हुई एकता की उत्पत्ति होती है।

क्या कोई ऐसी वस्तु है जिससे मानी हुई एकता न हो ? अर्थात् सभी वस्तुओं से एकता केवल मानी हुई है। जब साधक विवेक-पूर्वक किसी भी वस्तु को अपना नहीं मानेगा तब सुगमतापूर्वक वस्तुओं की दासता से मुक्त हो जावेगा। वस्तुओं की दासता से मुक्त होते ही सभी कामनाएँ मिट जाएँगी ! कामनाओं का अन्त होते ही अपने से जो अपनी दूरी तथा भेद प्रतीत होता था, वह स्वतः मिट जावेगा, जिसके मिटते ही समस्त भय तथा प्रलोभन निर्मूल हो जायँगे।

वस्तुओं को अपना न मानने में कठिनाई क्या है ? 'जो जानते हैं उसे नहीं मानते', यही भूल वस्तुओं को अपना न मानने में प्राणी को समर्थ नहीं होने देती। अपनी जानकारी के विरोध को सहन कर लेने से ही प्राणी वस्तुओं को अपनी मानता है। जानकारी के विरोध को सहन कर लेना ही असावधानी है जो मृत्यु के समान है।

यद्यपि साधक के जीवन में असावधानी के लिए कोई स्थान ही नहीं है, क्योंकि असावधानी ही प्राणी को अमरत्व से मृत्यु, सत्य से असत्य और चेतना से जड़ता की ओर ले जाती है; परन्तु भोगासक्ति ने ही प्राणी को असावधान बना दिया है। अतः

असावधानी का अन्त करने के लिए भोगासक्ति का अन्त करना होगा, और भोगासक्ति का अन्त करने के लिए भोग की वास्तविकता को जानना अनिवार्य है। भोग की रुचि में जितनी मधुरता है उतनी तो भोग-प्रवृत्ति में भी नहीं है। भोग-प्रवृत्ति के आरम्भ काल में जितना सुख है उतना मध्य में नहीं है और अन्त में तो सुख की गंध भी नहीं रहती, अपितु उसके परिणाम में तो अनेक प्रकार के रोग ही उत्पन्न होते हैं। भोग की वास्तविकता का परिचय हो जाने पर भोग की रुचि योग की लालसा में बदल जाती है। योग की लालसा ज्यों-ज्यों सबल तथा स्थायी होती जाती है त्यों-त्यों भोग-वासनाएँ स्वतः मिटती जाती हैं। जिस काल में भोग-वासनाओं का अंत हो जाता है, उसी काल में योग की उपलब्धि हो जाती है और सभी वस्तुओं से ममता मिट जाती है जिसके मिटते ही वस्तुओं से अतीत के जीवन में प्रवेश हो जाता है, जिसके होते ही निर्भयता स्वतः आ जाती है। इस दृष्टि से साधक प्राप्त वस्तुओं की ममता का त्याग और अप्राप्त वस्तुओं की कामना से रहित बड़ी ही सुगमता पूर्वक हो सकता है जो विवेकसिद्ध है। अब यह विचार करना है कि भोग की रुचि की उत्पत्ति क्यों होती है। अपने को देह मानकर इन्द्रिय-जन्य स्वभाव से तद्रूप हो जाने से भोग की रुचि उत्पन्न होती है। यदि विवेकपूर्वक अपने को देह से असंग कर लिया जाय, अर्थात् देह से जो मानी हुई एकता है उसका त्याग कर दिया जाय तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक भोग की रुचि का अंत हो सकता है। भोग की रुचि के अंत में ही भोग-वासनाओं का अंत निहित है।

अब विचार यह करना है कि देह से असंग होने में प्रतिबन्ध क्या है? निज विवेक का अनादर और इन्द्रियों के ज्ञान का आदर ही साधक को देह से असंग नहीं होने देता। इन्द्रियों के

ज्ञान का उपयोग भले ही हो पर आदर निज विवेक का होना चाहिए। निज विवेक के आदर से इन्द्रिय-ज्ञान का प्रभाव जो चित्त पर अंकित है वह मिट जायगा, जिसके मिटते ही भोग की रुचि स्वतः नष्ट हो जायगी, जिसके होते ही देह से असंगता आ जायगी, जो भोग-वासनाओं का अन्त करने में समर्थ है। भोग-वासनाओं का अन्त होते ही अपने से जो भिन्न है उससे वियोग और अपने से अपना नित्ययोग स्वतः हो जाता है, जिसके होते ही चिरशान्ति, स्वाधीनता एवं अमरत्व तथा चिन्मय जीवन से अभिन्नता हो जाएगी। उसके हुए बिना साधक न तो वस्तुओं की दासता से मुक्त हो सकता है और न भय तथा प्रलोभन ही मिट सकता है। इस दृष्टि से जिन वस्तुओं से मानी हुई एकता स्वीकार कर ली थी उनसे असंगता, और जो अपने से अपनी मानी हुई दूरी तथा भेद उत्पन्न हो गया था उसका अन्त करना अनिवार्य है। इसके बिना चित्त शुद्ध नहीं हो सकता। अपने में अपना योग स्वाभाविक है, और वस्तुओं से संयोग अस्वाभाविक है। वस्तुओं के संयोग में ही अपना महत्त्व समझना दीनता तथा अभिमान में आबद्ध होने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यह नियम है कि जो अस्वाभाविक है उससे नित्य सम्बन्ध हो ही नहीं सकता। जिससे नित्य सम्बन्ध नहीं हो सकता उसमें जीवन नहीं है। अतः जो साधक वस्तुओं से अतीत के जीवन पर विकल्परहित विश्वास कर लेता है, वह बड़ी ही सुगमता-पूर्वक समस्त प्रलोभनों से मुक्त हो जाता है। और फिर उसकी प्रसन्नता किसी और पर निर्भर नहीं रहती, अपितु अपने ही में अपने परम प्रेमास्पद को पाकर कृत-कृत्य हो जाता है। वास्तव में तो अपने से अपना वियोग हो ही नहीं सकता परन्तु वस्तुओं के संयोग में जीवन-बुद्धि स्वीकार करने से ही प्राणी

अपने नित्य योग को भूल गया है जिसे शीघ्रातिशीघ्र प्राप्त कर लेना चाहिए; अथवा यों कहो कि जो नित्य प्राप्त है उससे प्रीति हो जानी चाहिए। वह तभी सम्भव होगी जब सभी कामनाओं का अन्त कर दिया जाय, जो विवेकसिद्ध है। कामनाओं का अन्त होते ही दृष्टि बिना ही दृश्य के और चित्त बिना ही आधार के शांत हो जाता है, जो सहज योग है।

वस्तु, व्यक्ति आदि के वियोग के भय से ही चित्त अशुद्ध हो गया है। यद्यपि वस्तु, व्यक्ति आदि का वियोग स्वाभाविक है, परन्तु उनके वियोग में जो नित्ययोग स्वतः सिद्ध है उसकी ओर अग्रसर न होने से प्राणी व्यर्थ ही भयभीत होता है। यह सभी जानते हैं कि गहरी नींद में प्राणी प्रिय से प्रिय वस्तु और व्यक्ति का त्याग स्वभाव से ही अपना लेता है, और उस अवस्था में किसी प्रकार के दुःख का अनुभव नहीं करता, अपितु जागृत अवस्था में यही कहता है कि बड़े सुख से सोया। प्राकृतिक नियम के अनुसार कोई भी स्मृति अनुभूति के बिना नहीं हो सकती। गहरी नींद में कोई दुःख नहीं था, यह अनुभूति क्या साधक को वस्तु, व्यक्ति आदि से अतीत के जीवन की प्रेरणा नहीं देती? अर्थात् अवश्य देती है। इस अनुभूति का आदर न करने से ही प्राणी वस्तु, व्यक्ति आदि के वियोग से भयभीत होता है। अब यदि कोई यह कहे कि गहरी नींद में तो जड़ता थी इस कारण दुःख नहीं प्रतीत हुआ। गहरी नींद के समान स्थिति यदि जागृत में प्राप्त कर ली जाय तो यह सन्देह निर्मूल हो जावेगा और यह स्पष्ट बोध हो जाएगा कि वस्तु, व्यक्ति आदि के बिना भी जीवन है और उस जीवन में किसी प्रकार का अभाव नहीं है।

वस्तु, व्यक्ति आदि की दासता में प्राणी क्यों आबद्ध हो गया है? अपने को वस्तु मानकर। यद्यपि वस्तु का ज्ञान जिसको है

वह स्वयं वस्तु नहीं है, परन्तु यदि वह अपने को ही वस्तु मान बैठे तो वह फिर अनेक वस्तु, व्यक्ति आदि की आवश्यकता अनुभव करने लगता है। साधक इन्द्रियों के द्वारा जिन वस्तुओं, व्यक्तियों को देखता है और बुद्धि के द्वारा जिन वस्तु, व्यक्तियों को जानता है, और जिस ज्ञान से बुद्धि तथा इन्द्रियों को जानता है उस ज्ञान के अतिरिक्त जो कुछ प्रतीत होता है वह वस्तु है। वस्तु और ज्ञान में अन्तर यह है कि कोई भी वस्तु अपने को अपने आप प्रकाशित नहीं करती, किन्तु ज्ञान अपने को और अपने से भिन्न वस्तुओं को प्रकाशित करता है। उस स्वयंप्रकाश ज्ञान को वस्तु नहीं कह सकते। उस ज्ञान में जिसका योग है वह बड़ी ही सुगमतापूर्वक गहरी नींद के समान उस स्थिति को प्राप्त कर सकता है जिसमें दुःख नहीं है। इतना ही नहीं, गहरी नींद में जड़ता के कारण साधक उस ज्ञान से अभिन्न नहीं हो पाता परन्तु जागृत में अभिन्न हो सकता है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि वस्तु, व्यक्ति आदि से अतीत के जीवन में दुःख तथा अभाव नहीं है। तो फिर वस्तु, व्यक्ति आदि के वियोग से भयभीत होना केवल अपनी भूल के अतिरिक्त और क्या हो सकता है। अतः भूल का अंत होते ही वस्तु, व्यक्ति आदि के वियोग का भय स्वतः मिट जाता है और उसके मिटते ही चित्त शुद्ध हो जाता है। सम्बन्ध तथा विश्वास के आधार पर ही वस्तु, व्यक्ति आदि से एकता का भास होता है। वस्तुओं के स्वरूप का ज्ञान होने पर उनका विश्वास मिट जाता है और सम्बन्ध-विच्छेद होने पर वस्तुओं से भिन्नता का बोध हो जाता है। वस्तुओं का विश्वास मिटते ही लोभ-मोह आदि सभी दोष मिट जाते हैं, और वस्तुओंसे भिन्नता का अनुभव होते ही अमरत्व प्राप्त होता है। लोभ, मोह आदि दोषों के मिटते ही हानि का भय और लाभ का प्रलोभन,

वियोग का भय और संयोग का प्रलोभन स्वतः मिट जाता है।

वस्तुओं और व्यक्तियों के विश्वास और सम्बन्ध को अल्पसे अल्प काल के लिए भी यदि तोड़कर अनुभव किया जाय तो उस जीवनमें कितना रस है इसकी तुलना उस सुख से नहीं की जा सकती जो अनन्त काल से वस्तु और व्यक्तियों के सम्बन्ध से मिलता रहा है। पर ऐसा विश्वास उन्हीं साधकों को होना सम्भव है जो चित्त की अशुद्धि को सहन नहीं कर सकते। अशुद्धि-जनित सुख की लोलुपता में आसक्त बेचारा प्राणी उस रस की लालसा ही नहीं कर पाता जो उसका अपना ही है।

वस्तुओं से सम्बन्ध-विच्छेद होते ही प्राणी राग-रहित हो जाता है। राग-रहित होते ही योग के साम्राज्य में स्वतः प्रवेश हो जाता है अर्थात् अनावश्यक संकल्प मिट जाते हैं और आवश्यक संकल्प कर्तृत्व के अभिमान के बिना ही स्वतः पूरे हो जाते हैं, और उन संकल्पों की पूर्ति का सुख चित्त में अंकित नहीं होता। उसका परिणाम यह होता है कि प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त में स्वतः योग हो जाता है। यदि योग से प्राप्त सामर्थ्य का व्यय पुनः योग में न किया जाय तो साधक का बोध के साम्राज्य में प्रवेश हो जाता है जो अखण्ड नित्य जीवन है। योग के साम्राज्य में पराधीनता, असमर्थता एवं अशान्ति नहीं रहती। बोध के साम्राज्य में किसी प्रकार का भय तथा सन्देह नहीं रहता। निस्सन्देहता तथा निर्भयता आते ही अपने में ही अपने परम प्रेमास्पद को प्राप्त कर प्राणी अगाध अनन्त रस से छक जाता है, क्योंकि प्रेमी और प्रेमास्पद में प्रेम का ही आदान-प्रदान है जो रस रूप है। प्रेम प्रेमी का जीवन और प्रेमास्पद का स्वभाव है। प्रेम के साम्राज्य में प्रवेश होने पर किसी प्रकार का प्रलोभन

शेष नहीं रहता, क्योंकि समस्त प्रलोभन व्यक्तित्व के अभिमान से ही जीवित हैं और प्रेम के साम्राज्य में प्रवेश तभी होता है जब व्यक्तित्व का अभिमान गल जाय। इस दृष्टि से योग-बोध तथा प्रेम के साम्राज्य में अशान्ति, भय एवं प्रलोभन आदि सब प्रकार की अशुद्धियों का अन्त होता है। बस यही चित्त की शुद्धि है।

२३-५-५६

: १२ :

मेरे निज स्वरूप परमप्रिय,

वर्त्तमान नीरस हो जाने पर, अर्थात् सरस न रहने से भी चित्त अशुद्ध हो जाता है, कारण कि नीरसता खिन्नता को और खिन्नता क्षोभ को, क्षोभ क्रोध को और क्रोध कर्तव्य की विस्मृति को उत्पन्न करता है। यह नियम है कि कर्त्तव्य की विस्मृति से ही अकर्त्तव्य में प्रवृत्ति होती है जो अवनति का मूल है।

अब विचार यह करना है कि वर्त्तमान निरस क्यों होता है। प्राकृतिक विधान में अपना हित निहित है—इसको भूलने से, प्रतिकूलताओं से भयभीत होकर अपने पर अविश्वास करने से, निर्वल से निर्वल प्राणी का भी कर्त्तव्य है—और कर्त्तव्य-परायणता में विकास है—इस मूल सिद्धान्त को न मानने से, वर्त्तमान निरस हो जाता है।

प्रत्येक परिस्थिति प्राकृतिक न्याय है। प्राकृतिक न्याय में किसी का अहित नहीं है, क्योंकि प्राकृतिक न्याय क्षोभ तथा क्रोध से रहित है। इतना ही नहीं अपितु उदारता यथा हितकामना से भरपूर भी है। अतः प्रतिकूल परिस्थिति से भयभीत होना सर्वथा निरर्थक है। भयभीत होते ही प्राणी प्राप्त सामर्थ्य तथा योग्यता का सदुपयोग नहीं कर पाता। इसी कारण वर्त्तमान नीरस हो जाता है।

अपने पर अविश्वास होने से अपने कर्त्तव्य पर भी विश्वास

नहीं रहता। यह नियम है कि जिसे कर्त्तव्य पर विश्वास नहीं रहता उसे अपने लक्ष्य पर भी विश्वास नहीं रहता। लक्ष्य-विहीन प्राणी किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो, अधीर हो जाता है, अर्थात् जीवन - संग्राम में हार स्वीकार कर व्यर्थ चिन्तन में आबद्ध हो जाता है। इस दृष्टि से अपने पर अविश्वास समस्त अनर्थों का मूल है। अपने पर विश्वास का अर्थ देह आदि वस्तुओं का विश्वास नहीं है, प्रत्युत वस्तुओं पर अविश्वास होने पर ही अपने पर विश्वास होता है— और अपने पर विश्वास होने पर ही उस अनन्त पर विश्वास होता है जो सभी का सब कुछ है। अपने पर विश्वास होने पर ही प्राकृतिक विधान में श्रद्धा होती है। इस दृष्टि से अपने पर अपना विश्वास ही सब प्रकार के विकास का मूल है।

अपने पर विश्वास होते ही निर्बल से निर्बल प्राणी भी कर्त्तव्य-परायण हो सकता है; कारण कि निर्बलता अनन्त बल पर निर्भर होने की प्रेरणा देती है। निर्बलता अनन्त बल की माँग है, और कुछ नहीं। यदि बल कामना-पूर्ति के लिए साधन-मात्र है तो निर्बलता की वेदना कामना निवृत्ति की ओर अग्रसर करने में समर्थ है। प्रत्येक प्राणी कामना पूर्ति के पश्चात् उसी स्थिति में आता है जिस स्थिति में वह कामना-उत्पत्ति से पूर्व था। इस दृष्टि से कामना-पूर्ति का कोई विशेष महत्त्व नहीं है। उसकी अपेक्षा कामना-निवृत्ति का कहीं अधिक महत्त्व है। अतः निर्बल से निर्बल प्राणी का भी कर्त्तव्य है। कर्त्तव्य से निराश होना केवल अपने पर अविश्वास करना है, और कुछ नहीं। यह नियम है कि कर्त्तव्यपरायणता सफलता की कुञ्जी है। अतः जीवन-संग्राम में हार स्वीकार करना प्रमाद के अतिरिक्त और कुछ नहीं।

वर्त्तमान की नीरसता कर्त्तव्य से विमुख कर देती है और फिर प्राणी अकर्त्तव्यपूर्वक उस निरसता को मिटाने का प्रयास

करता है, परन्तु वह उत्तरोत्तर वृद्धि को ही प्राप्त होती है, क्योंकि अकर्त्तव्य से असफलता ही होती है, इस दृष्टि से अकर्त्तव्य का साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। वर्तमान की नीरसता के कारण ही प्राणी क्षुभित और क्रोधित होता है। क्षुभित होने से प्राप्त शक्ति का ह्रास और क्रोधित होने से प्रमाद की उत्पत्ति होती है, जिससे बेचारा प्राणी प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग में अपने को असमर्थ पाता है, अर्थात् उसे उचित मार्ग नहीं मिलता। यद्यपि प्राकृतिक नियमानुसार प्राणी प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग में सर्वथा स्वाधीन है परन्तु अधीर हो जाने के कारण जानते हुए न जानने के समान, और मानते हुए न मानने के तुल्य हो जाता है। इतना ही नहीं, जो कर सकता है उसके करने में भी अपने को असमर्थ मान बैठता है। उसका परिणाम यह होता है कि जो न होनेवाली बातें हैं उनका चिन्तन करने लगता है और जो होनेवाली बातें हैं उनसे अपने को बचाता है। इस भयंकर परिस्थिति में ही प्राणी पागल होता है, आत्महत्या करने की सोचता है, दूसरों के दुःख की ओर ध्यान ही नहीं देता। उसका मस्तिष्क इच्छापूर्ति के चिन्तन में ही लगा रहता है, जिससे प्राप्त परिस्थिति का अनादर होने लगता है। यह नियम है कि प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग से वर्त्तमान सरस होता है और भविष्य आशाजनक हो जाता है। अतः प्राप्त परिस्थिति का अनादर करना सर्वथा त्याज्य है क्योंकि उससे चित्त अशुद्ध ही होता है। किन्तु वर्तमान की नीरसता से अपने प्रति ग्लानि और प्राप्त परिस्थिति से खीझ होने लगती है जिससे प्राणी के स्वभाव में चिड़चिड़ापन, कटुता आदि अनेक दोष आ जाते हैं, जिससे मानसिक व्यथा उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। उस व्यथा को मिटाने के लिए बेचारा प्राणी मादक द्रव्यों का सेवन करने लगता है, पर-निन्दा में रत रहता है और अपने में मिथ्या गुणों एवं वैभव का

आरोप करता है अर्थात् हवाई किले बनाता रहता है, पर इन सब मिथ्या उपचारों से उसकी मानसिक व्यथा दूर नहीं होती, अपितु उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती है। ऐसी दशामें किसी प्रकार यदि उसे अपने पर विश्वास हो जाय और वह प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग में लग जाय तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक उसके सभी विकार मिट जायँगे। पर यह तभी सम्भव होगा जब वह अपनी परिस्थिति के अनुसार किसी न किसी कार्य में लगा रहे।

यह नियम है कि श्रमी जीवन में संयम तथा सदाचार स्वतः आने लगता है जिसके आते ही मानसिक खीझ मिटने लगती है। ज्यों-ज्यों खीझ मिटती जाती है त्यों-त्यों मन में स्थिरता तथा शांति अपने आप बढ़ती जाती है। ज्यों-ज्यों स्थिरता एवं शांति बढ़ती जाती है त्यों-त्यों पराधीनता मिटती जाती है और स्वाधीनता का प्रादुर्भाव होने लगता है, जिसके होते ही वर्तमान सरस हो जाता है, जो विकास का मूल है।

नीरसता केवल प्रतिकूलता से ही नहीं आती और सरसता केवल अनुकूलता की ही देन नहीं है। कितनी ही भयंकर प्रतिकूलता क्यों न हो यदि प्राणी हार स्वीकार नहीं करता और धैर्य्य को नहीं त्यागता तो उसका वर्त्तमान नीरस नहीं हो सकता, अपितु प्रतिकूलता की वेदना एक नवीन सामर्थ्य को जन्म देती है; यह प्राकृतिक नियम है। इस दृष्टि से प्रतिकूल परिस्थिति तो विकास का ही साधन है, नीरसता का नहीं। अनुकूलता तो प्राणी को सुख में ही आवद्ध करती है। यह नियम है कि सुख से दुःख दब जाता है, मिटता नहीं। दबा हुआ दुःख बढ़ता ही है घटता नहीं। अतः अनुकूलता ही से नीरसता मिटेगी, यह मान लेना भूल है। इतना ही नहीं, अनुकूलता जड़ता में आवद्ध कर वर्त्तमान को नीरस बना देती है। वर्तमान को सरस बनानें में अनुकूलता भी तभी समर्थ हो

सकती है जब उसमें उदारता-जनित करुणा आ जाय, अर्थात् पर-दुःख को अपना ले। इस दृष्टि से सरसता का हेतु प्रत्येक परिस्थिति में दुःख ही है। प्रतिकूल परिस्थिति का जो दुःख है उससे यदि हम भयभीत न हों तो त्याग के द्वारा वर्त्तमान सरस बन सकता है।

अनुकूल परिस्थिति में जो सरसता उदारता से आती है वही सरसता प्रतिकूल परिस्थिति में त्याग से प्राप्त होती है। इस दृष्टि से अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति वर्त्तमान को सरस बनाने में हेतु नहीं हैं, अपितु उनका सदुपयोग ही नीरसता मिटाने में समर्थ है। अब यदि कोई यह कहे कि प्रतिकूलता जीवन में आती ही क्यों है जब कि प्राकृतिक न्याय उदारतापूर्ण है? अनुकूल परिस्थिति के सदुपयोग द्वारा जब प्राणी सभी परिस्थितियों से अतीत के जीवन की ओर अग्रसर नहीं हो पाता, अपितु अनुकूल परिस्थिति की दासता में ही आबद्ध हो जाता है तब उस दासता से मुक्त करने के लिए प्रतिकूल परिस्थिति आती है। इस दृष्टि से प्राकृतिक न्याय सर्वदा प्राणी के लिए हितकर ही है। अतः प्राकृतिक न्याय के प्रति सदैव श्रद्धा रखनी चाहिए। इस दृष्टि से जो कुछ स्वतः हो रहा है उसमें प्राणी का कभी अहित नहीं है। अहित होता है प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग न करने से। यह नियम है कि परिस्थिति के सदुपयोग के बिना प्राणी सभी परिस्थितियों से अतीत के जीवन में प्रवेश ही नहीं कर सकता। अतः अप्राप्त परिस्थिति के चिन्तन से रहित, प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग में ही प्राणी का विकास निहित है।

जब तक प्राणी अपने विकास के लिए अपने को पराधीन मानता है तब तक उसका चित्त शुद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि चित्त की शुद्धि अपने ही कर्त्तव्य पर निर्भर है, उसके लिए किसी दूसरे

के कर्त्तव्य की ओर नहीं देखना है और न अप्राप्त वस्तु, योग्यता आदि का आवाहन करना है। कर्त्तव्यनिष्ट होने पर अप्राप्त योग्यता तथा वस्तु स्वतः प्राप्त होती है। वस्तुओं तथा योग्यता का अभाव तभी तक रहता है जब तक प्राणी प्राप्त वस्तु तथा योग्यता का सदुपयोग नहीं करता। कर्त्तव्यपालन के लिए सामर्थ्य देना उस अनन्त का विधान है। साधक को तो केवल प्राप्त सामर्थ्य का सद्व्यय करना है। अतः बल के सदुपयोग तथा विवेक के आदर में ही अप्राप्त की प्राप्ति निहित है। विवेक के अनादर तथा बल के दुरुपयोग से ही प्राणी पराधीन हो गया है। वह पराधीनता उसकी अपनी बनाई हुई भूल है। यह नियम है कि भूल को भूल जान लेने पर भूल स्वतः मिट जाती है। कर्त्तव्यपालन प्रत्येक परिस्थिति में सम्भव है। कर्त्तव्यनिष्ट होते ही समाज का सहयोग, प्राकृतिक विधान की अनुकूलता स्वतः प्राप्त होती है। प्राणी अपने अकर्त्तव्य से ही वर्तमान को नीरस बना लेता है। अभाव की वेदना में अभाव का अभाव करने का सामर्थ्य है। वेदना और नीरसता में एक बड़ा भेद है। नीरसता खिन्नता प्रदान कर क्षुब्ध कर देती है जिससे प्राणी भयभीत होकर कर्त्तव्य से च्युत हो जाता है, किन्तु वेदना ज्यों-ज्यों सबल होती है त्यों-त्यों प्राणी में उत्कंठा तथा उत्साहपूर्वक कर्त्तव्य-परायणता आती है और ज्यों-ज्यों कर्त्तव्य-परायणता आती है त्यों-त्यों आवश्यक सामर्थ्य स्वतः आता है। आए हुए सामर्थ्य के सदुपयोग से प्राणी स्वाधीनता और निस्सन्देहता प्राप्त कर लेता है। स्वाधीनता तथा निस्सन्देहता आने पर नित्य चिन्मय जीवन से अभिन्नता हो जाती है।

प्रतिकूल परिस्थिति भोग में भले ही बाधक हो, पर योग में नहीं। इस दृष्टि से प्रतिकूलता का भय सत्य के जिज्ञासु साधक के लिए कुछ अर्थ नहीं रखता, अपितु सत्य की खोज में सहयोग ही

देता है। प्रतिकूलता से भय उन्हीं प्राणियों को होता है जो वस्तुओं से अतीत के जीवन में विश्वास नहीं करते। वस्तुओं के विश्वास के आधार पर ही प्राणी अपने वास्तविक विश्वास को खो बैठा है। अपने विश्वास को खोकर ही बेचारा प्राणी खिन्नता, नीरसता, क्षोभ, क्रोध आदि में आबद्ध हो गया है।

इस दृष्टि से अपने विश्वास को सुरक्षित रखने के लिए वस्तुओं की दासता से मुक्त होना अनिवार्य है। जो अपने पर विश्वास कर सकता है उसी की प्राकृतिक न्याय में श्रद्धा हो सकती है और वही अनन्त की अहैतुकी कृपा का आश्रय लेकर सब प्रकार से अभय हो सकता है। यह नियम है कि निर्भय प्राणी का ही वर्तमान सरस होता है और जिसका वर्तमान सरस होता है वही विकास की ओर अग्रसर होता है।

समस्त विकारों की भूमि चित्त की खिन्नता है और सब प्रकार का विकास चित्त की प्रसन्नता में निहित है। इस दृष्टि से चित्तशुद्धि जीवन का आवश्यक अंग है। वह तभी सम्भव होगी जब प्राणी कामना-अपूर्ति के भय और कामना-पूर्ति की दासता से रहित होकर कामना-निवृत्ति की शान्ति से असंग हो जाय। यही प्राणी का परम पुरुषार्थ है जो प्रत्येक परिस्थिति में सम्भव है।

१४-५-५६

: १३ :

मेरे निज स्वरूप परमप्रिय,

चित्तशुद्धि के विना न तो चित्त में स्थिरता ही आती है और न प्रसन्नता तथा निर्भयता। स्थिरता के विना न तो प्राणी शान्ति ही पाता है और न किसी कार्य की ही सिद्धि होती है। प्रसन्नता के विना न तो क्षोभ का ही अन्त होता है और न नित-नव-उत्साह की जागृति होती है। निर्भयता के विना न तो आवश्यक शक्ति का विकास ही होता है और न प्राप्त शक्ति का सदुपयोग ही। इस दृष्टि से चित्त में स्थिरता, प्रसन्नता एवं निर्भयता का होना जीवन की सार्थकता के लिए परम आवश्यक है। पर वह तभी सम्भव होगा जब प्राणी अपनी अनुभूति का आदर करने में समर्थ हो, जो जानता है उसका अनादर न करे, अर्थात् उसके ज्ञान और जीवन में एकता हो जाय। ज्ञान और जीवन की एकता में ही चित्त की शुद्धि निहित है। चित्त शुद्ध होते ही उसमें स्थिरता, प्रसन्नता तथा निर्भयता स्वतः आ जायगी।

अब विचार यह करना है कि जो हो चुका है और जो हो रहा है उसका प्रभाव चित्त पर क्या है? जो हो चुका है उसकी स्मृति और उसका सम्बन्ध चित्त में अङ्कित है, पर जिस वस्तु की स्मृति है वह वस्तु अब उस रूप में नहीं है, अर्थात् उसका वियोग हो गया है, परन्तु फिर भी उससे सम्बन्ध बना हुआ है। स्मृति और सम्बन्ध के आधार पर ही चित्त में उन वस्तुओं का अस्तित्व

अङ्कित है जो वर्त्तमान में नहीं हैं। जो वस्तुएँ नहीं हैं उनके अस्तित्व को स्वीकार करने में निज अनुभूति का विरोध है। इस विरोध के अनादर से ही, चित्त अशुद्ध हो गया है, जिससे चित्त की स्थिरता भंग हो गई है।

जो हो रहा है उस पर यदि विचार किया जाय तो यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि जिसे हम उत्पत्ति कहते हैं वह किसी का विनाश है और जिसे हम विनाश कहते हैं वह किसी की उत्पत्ति है। उत्पत्ति-विनाश के क्रम में ही स्थिति का भास होता है। उसी के आधार पर जब हम किसी वस्तु की सत्यता अथवा उसका अस्तित्व स्वीकार कर लेते हैं तब चित्त में उन वस्तुओं का राग अङ्कित हो जाता है जो चित्त को अशुद्ध कर देता है। राग की भूमि में ही समस्त कामनाएँ उत्पन्न होती हैं। उनकी अपूर्ति में प्राणी क्षुभित होता है, अभाव का अनुभव करता है जिससे प्रसन्नता भङ्ग हो जाती है। कामनाओं की पूर्ति में प्राणी सुख का अनुभव करता है और जिन वस्तुओं से कामना की पूर्ति होती है उन वस्तुओं के अधीन हो जड़ता में आबद्ध हो जाता है, जिसका परिणाम यह होता है कि वह अपने अस्तित्व को ही भूल जाता है और अनेक प्रकार के भय उत्पन्न हो जाते हैं।

इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि के द्वारा जो कुछ प्रतीत हो रहा है, क्या उसमें सतत परिवर्त्तन नहीं है? अर्थात्, अवश्य है। तो फिर किसी भी वस्तु के अस्तित्व को उसी रूप में स्वीकार करना जिस रूप में इन्द्रियों के द्वारा प्रतीत हो रहा है, क्या प्रमाद नहीं है? अर्थात्, अवश्य है। इस दृष्टि से किसी भी वस्तु की स्थिति सिद्ध नहीं होती। जिसकी स्थिति ही सिद्ध नहीं होती, उससे नित्य सम्बन्ध स्वीकार करना चित्त को अशुद्ध करना है। उसी का परिणाम यह हुआ है कि प्राणी लोभ, मोह आदि विकारों में

आवद्ध हो गया है। लोभ में आवद्ध होने से ही संग्रह की रुचि उत्पन्न हो गई है और संग्रह से ही जीवन में जड़ता आ गई है, जिसने परिवर्त्तनशील वस्तुओं का महत्त्व इतना वढ़ा दिया है कि जिन वस्तुओं का उपयोग प्राणियों की सेवा में था उसमें न करके प्राणी वस्तुओं के द्वारा सिक्कों का ही संग्रह करने लगा है, जिसने परस्पर अनेक प्रकार के भेद उत्पन्न कर दिए हैं जो संघर्ष का मूल है। इतना ही नहीं, वस्तु में ही जीवन-वुद्धि हो गयी है जिससे प्राणी अपनी चेतना से ही अपने को विमुख कर वैठा है और मोह में आवद्ध हो गया है।

प्राकृतिक नियम के अनुसार लोभ दरिद्रता का कारण है और मोह भेद को उत्पन्न करता है। भेद सीमित अहम्भाव को पुष्ट करता है और दरिद्रता अभाव को जन्म देती है, जिससे प्राणी के चित्त में न तो प्रसन्नता रहती है और न निर्भयता। प्राकृतिक विधान में वस्तुओं की न्यूनता नहीं है, कारण कि प्रत्येक वस्तु अनन्त है। ऐसा कोई वीज नहीं जिसमें अनेक वृक्ष न विद्यमान हों अर्थात् कोई गणना ही नहीं कर सकता कि प्रत्येक दाने में से कितने दाने निकल सकते हैं। इतना ही नहीं, 'कुछ नहीं' से ही 'सव कुछ' उत्पन्न होता है। तो फिर जीवन में आवश्यक वस्तुओं का अभाव क्यों? अर्थात्, अभाव नहीं होना चाहिए। परन्तु लोभ ने उदारता का अपहरण कर लिया और संग्रह को जन्म दिया। उदारता के विना सर्व-हितकारी सद्भावनाएँ सुरक्षित नहीं रहतीं, सर्व-हितकारी भाव के विना कोई भी प्राणी कर्त्तव्यनिष्ठ नहीं हो सकता, कर्त्तव्य परायणता के विना न तो परस्पर में स्नेह ही रहता है और न आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त होती हैं। इस दृष्टि से वस्तुओं के महत्त्व ने प्राणी को वस्तुओं से भी वंचित किया और चिन्मय जीवन से भी विमुख कर दिया।

यह नियम है कि जिससे जितना अधिक हित होता है, उसको प्रकृति के विधान से उतनी ही अधिक सामर्थ्य प्राप्त होती है। इस दृष्टि से सामर्थ्य का अभाव केवल स्वार्थ-भाव तथा प्राप्त सामर्थ्य के दुरुपयोग में ही निहित है। ज्यों ज्यों स्वार्थ भाव गलता जाता है, त्यों-त्यों प्रकृति उसे सामर्थ्यशाली बनाती है। जैसे जिन वृक्षों से दूसरे वृक्षों को पोषण मिलता है, उन वृक्षों की आयु भी अपेक्षाकृत अधिक होती है और वे वृक्ष भी दूसरे वृक्षों से पोषित होने लगते हैं। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि प्राकृतिक विधान के अनुसार वे ही सुरक्षित रह सकते हैं जो उदार हैं, उदार वे ही हो सकते हैं जो निर्लोभ हैं और निर्लोभ वे ही हो सकते हैं जो वस्तुओं से अपना महत्त्व अधिक जानता है।

निर्लोभता आते ही मोह-रहित होने का सामर्थ्य भी स्वतः आ जाती है, क्योंकि निर्लोभता वस्तुओं में जीवनबुद्धि नहीं होने देती। वस्तु में जीवनबुद्धि बिना हुए मोह की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती। मोह की उत्पत्तिके बिना भेद कीउत्पत्ति ही सिद्ध नहीं होती और भेद की उत्पत्ति के बिना सीमित अहम् का भास ही नहीं होता। अहम्-भाव के बिना काम की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती और काम की उत्पत्ति के बिना चित्त अशुद्ध नहीं हो सकता। इस दृष्टि से वस्तुओं के महत्त्व ने ही काम को उत्पन्न किया और उसीसे अभाव की उत्पत्ति हुई। उसका परिणाम यह हुआ कि इच्छाओं की उत्पत्ति हो गई और इच्छित वस्तुओं का अभाव हो गया; अर्थात्, इच्छाओं की अपूर्ति की परिस्थिति में आबद्ध होकर प्राणी स्थिरता, प्रसन्नता और निर्भयता से रहित हो गया जो चित्त की अशुद्धि है।

इन्द्रियों के ज्ञान से जो वस्तु जैसी प्रतीत होती है वही वस्तु

बुद्धि के ज्ञान से उसी काल में वैसी नहीं प्रतीत होती। इन्द्रियाँ वस्तु में सत्यता एवं सुन्दरता का भास कराती हैं, पर बुद्धि का ज्ञान उन वस्तुओं में सतत परिवर्त्तन का दर्शन कराता है। जब प्रत्येक वस्तु निरन्तर बदल रही है, तब उसके अस्तित्व को स्वीकार करना केवल वस्तुओं के राग को ही जन्म देना है। राग से भोग की रुचि उत्पन्न होती है, भोग की रुचि से इन्द्रियाँ और उनके विषयों में सम्बन्ध की स्थापना होती है। जब इन्द्रियाँ अपने विषयों में प्रवृत्त होती हैं तब मन इन्द्रियों के अधीन हो जाता है। जब मन इन्द्रियों के अधीन हो जाता है तब बुद्धि मन के अधीन हो जाती है, जिसके होते ही विषयों में सत्यता तथा सुन्दरता का भास होने लगता है। विषयों की सत्यता दृश्य के अस्तित्व को सिद्ध करने में समर्थ होती है। दृश्य का अस्तित्व स्वीकार करते ही त्रिपुटी बन जाती है, अर्थात् समस्त दृश्य तथा उनकी प्रतीति करानेवाली इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि और उनका द्रष्टा। जिस द्रष्टा ने बुद्धि आदि के द्वारा समस्त दृश्य जाना वह द्रष्टा सर्वदा दृश्य से अतीत है। दृश्य की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार न करने पर राग का अन्त हो जाता है, जिसका अन्त होते ही भोग की रुचि मिट जाती है, जिसके मिटते ही प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त में स्वतः इन्द्रियाँ विषयों से विमुख होकर मन में विलीन हो जाती हैं और मन निर्विकल्प होकर बुद्धि में विलीन हो जाता है, जिसके होते ही बुद्धि सम हो जाती है और त्रिपुटी का अभाव हो जाता है, जिसके होते ही चित्त शुद्ध हो जाता है।

अब विचार यह करना है कि चित्त की स्थिरता भंग क्यों होती है? प्राकृतिक नियम के अनुसार तो प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त में चित्त को स्वभाव से ही स्थिर रहना चाहिए क्योंकि आवश्यक संकल्प की पूर्ति के पश्चात् अनावश्यक संकल्पों की निवृत्ति हो

जानी चाहिए। आवश्यक संकल्प की पूर्ति और अनावश्यक संकल्प की निवृत्ति से चित्त में स्वतः स्थिरता आ जाएगी, पर ऐसा क्यों नहीं हो पाता ? उसका एक मात्र कारण यह है कि जिन वस्तुओं का वियोग हो गया है उन वस्तुओं का भी अस्तित्व चित्त में ज्यों का त्यों अंकित है। और जो वस्तुएँ प्रतीत हो रही हैं यद्यपि उनमें निरन्तर परिवर्त्तन हो रहा है परन्तु प्राणी परिवर्त्तन पर दृष्टि न रखकर वस्तुओं की सत्यता को स्वीकार कर लेता है, जिसका परिणाम यह होता है कि उन वस्तुओं से सम्बन्ध की स्थापना हो जाती है। तात्पर्य यह निकला कि जिन वस्तुओं से वियोग हो चुका है, उनकी स्मृति और जिन वस्तुओं में परिवर्त्तन हो रहा है उनका सम्बन्ध, अर्थात् अप्राप्त वस्तुओं की स्मृति और प्राप्त वस्तुओं की ममता चित्त को स्थिर नहीं होने देती। यदि अप्राप्त वस्तुओं के अस्तित्व को अस्वीकार कर दिया जाय और प्राप्त वस्तुओं से हम निर्मम हो जायँ तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक चित्त स्थिर हो सकता है।

वस्तुओं के उत्पादन तथा उनके सदुपयोग का जीवन में भले ही कोई स्थान हो, पर उनकी ममता का जीवन में कोई स्थान नहीं है और न वस्तुओं का महत्त्व अपने से अधिक स्वीकार करना है। जब साधक वस्तुओं की ममता से रहित हो जाता है तब उसमें उदारता स्वतः आ जाती है जिसके आते ही वस्तुओं का सद्व्यय अपने आप होने लगता है। वस्तुओं से प्राणियों का महत्त्व अधिक हो जाता है, जिसके होते ही साधक स्वयं जड़ता से चेतना की ओर अग्रसर हो जाता है।

जड़ता से चेतना की ओर अग्रसर होने में किसी प्रकार की पराधीनता नहीं है और न कोई अभाव है, न विषमता है। विषमता का अन्त होते ही खिन्नता सदा के लिए विदा हो जाती

है; अथवा यों कहो कि अखण्ड प्रसन्नता आ जाती है। इतना ही नहीं; वैरभाव तथा भय का भी अन्त हो जाता है जिसके होते ही चित्त शुद्ध हो जाता है।

चित्त की अशुद्धि से ही वस्तुओं का इतना महत्त्व बढ़ गया है कि साधक अपने अस्तित्व को ही भूल गया है, जो अभावरूप है उसका भाव स्वीकार कर लिया है और जिसमें सतत परिवर्त्तन है उसकी स्थिति को ही सत्य मान लिया है। यदि साधक विवेकपूर्वक जो भावरूप नहीं है उसका अभाव स्वीकार कर ले और जिसकी स्थिति नहीं है उससे विमुख हो जाय तो वर्त्तमान में ही चित्त शुद्ध हो सकता है। चित्त के शुद्ध होते ही सभी समस्यायें स्वतः हल हो जायंगी—ध्यानी का ध्यान अखण्ड हो जायगा, योगी योग से अभिन्न हो जायगा तथा जिज्ञासु को तत्त्व-साक्षात्कार एवं प्रेमी को परम प्रेम की उपलब्धि होगी, और फिर सब प्रकार के भय का अन्त हो जायगा। फिर किसी दोष की उत्पत्ति ही न होगी, अर्थात् मन में स्थिरता, चित्त में प्रसन्नता और हृदय में निर्भयता सदा के लिए निवास करेगी। पर यह तभी सम्भव होगा जब कि साधक अपनी अनुभूति का आदर कर वस्तुओं के सम्बन्ध तथा स्मृति का अन्त करने में समर्थ हो जाय। यही चित्त-शुद्धि का सुगम उपाय है।

१५-५-५६

: १४ :

मेरे निज स्वरूप परमप्रिय,

चित्त स्वभाव से गतिशील है, चंचल नहीं। परन्तु उसमें जो चंचलता भासती है उसका कारण उसमें इन्द्रियों के ज्ञान का प्रभाव अंकित होना है। यदि उस प्रभाव को विवेक-पूर्वक मिटा दिया जाय तो चित्त स्वभाव से ही अपने अभीष्ट लक्ष्य की ओर अग्रसर हो शान्ति पा जाता है। चित्त सदैव शान्ति तथा रस की खोज में लगा रहता है। इसी से अधिक काल तक किसी भी परिवर्त्तनशील वस्तु, अवस्था आदि में नहीं ठहरता। प्राणी उसके इस स्वभाव को साधारणतः चंचलता मान लेता है। वास्तव में तो वह अपने रसरूप प्रेमास्पद की खोज में लगा है।

कर्त्तृत्व तथा भोक्तृत्व भाव से की हुई प्रवृत्ति का प्रभाव चित्त में अंकित होता है। करने और भोगने की रुचि इन्द्रियों के ज्ञान में सद्भाव होने से उत्पन्न होती है। यद्यपि प्रत्येक प्रवृत्ति का महत्त्व विद्यमान राग की निवृत्ति में है, परन्तु प्राणी असावधानी से विद्यमान राग की निवृत्ति की तो कौन कहे, अपितु नवीन राग को उत्पन्न कर लेता है जिससे वेचारा चित्त अशुद्ध हो जाता है।

चित्त स्वरूप से अशुद्ध नहीं है। वह तो अनन्त की विभूति है। जब उसकी गतिशीलता उद्देश्य की ओर हो जाती है तब वह योगी को योग से, जिज्ञासु को तत्त्वज्ञान से और प्रेमी को

प्रेमास्पद से अभिन्न कर देता है। इस दृष्टि से चित्त बड़े ही महत्त्व की वस्तु है।

चित्त में जो राग-द्वेष अंकित है वह बीती हुई घटनाओं का प्रभाव है, और कुछ नहीं। प्राकृतिक नियम के अनुसार परिवर्त्तन-शील जीवन की प्रत्येक घटना कुछ न कुछ अर्थ रखती है। यदि प्राणी उस अर्थ को अपनाए और घटनाओं को भूल जाय अर्थात् उनकी सत्यता को स्वीकार न करे तो घटनाओं से प्राप्त प्रकाश साधन बन जाता है। परन्तु असावधानी के कारण प्राणी घट-नाओं के अर्थ को भूल जाता है और घटनाओं की स्मृति को अङ्कित कर लेता है जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है। घटनाओं की स्मृति मात्र को वस्तुस्थिति मान लेना भूल है। वह तो भोगे हुए सुख-दुःख का प्रभाव है, सुख-दुःख नहीं।

यदि प्राणी आए हुए सुख-दुःख का सदुपयोग करे और उसमें जीवन-बुद्धि की स्थापना न होने दे तो बड़ी ही सुगमता-पूर्वक प्राणी सुख-दुख के प्रभाव से मुक्त हो सकता है। प्राकृतिक नियम के अनुसार उत्पत्ति और विनाश युगपद् है, अर्थात् न तो उत्पत्ति में ही स्थिरता है और न विनाश में ही सत्यता है। इस दृष्टि से सुख की उत्पत्ति में ही सुख का विनाश और दुख की उत्पत्ति-काल में ही दुख का विनाश आरम्भ हो जाता है। जिस सुख-दुःख की स्थिति ही नहीं है, उसके प्रभाव को चित्त में अङ्कित रखना प्रमाद के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। जब प्राणी चित्त में अङ्कित स्मृति को घटना के रूप में स्वीकार कर लेता है तब चित्त में उत्पन्न हुए संकल्पों को बलपूर्वक दबाता है और चित्त की निन्दा करता है, अथवा राग-जनित संकल्पों का सुखद स्वप्न देखने लगता है, अर्थात् प्रतिकूल मनोराज्यों से भयभीत होता है और रुचिकर मनोराज्य का सुख भोगता है। भोग चाहे प्रवृत्ति

के आधार पर हो अथवा चित्त में अङ्कित स्मृति के आधार पर, उन दोनों से राग-द्वेष की उत्पत्ति समान ही होती है। परन्तु प्रवृत्ति के योग में और स्मृति के भोग में एक बड़ा अन्तर यह रहता है कि प्रवृत्ति के भोग का परिणाम स्पष्ट प्रतीत होने लगता है और स्मृति के द्वारा भोग का परिणाम स्पष्ट नहीं प्रतीत होता। इस दृष्टि से विषय-प्रवृत्ति की अपेक्षा विषय-चिन्तन कहीं अधिक अहितकर सिद्ध होता है। इस रहस्य को जान लेने पर साधक को चित्त में अङ्कित स्मृति को मिटाने के लिए अथक प्रयत्न करना चाहिए। परन्तु इस बात का ध्यान रहे कि चित्त को बलपूर्वक न दबाया जाय अपितु विवेकपूर्वक उसमें अङ्कित स्मृति को मिटाने का प्रयास किया जाय। स्मृति वस्तु स्थिति नहीं है, अपितु स्मृति है, यह जान लेने पर स्मृति स्वतः मिट जायगी। अब हमें चित्त में अङ्कित स्मृति के वास्तविक स्वरूप के विषय में विचार करना है। यह बात किसी भी विज्ञान से सिद्ध नहीं हो सकती कि जो वस्तु जिस काल में जैसी देखी-सुनी थी वह वास्तव में वैसी ही है क्योंकि प्रत्येक वस्तु में निरन्तर परिवर्त्तन हो रहा है। परन्तु स्मृतिकाल में उसकी सत्यता भासती है। यदि परिवर्त्तन की अनुभूति के आधार पर उसकी सत्यता अस्वीकार कर दी जाय तो चित्त में से उसका अस्तित्व निकल जायगा, जिसके निकलते ही चित्त में स्वभाव से ही स्थिरता आ जायगी। स्थिरता के आते ही आवश्यक सामर्थ्य आ जायगी जो चित्त को शुद्ध करने में समर्थ है।

चित्त में जिन घटनाओं की स्मृति अंकित हो गयी है यदि उन घटनाओं में परिवर्त्तन-बुद्धि होती अथवा आज उन घटनाओं का अभाव है, यह बोध होता, अथवा घटनाओं में सद्बुद्धि न होती तो उनकी स्मृति ही चित्त में अंकित न होती और न चित्त

अशुद्ध होता। परन्तु परिवर्तनशील, अभावरूप घटनाओं को प्राणी सत्य मान लेता है जो वास्तव में केवल प्रतीति मात्र है। इस कारण चित्त में उनकी स्मृति अंकित हो जाती है। जितनी सत्यता जागृत अवस्था की घटनाओं में प्रतीत होती है और उनका राग - द्वेष अङ्कित होता है, उतनी सत्यता स्वप्न में होनेवाली घटनाओं के प्रति दृढ़ नहीं होती। उसका परिणाम यह होता है कि स्वप्न में होनेवाला सुख-दुःख, हानि-लाभ, जय-पराजय आदि का प्रभाव चित्त में अधिक काल तक अङ्कित नहीं रहता, क्योंकि स्वप्न की घटना को जागृत में मिथ्या मान लेता है और स्वप्न-द्रष्टा स्वप्न की सृष्टि को अपने से भिन्न नहीं मानता। मिथ्या बुद्धि तथा अभिन्नता का भाव होने से स्वप्न की घटना से चित्त में राग-द्वेप अङ्कित नहीं होता अपितु अङ्कित राग-द्वेप की निवृत्ति ही हो जाती है; अथवा यों कहो कि चित्त की दशा का बोध हो जाता है। यह नियम है कि जिसकी वास्तविकता का बोध हो जाता है उससे या तो एकता हो जाती है अथवा असंगता। उससे सम्बन्ध नहीं रहता। एकता से भी चित्त शुद्ध होता है और असंगता से भी,—अर्थात् एकता और असङ्गता से चित्त शुद्ध ही होता है, अशुद्ध नहीं। जिस प्रकार स्वप्न में होनेवाली घटनाओं का प्रभाव घटनाओं में मिथ्याबुद्धि होने से, चित्त में अङ्कित नहीं होता, प्रत्युत कालान्तर में उन घटनाओं की स्वतः विस्मृति हो जाती है; उसी प्रकार यदि जागृत में होने वाली घटनाओं के प्रति अभाव-बुद्धि हो जाय तो उन घटनाओं की भी विस्मृति हो सकती है क्योंकि स्वप्न और जागृत दोनों में होनेवाली घटनाओं का कालान्तर में अभाव ही सिद्ध होता है। स्वप्न की घटना स्वप्न काल में तो जागृत के ही समान सत्य है और जागृत में भूतकाल की घटनाएँ वर्तमान में स्वप्न के

समान ही मिथ्या है। इस दृष्टि से स्वप्न और जागृत की घटनाएँ समान ही अर्थ रखती हैं। परन्तु प्राणी जागृत की घटना को सत्य मानकर उनके राग-द्वेष में आवद्ध हो चित्त को अशुद्ध कर लेता है।

घटनाओं के अर्थ पर दृष्टि रखने से तो कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का ज्ञान हो सकता है। इस दृष्टि से प्रत्येक घटना प्राणी के लिए हितकर सिद्ध हो सकती है। परन्तु घटनाओं में सद्‌बुद्धि रखने से तो अहित ही होता है। यदि गम्भीरतापूर्वक घटनाओं के अर्थ पर विचार किया जाय तो होनेवाली घटनाएँ त्याग तथा प्रेम का ही पाठ पढ़ाती हैं। त्याग तथा प्रेम के अपना लेने पर राग-द्वेप स्वतः मिट जाता है। इस दृष्टि से प्रत्येक घटना चित्तशुद्धि का साधन मात्र है और कुछ नहीं। अतः घटनाओं के अस्तित्व को अभावरूप जानकर उनके अर्थ को अपना लेने के लिए सर्वदा उद्यत रहना चाहिये। ऐसा करने से चित्त सुगमतापूर्वक शुद्ध हो जायगा। जो कुछ हो रहा है उसकी स्मृति चित्त पर अङ्कित नहीं होती, जो कर रहे हैं उसी की स्मृति चित्त पर अङ्कित होती है। प्राकृतिक नियम के अनुसार प्रत्येक वस्तु मिट रही है, पर उसका प्रभाव चित्त पर नहीं होता, यदि उसका प्रभाव हो जाय तो बड़ी सुगमता से चित्त शुद्ध हो जाय। परन्तु जिन वस्तुओं का उपभोग हम कर रहे हैं उनका प्रभाव चित्त पर अङ्कित होता है जो प्राणी के चित्त में वस्तुओं की स्मृति अङ्कित कर देता है, जिससे वास्तविकता की विस्मृति हो जाती है। यदि किसी भी देश, काल, वस्तु, व्यक्ति आदि की स्मृति न हो तो अपने आप उसकी स्मृति जागृत हो जाय, जो वस्तु, व्यक्ति आदि से अतीत है। वस्तुओं की स्मृति ने ही अनन्त की विस्मृति उत्पन्न कर दी है, जिससे प्राणी सब प्रकार से दीन-हीन हो गया है।

भोग की रुचि से ही कर्तृत्व के अभिमान का जन्म होता है और कर्तृत्व के अभिमान से ही भोग में प्रवृत्ति होती है। कर्तृत्व और भोक्तृत्व के कारण ही होनेवाली प्रवृत्तियों का प्रभाव चित्त पर अङ्कित होता है जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है। वास्तव में जो कुछ हो रहा है वह समष्टि-शक्तियों के द्वारा ही होता है परन्तु समष्टि-शक्तियों में कर्तृत्व का अभिमान नहीं है। जिस प्रकार सूर्य से ही सभी नेत्र देखते हैं और सूर्य से ही रूप बनता है परन्तु सूर्य किसी भी रूप का भोग नहीं करता और न नेत्र से देखने का अभिमान ही करता है। परन्तु प्राणी सूर्य के द्वारा प्राप्त नेत्र को अपना मानता है और सूर्य के ही उत्पन्न किए हुए रूप का नेत्र के द्वारा ही भोग करने लगता है। उसका परिणाम यह होता है कि वह स्वयं अपने को कर्ता और भोक्ता मानकर सुख-दुःख में आबद्ध हो जाता है। यदि प्राणी समष्टि-शक्तियों से मिली हुई वस्तुओं को अपना न माने और उन्हें सर्व-हितकारी कार्यों में लगा दे तो बड़ी सुगमतापूर्वक राग-द्वेष-रहित हो सकता है। ज्यों-ज्यों राग त्याग में और द्वेष प्रेम में बदलता जाता है, त्यों-त्यों चित्त स्वतः शुद्ध होता जाता है।

प्राप्त योग्यता, सामर्थ्य और वस्तु किसी भी प्राणी की व्यक्तिगत नहीं है, सभी को समष्टि-शक्तियों से प्राप्त है; अथवा यों कहो कि उस अनन्त की देन है। मिली हुई वस्तुओं को अपना मान लेना और उनके अभिमान में आबद्ध हो जाना प्रमाद के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यदि प्राणी मिली हुई वस्तुओं का सदुपयोग, जिससे मिली हैं, उसीके नाते कर डाले तो वह बड़ी ही सुगमतापूर्वक अभिमानरहित हो सकता है। निरभिमानता आते ही कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व स्वतः मिट जाता है जिसके मिटते ही चित्त शुद्ध हो जाता है।

कर्म-सामग्री भी अपनी नहीं है और कर्म का फल भी अपने अधीन नहीं है। केवल प्राप्त सामग्री का उपयोग करने मात्र में प्राणी का अधिकार है। जिसने कर्म करने का सामर्थ्य दिया है, उसने विवेक के स्वरूप में विधान भी दिया है। अतः विवेकपूर्वक प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करना चाहिये और जो कुछ हो उसी में सन्तुष्ट होना चाहिये। ऐसा करने से सभी दोष स्वतः मिट जायँगे और चित्त शुद्ध हो जायगा।

इन्द्रियों के द्वारा जो कुछ किया है उसका प्रभाव तभी तक चित्त पर अङ्कित रहता है जब तक प्राणी धैर्यपूर्वक, भली-भाँति, बुद्धि के द्वारा उस प्रवृत्ति की वास्तविकता को जान नहीं लेता। प्रत्येक प्रवृत्ति स्वभाव से ही मिट जाती है, परन्तु उसका प्रभाव चित्त पर रह जाता है। प्रवृत्ति के अभाव का ज्ञान उस प्रभाव को, जो चित्त पर अङ्कित है, नष्ट कर देता है और तब चित्त शुद्ध हो जाता है। अतः चित्त पर प्रभाव बुद्धि के ज्ञान का हो, प्रवृत्ति-जनित सुख-दुःख का नहीं। इन्द्रियों के ज्ञान का सदुपयोग तो वर्तमान कार्य करने मात्र में ही है।

जब प्राणी निस्सन्देहतापूर्वक अपने लक्ष्य का निर्णय कर लेता है और पवित्र भाव से, पूरी शक्ति लगाकर उसी लक्ष्य के नाते प्रत्येक कार्य सावधानीपूर्वक करने लगता है तब प्रत्येक कार्य साधन हो जाता है और उसके अन्त में स्वतः अपने लक्ष्य के लिए उत्कट लालसा तथा जिज्ञासा जागृत होती है। इस दृष्टि से कार्यों में भिन्नता होने पर भी उद्देश्य की एकता सुरक्षित रहती है, जिससे प्रत्येक कार्य या तो सत्य की खोज में, अथवा प्रिय की लालसा जागृत करने में सहयोगी हो जाता है। पर यह सम्भव तभी होता है जब साधक की दृष्टि सतत लक्ष्य पर रहे और कार्यों में ऊँची-नीची, छोटी-बड़ी, भली-बुरी बुद्धि न रहे। सभी कार्य एक ही

उद्देश्य की पूर्ति में साधन हों। पवित्र उद्देश्य का निर्णय हो जाने पर दूषित कार्यों का तो जन्म ही नहीं होता, जैसे किसी सती-साध्वी महिला का प्रत्येक कार्य पतिप्रेम में ही विलीन होता है, वैसे ही साधक का प्रत्येक कार्य साध्य की प्रीति में ही विलीन होता है।

प्राणी का उद्देश्य वही हो सकता है जो सभी वस्तु, अवस्था एवं परिस्थिति से अतीत हो, क्योंकि किसी भी वस्तु का स्वतंत्र अस्तित्व तो है ही नहीं। उद्देश्य वही हो सकता है जिसका स्वतंत्र अस्तित्व हो। परिस्थितियाँ तो किसी राग का परिणाम हैं, और उनके सदुपयोग में ही रागनिवृत्ति की मुख्यता है। परिस्थितियों में जीवन-बुद्धि प्रमाद है, उद्देश्य नहीं। परन्तु प्राणी से भूल यह होती है कि या तो वह प्राप्त कार्य को भोग-बुद्धि से करता है, अथवा उपेक्षा-भाव से। भोग-बुद्धि से किये हुये कार्य से तो नवीन राग की उत्पत्ति होती है, और उपेक्षा-भाव से कार्य करने पर कर्त्ता में जो करने का राग विद्यमान था, उसकी निवृत्ति नहीं होती; क्योंकि कार्य में अधूरापन होने से उसकी वास्तविकता का ज्ञान नहीं होता, जिससे विद्यमान राग नष्ट नहीं होता। जो व्यक्ति यह सोचता है कि बड़े-बड़े कार्य सावधानीपूर्वक करना चाहिए और छोटे-छोटे कार्यों में विशेष ध्यान नहीं देना है, उसका कोई भी कार्य पूरा नहीं होता। अतः साधक को प्राप्त कार्य न तो भोग-बुद्धि से करना चाहिए, न उपेक्षा-भाव से और न असावधानी से; प्रत्युत अपने लक्ष्य पर दृष्टि रखते हुए पवित्र भाव से, पूरी शक्ति लगाकर करना चाहिए, जिससे प्रत्येक कार्य सत्य की जिज्ञासा तथा प्रेमास्पद की लालसा में विलीन हो जाय और करने के राग की भी निवृत्ति हो जाय। राग-निवृत्ति होते ही जिज्ञासा की पूर्ति और प्रेमकी प्राप्ति स्वतः हो जाती है।

उद्देश्य की पूर्ति के लिए जो कार्य किया जाता है उसका राग चित्त पर अङ्कित नहीं होता। उसी कार्य का राग चित्त पर अङ्कित होता है जो सुख की आशा से प्रेरित होकर किया जाता है, उसी से चित्त अशुद्ध होता है। प्रेमास्पद के नाते प्रत्येक कार्य चित्तशुद्धि में समर्थ है। इस दृष्टि से चित्त में विद्यमान स्मृति को नाश करना और नवीन स्मृति को अङ्कित न होने देना ही चित्तशुद्धि का सुगम उपाय है।

१६-५-५६

: १५ :

मेरे निज स्वरूप परमप्रिय,

व्यर्थ चिन्तन में आवद्ध प्राणी का चित्त अशुद्ध हो जाता है और सार्थक चिन्तन से चित्त शुद्ध हो जाता है। अव विचार यह करना है कि व्यर्थ चिन्तन और सार्थक चिन्तन में भेद क्या है? जिन वस्तुओं की प्राप्ति कर्म-सापेक्ष है, उन वस्तुओं का चिन्तन व्यर्थ चिन्तन है और जिसकी प्राप्ति जिज्ञासा अथवा लालसा-साध्य है उसका चिन्तन सार्थक चिन्तन है। कर्म का सम्पादन प्राप्त योग्यता, सामर्थ्य तथा वस्तुओं से होता है और उसका परिणाम भी किसी-न-किसी परिस्थिति के रूप में ही होता है। यह नियम है कि सभी परिस्थितियाँ उत्पत्ति-विनाश-युक्त हैं। इस दृष्टि से कर्म का फल नित्य नहीं है। प्रत्येक कर्म के मूल में संकल्प-पूर्ति का महत्त्व है। संकल्प-पूर्ति का सुख किसी न किसी वस्तु, व्यक्ति, देश, काल आदि में ही आवद्ध करता है। इस दृष्टि से कर्म के द्वारा वस्तु व्यक्ति, आदि की आसक्ति ही मिलती है जो प्राणी को पराधीन वना देती है और अनेक प्रकार के अभाव ही प्रदान करती है। अतः संकल्प-पूर्त्ति का सुख अहित-कर ही सिद्ध होता है।

संकल्प-पूर्ति से जो परिस्थिति वनती है वह स्वभाव से ही अपूर्ण तथा परिवर्त्तनशील है। अतः संकल्पपूर्ति में जो सुख का भास है वह परिस्थिति में नहीं है, अपितु संकल्पपूर्ति-मात्र में ही

निहित है; अथवा यों कहो कि संकल्प-उत्पत्ति में जो दुःख की अनुभूति है वह संकल्प - पूर्ति से मिट जाती है और जब तक दूसरा संकल्प उत्पन्न नहीं होता तब तक दुख का भास नहीं होता, अर्थात् संकल्प-पूर्ति मात्र से संकल्प-उत्पत्ति-जन्य दुःख दब जाता है, मिटता नहीं। इस दृष्टि से संकल्प-पूर्ति का महत्त्व संकल्प-उत्पत्ति के दुःख में है, संकल्प-पूर्ति में नहीं। यदि साधक को संकल्प-उत्पत्ति से पूर्व के जीवन का अनुभव हो जाय तो संकल्प-उत्पत्ति का दुःख और पूर्ति का सुख कुछ अर्थ नहीं रखता, अर्थात् सुख-दुःख दोनों ही का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता।

अब विचार यह करना है कि संकल्प-उत्पत्ति से पूर्व जो जीवन है उसका अनुभव कैसे हो। प्रत्येक उत्पत्ति के मूल में किसी न किसी अनुत्पन्न तत्त्व का होना अनिवार्य है, क्योंकि प्राकृतिक नियम के अनुसार उत्पत्ति किसी से होगी। जिससे उत्पत्ति होगी वह स्वयं उत्पत्तिरहित होगा। यह नियम है कि जिसकी उत्पत्ति नहीं होती उसका विनाश भी नहीं होता। अतः प्रत्येक उत्पत्ति का मूल आधार अविनाशी है। जिसका नाश नहीं होता उससे देश-काल की दूरी सम्भव नहीं है जिससे देश-काल की दूरी सम्भव नहीं है उसको अपने ही में पा सकते हैं अथवा उसकी खोज अपने ही में हो सकती है। इस दृष्टि से संकल्प-उत्पत्ति से पूर्व का जीवन अपने ही में निहित है। जो अपने ही में है उससे किसी प्रकार की दूरी तथा भेद सिद्ध नहीं हो सकता। जिससे भेद तथा दूरी नहीं है, उसकी प्राप्ति के लिए संकल्प अपेक्षित नहीं है। अतः संकल्पों के त्याग से ही संकल्प-उत्पत्ति से पूर्व के जीवन का अनुभव हो सकता है।

अब यदि कोई यह कहे कि सर्व संकल्पों का त्याग तो सम्भव नहीं है जैसे भूख, प्यास इत्यादि। जिन संकल्पों का त्याग सम्भव

नहीं है उनकी पूर्ति समष्टि शक्ति के द्वारा स्वतः हो जाती है। यह नियम है कि कर्तृत्व के अभिमान के विना जो संकल्प पूरे होते हैं उनमें भोगबुद्धि की स्थापना नहीं होती। जिन संकल्पों में भोग बुद्धि नहीं होती उन संकल्पों की पूर्ति का सुख चित्त में अङ्कित नहीं होता जिन संकल्पों की पूर्ति का सुख अंकित नहीं होता वे संकल्प नवीन संकल्प की उत्पत्ति में हेतु नहीं होते। अतः जो संकल्प मिटाए नहीं जा सकते, उनकी पूर्ति भी संकल्प-निवृत्ति का ही साधन है। संकल्पों के त्याग से अनावश्यक संकल्प उत्पन्न नहीं होते और आवश्यक संकल्प पूरे होकर मिट जाते हैं। जिस प्रकार भुना हुआ दाना भूख दूर करता है, उपजता नहीं, उसी प्रकार संकल्पों के त्याग से प्राकृतिक नियम के अनुसार कुछ संकल्प पूरे भी होते हैं तो उनसे नवीन संकल्प उत्पन्न नहीं होते; अर्थात् निस्संकल्पता स्वभाव से ही आ जाती है।

निस्संकल्पता आते ही सार्थक-चिन्तन स्वतः उत्पन्न होता है; कारण कि निस्संकल्पता समस्त वस्तुओं से अतीत के जीवन की जिज्ञासा जागृत करती है। वह ज्यों-ज्यों सबल होती जाती है त्यों-त्यों कामनाएँ स्वतः मिटती जाती हैं। जिस काल में सभी कामनाएँ मिट जाती हैं उसी काल में जिज्ञासा की पूर्ति अपने आप हो जाती है। जिसके होते ही पराधीनता स्वाधीनता में, जड़ता चिन्मयता में बदल जाती है जो वास्तविक जीवन है। देह आदि वस्तुओं से तादात्म्य स्वीकार करने पर कामनाओं की उत्पत्ति होती है। कामना-पूर्ति का प्रलोभन वस्तुओं से सम्बन्ध जोड़ देता है। वस्तुओं के स्वरूप का ज्ञान होने पर जिज्ञासा जागृत होती है जो काम का अन्त कर निस्सन्देहता प्रदान करने में समर्थ है। जिस प्रकार देहाभिमान रहते हुए भोग की रुचि स्वाभाविक है उसी प्रकार देहाभिमान गल जाने पर प्रीति की

लालसा स्वाभाविक है। प्रीति ऐसा अलौकिक तत्त्व है कि जिसकी आवश्यकता मिटाई नहीं जा सकती। प्रीति स्वभाव से सभी को अत्यन्त प्रिय है, कारण कि प्रीति रसरूप है। प्रीति का रस इतना मधुर तथा विलक्षण है कि उससे कभी किसी की तृप्ति नहीं होती; जितना भी हो कम ही मालूम होता है। इसी कारण यह नितनव है। प्रीति का उदय कामना-निवृत्ति तथा जिज्ञासा की पूर्ति में है। प्रीति की लालसा यद्यपि प्राणी में स्वाभाविक है, परन्तु उसका उदय तभी होता है जब वह सब प्रकार की कामनाओं से रहित हो जाय, और प्रीति का पान वही कर सकता है जो सब प्रकार से पूर्ण हो। जो कुछ भी चाहता है वह प्रीति का रस पान नहीं कर सकता। जिसे किसी भी वस्तु अवस्था आदि की आवश्यकता है उसे प्रीति प्राप्त नहीं होती। इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि प्रीति उस अनन्त की वस्तु है जिसे इन्द्रिय, बुद्धि आदि द्वारा नहीं जाना जा सकता। यह नियम है कि जिसको जान नहीं पाते उस पर ही विश्वास होता है। अधूरी जानकारी में सन्देह के कारण जिज्ञासा जागृत होती है, और जिसके सम्बन्ध में पूरा जानते हैं, उसके स्वरूप का बोध होता है। जिसके सम्बन्ध में कुछ नहीं जानते उस पर विश्वास करना पड़ता है। अतः प्रीति जिसकी भोग्य वस्तु है, उस पर विश्वास करना अनिवार्य है। उसकी ही लालसा वास्तविक लालसा है। इस दृष्टि से जिज्ञासा तथा प्रिय लालसा ही सार्थक चिन्तन है। जिस काल में जिज्ञासा कामनाओं को खाकर पूरी होती है, उसी काल में देहाभिमान गल जाता है, जिसके गलते ही स्वतः प्रीति का उदय होता है जो अनन्त से अभिन्न करने में समर्थ है। सार्थक चिन्तन वस्तुओं से अतीत के जीवन में प्रवेश कराता है और परम प्रेम प्रदान करता है, पर सार्थक चिन्तन तभी उत्पन्न होता है जब व्यर्थ चिन्तन का अन्त हो जाय

अथवा चित्त शुद्ध हो जाय। वस्तुओं का चिन्तन चित्त को मलिन करता है और जो वस्तुओं से अतीत है उसका चिन्तन चित्त को निर्मल करता है। निर्मल चित्त में ही प्रेम का सूर्य उदय होता है।

संकल्प, वस्तु, व्यक्ति आदि से सम्बन्ध जोड़ता है। जिज्ञासा वस्तुओं से अतीत के जीवन से अभेद करती है; और प्रिय लालसा प्रेमास्पद के प्रेम को प्रदान करती है; अथवा यों कहो, कि प्रेमी और प्रेमास्पद में नित-नव प्रेम का ही आदान-प्रदान कराती है। अशुद्ध तथा अनावश्यक संकल्पों का त्याग होने पर शुद्ध तथा आवश्यक संकल्प स्वतः पूरे हो जाते हैं, पर जिज्ञासा तथा लालसा साधक को संकल्प-पूर्ति के सुख में आवद्ध नहीं होने देती। संकल्प-पूर्ति का महत्त्व मिटते ही चित्त शुद्ध हो जाता है। इस दृष्टि से लालसा तथा जिज्ञासा का जागृत होना ही व्यर्थ चिन्तन मिटाने में समर्थ है। यह नियम है कि सार्थक चिन्तन से व्यर्थ चिन्तन मिटता है; जिसके मिटते ही सार्थक चिन्तन की सार्थकता सिद्ध हो जाती है, अर्थात् योग, ज्ञान तथा प्रेम की प्राप्ति हो जाती है।

शुद्ध तथा आवश्यक संकल्पों की पूर्ति से किसी का अहित नहीं होता, अपितु सभी का हित होता है। इतना ही नहीं, उनकी पूर्ति से विद्यमान राग की निवृत्ति हो जाती है और सुन्दर समाज का निर्माण होता है, क्योंकि आवश्यक तथा शुद्ध संकल्प प्राकृतिक विधान के अनुरूप ही होते हैं। प्राकृतिक विधान में प्राणिमात्र का हित निहित है। परन्तु संकल्प-पूर्ति का जो सुख है उससे नवीन राग की उत्पत्ति होती है। इसी कारण साधक को सावधानीपूर्वक संकल्प-पूर्ति के सुख से सर्वदा मुक्त रहना चाहिए; अथवा यों कहो कि संकल्प-पूर्त्ति का महत्त्व चित्त से निकाल देना

चाहिए। संकल्प-पूर्ति का स्थान केवल विद्यमान राग की निवृत्ति और दूसरों के हित में ही है। संकल्प-पूर्ति-मात्र में जीवन-बुद्धि नहीं रखनी चाहिए। जिन संकल्पों को साधक विचारपूर्वक न मिटा सके उन्हें पूरा करके मिटाना चाहिए। संकल्प-पूर्ति भी संकल्प-निवृत्ति के लिए ही हो; नवीन संकल्प की उत्पत्ति के लिए नहीं। बस, संकल्पपूर्ति का साधक के जीवन में इतना ही मूल्य है।

यदि संकल्प-पूर्ति संकल्प-निवृत्ति का साधन नहीं है तो संकल्प-पूर्ति का अर्थ हो जायगा वस्तु, व्यक्ति आदि से सम्बन्ध, अर्थात् भोग। भोग का परिणाम है रोग और शोक। अतः जो प्राणी संकल्प-पूर्ति को ही महत्त्व देते हैं वे बेचारे रोग तथा शोक में ही आवद्ध रहते हैं। संकल्प चाहे कैसा ही हो, उसकी पूर्ति में सुख तो समान ही होता है पर संकल्प-पूर्ति से जो परिस्थिति उत्पन्न होती है उसमें भेद होता है; जैसे शुद्ध संकल्प की पूर्ति से सुन्दर समाज का निर्माण होता है, और अशुद्ध संकल्प की पूर्ति से समाज दूषित हो जाता है। इस दृष्टि से अशुद्ध संकल्पों का त्याग अनिवार्य है।

संकल्प पूर्ति का सुख उतने ही काल तक भासता है जबतक दूसरा संकल्प उत्पन्न नहीं होता। संकल्प-पूर्ति से जो परिस्थिति उत्पन्न होती है उसकी उपस्थिति में ही नवीन संकल्प की उत्पत्ति से संकल्प-पूर्ति का सुख मिट जाता है। इस दृष्टि से संकल्प-पूर्ति-मात्र में सुख है, उससे उत्पन्न हुई परिस्थिति में कुछ नहीं। संकल्प-पूर्ति के सुख का भोग नवीन संकल्प की उत्पत्ति में समर्थ है। इस दृष्टि से संकल्प-पूर्ति का परिणाम क्षणिक सुख और उसके आदि और अन्त में घोर दुःख है। इस रहस्य को जान लेने पर संकल्प-पूर्ति का कुछ महत्त्व ही नहीं

रहता, जिसके मिटते ही संकल्प-निवृत्ति, अर्थात् योग स्वतः प्राप्त होता है।

भोग में पराधीनता, परिश्रम आदि अनेक कठिनाइयाँ हैं और योग श्रम-रहित, स्वाधीन, शान्त तथा सामर्थ्य से युक्त जीवन है। पर उसकी उपलब्धि तभी सम्भव है जब संकल्प-पूर्ति का महत्त्व न रहे। सर्वोत्कृष्ट भोग भी योग की समानता नहीं कर सकता क्योंकि ऐसा कोई भोग है ही नहीं जो प्राणी को पराधीनता, शक्ति-हीनता आदि अनेक विकारों में आबद्ध न कर दे।

सुख-दुःख संकल्प की पूर्ति तथा अपूर्ति में ही है, किसी परिस्थिति में नहीं। यदि किसी का संकल्प भोजन न करने का हो तो उसको भूख लगने पर भी भोजन न करने में ही सुख प्रतीत होगा और उस समय उसे कोई आग्रहपूर्वक कितना ही सुन्दर भोजन कराए; उसे भोजन करने में दुख ही प्रतीत होगा। इसके विपरीत यदि भोजन करने का संकल्प हो और भोजन न मिले तो भोजन न मिलने में दुःख होगा। इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि संकल्प-पूर्ति-अपूर्ति में ही सुख-दुःख है, अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति में नहीं। संकल्प-पूर्ति का महत्त्व मिटते ही संकल्प-अपूर्ति का भय अपने आप मिट जाता है, जिसके मिटते ही अनुकूल एवं प्रतिकूल परिस्थिति में समता का ही दर्शन होता है। विषमता का अन्त संकल्प-पूर्ति का महत्त्व मिट जाने में ही निहित है। संकल्प-पूर्ति का प्रलोभन और संकल्प-अपूर्ति का भय रहते हुए न तो व्यर्थ चिन्तन का अन्त ही होगा, न सार्थक चिन्तन का उदय ही होगा और न चित्त ही निर्मल होगा। यदि संकल्प-पूर्ति के क्षणिक सुख का त्याग कर दिया जाय तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक प्रत्येक साधक अपने अभीष्ट लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है, क्योंकि जिज्ञासु को तत्त्वज्ञान और प्रेमी को प्रेमास्पद प्रदान

करने में निस्संकल्पता ही समर्थ है, पर यह ध्यान रहे कि निस्संकल्पता की शान्ति में रमण न हो। शान्ति से अतीत जो जीवन है, उसी में स्वाधीनतता है, चिन्मयता है, अमरत्व है, और उसी में परम प्रेम निहित है। इस दृष्टि से व्यर्थ चिन्तन का अन्त कर चित्त की शुद्धि के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहना चाहिए।

१७–५–५६

: १६ :

मेरे निज स्वरूप परमप्रिय,

अपने में वस्तुओं की और वस्तुओं में अपनी स्थापना करने से ही चित्त अशुद्ध होता है जिसके होते ही नित्य-सम्बन्ध और स्वरूप की विस्मृति हो जाती है। उसका परिणाम यह होता है कि सीमित अहम्‌भाव तथा अनेक आसक्तियाँ उत्पन्न हो जाती हैं, जिनसे प्राणी पराधीनता एवं अनेक प्रकार के अभावों में आबद्ध हो जाता है। पराधीनता तथा अभाव किसी भी प्राणी को स्वभाव से प्रिय नहीं हैं, क्योंकि स्वाधीनता तथा पूर्णता की लालसा उसमें बीजरूप से विद्यमान है। ज्यों-ज्यों पराधीनता तथा अभाव की वेदना सबल तथा स्थायी होती जाती है, त्यों-त्यों स्वाधीनता एवं पूर्णता की लालसा स्वतः जागृत होती जाती है। स्वाधीनता तथा पूर्णता की लालसा जागृत होते ही वर्तमान वस्तुस्थिति पर सन्देह होने लगता है। यह नियम है कि सन्देह की वेदना में जिज्ञासा की जागृति स्वतः होती है, जिसके होते ही प्राणी वस्तुओं से सम्बन्ध-विच्छेद करने में अथवा वस्तुओं की वास्तविकता जानने में समर्थ होता है। वस्तुओं की वास्तविकता के ज्ञान में वस्तुओं से अतीत के जीवन की आस्था निहित है। वह आस्था ज्यों-ज्यों दृढ़ होती जाती है त्यों-त्यों उस जीवन पर विकल्प-रहित विश्वास होता जाता है। यह नियम है कि विकल्परहित विश्वास जिस पर होता है उससे सम्बन्ध अवश्य हो जाता है।

जिससे सम्बन्ध की स्वीकृति हो जाती है उसकी स्मृति स्वतः होने लगती है। यह नियम है कि किसी की स्मृति में किसी की विस्मृति स्वतः होती है। स्मृति उसी की होती है जिसमें दृढ़ आस्था है और जिससे सम्बन्ध है। विस्मृति उसी की होती है जिसकी आस्था में सन्देह हो जाय अथवा जिससे सम्बन्ध न रहे।

वस्तुओं में अपनी स्थापना करने का परिणाम यह होता है कि जिस वस्तु में हम अपनी स्थापना कर लेते हैं, उस वस्तु की सत्यता भासने लगती है और अपने वास्तविक स्वरूप की विस्मृति हो जाती है। वस्तु के अस्तित्व को ही हम अपना अस्तित्व मान लेते हैं और जिन वस्तुओं की हम अपने में स्थापना कर लेते हैं उनमें आसक्ति हो जाती है। वस्तुओं में अपनी स्थापना वस्तु से अभेद-भाव का और अपने में वस्तु की स्थापना उनसे भेद-भाव का सम्बन्ध स्थापित करती है। अभेद-भाव का संबन्ध सत्यता और भेद-भाव का संबन्ध प्रियता उत्पन्न करता है।

प्रत्येक वस्तु स्वभाव से ही सीमित, परिवर्तनशील, उत्पत्ति-विनाश-युक्त और पर-प्रकाश्य है। यद्यपि उनका अस्तित्व प्रतीति-मात्र है, वास्तविक नहीं, परन्तु जब वस्तुओं से संबन्ध स्वीकार कर लिया जाता है तब उनमें सत्यता तथा प्रियता भासने लगती है। यहाँ तक कि प्राणी वस्तु के अस्तित्व को ही अपना अस्तित्व मान लेता है और अपने अस्तित्व को भूल जाता है। बस यही स्वरूप की विस्मृति है। इस विस्मृति से ही सीमित अहम्भाव भासने लगता है, जिससे अनेक प्रकार के भेद उत्पन्न हो जाते हैं। भेद के उत्पन्न होते ही कामनाएँ उत्पन्न हो जाती हैं, जो चित्त को अशुद्ध कर देती हैं। वस्तुओं से भेदभाव का संबन्ध सीमित प्रियता अर्थात् आसक्तियों को उत्पन्न करता है जिनके उत्पन्न होते ही नित्य-संबन्ध की विस्मृति हो जाती है। नित्य

सम्बन्ध की विस्मृति प्रीति को जागृत नहीं होने देती; प्रत्युत आसक्तियों को ही जीवित रखती है। अतः वस्तुओं के भेद-अभेद-संबन्ध से ही 'अहम्' और 'मम' उत्पन्न हो जाता है, जो चित्त को अशुद्ध कर देता है।

'अहम्' और 'मम' के आधार पर ही संकल्पों की उत्पत्ति होती है और उनकी पूर्ति-अपूर्ति में ही सुख-दुःख प्रतीत होता है। सुख की दासता और दुःख के भय में आबद्ध प्राणी अनन्त से विमुख हो गया है। यद्यपि अनन्त से देश-काल की दूरी नहीं है, फिर भी प्राणी उससे निराश होने लगता है और जिन वस्तुओं से केवल मानी हुई एकता है, वास्तविक नहीं, उनके लिए आशान्वित रहता है।

सत्य से निराश होना और असत्य की आशा करना प्रमाद है। सत्य की जिज्ञासा असत्य को खाकर सत्य से अभिन्न करने में समर्थ है; अथवा यों कहो कि अनन्त की लालसा वस्तुओं की कामनाओं का अन्त कर अनन्त से अभिन्न कर देती है।

कोई भी वस्तु कामना-मात्र से ही प्राप्त नहीं हो जाती अपितु उसके लिए विधिवत् कर्म अपेक्षित होता है। उस पर भी वस्तु प्राप्त हो ही जाएगी, यह कोई निश्चित नहीं। इतना ही नहीं, यदि कोई वस्तु प्राप्त होती भी है, तो उसमें परिवर्तन और उसका वियोग अनिवार्य है। उस पर भी यदि प्राणी वस्तुओं की आशा करता है, तो यह कहाँ तक युक्तियुक्त है। परन्तु अनन्त की प्राप्ति तो लालसा करने मात्र में ही निहित है। जिसकी प्राप्ति लालसा करने मात्र में ही निहित है, उससे निराश होना और जिसकी प्राप्ति में घोर श्रम है, प्राप्ति भी अप्राप्ति के ही तुल्य है, उसकी आशा में आबद्ध रहना कहाँ तक वाञ्छनीय है अर्थात् यह अविवेक के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

प्राणी ने वस्तुओं से सम्बन्ध कब और क्यों स्वीकार किया, इसका तो पता नहीं; पर वस्तुओं से सम्बन्ध-विच्छेद हो सकता है। इसी आधार पर मान लेना चाहिये कि वस्तुओं से सम्बन्ध स्वीकार किया है। यह नियम है कि प्रत्येक सम्बन्ध स्वीकृति-मात्र से सिद्ध होता है और अस्वीकृति-मात्र से उसका नाश हो जाता है, अर्थात् ऐसी कोई स्वीकृति है ही नहीं जो अस्वीकृति-मात्र से ही न मिट जाय। कोई भी स्वीकृति अस्वीकृति के अतिरिक्त किसी अन्य अभ्यास से मिट नहीं सकती। इस दृष्टि से अनन्त कालका सम्बन्ध क्यों न हो, वर्त्तमान में उसका विच्छेद हो सकता है।

वस्तुओं से सम्बन्ध-विच्छेद होते ही अहम् और मम का अन्त हो जाता है। अहम् का अन्त होते ही भेद मिट जाता है, जिसके मिटते ही अनन्त से अभिन्नता हो जाती है और मम के मिटते ही प्राणी रागरहित हो जाता है, जिसके होते ही योग, बोध और प्रेम स्वतः प्राप्त होता है; अर्थात् अभेदभाव का संबन्ध न रहने पर स्वरूप की स्मृति और भेदभाव का सम्बन्ध मिटने पर नित्य-सम्बन्ध की स्मृति स्वतः जागृत होती है। स्वरूप की स्मृति जागृत होते ही अमरत्व और नित्य-सम्बन्ध की स्मृति जागृत होते ही परम प्रेम की प्राप्ति होती है।

समस्त माने हुए सम्बन्ध स्वीकृति-मात्र पर ही जीवित हैं जो अविचार-सिद्ध है और माने हुए सम्बन्धों का विच्छेद अस्वी-कृति-मात्र से ही सम्भव है जो विचारसिद्ध है। यह नियम है कि जिस प्रकार औषध रोग को खाकर स्वतः मिट जाती है और स्वास्थ्य प्रदान करती है, उसी प्रकार विचार अविचार को खाकर स्वतः मिट जाता है और अनन्त से अभिन्नता प्रदान करता है। देहरूपी वस्तु से तद्रूप होने पर इन्द्रिय-ज्ञान में सत्यता प्रतीत

होती है जिससे अनेक कामनाएँ उत्पन्न हो जाती हैं पर वस्तुओं के निरन्तर परिवर्त्तन तथा उनके अदर्शन का ज्ञान इन्द्रिय-ज्ञान में सन्देह उत्पन्न करता है। सन्देह की भूमि में ही जिज्ञासा जागृत होती है। जिज्ञासा की जागृति कामनाओं को खा लेती है। कामनाओं का अन्त होते ही विचाररूपी सूर्य उदित होता है, जो अविचाररूपी अन्धकार को नष्ट करने में समर्थ है।

वस्तुओं से अभेद-भाव तथा भेदभाव का जो सम्बन्ध है। उसकी सत्यता, प्रियता और प्रकाशन निज स्वरूप तथा नित्य सम्बन्ध की सत्ता से ही सिद्ध है, क्योंकि वस्तुओं का सम्बन्ध जिसने स्वीकार किया उसी की सत्ता से वस्तुएँ सत्ता पाती हैं, और वस्तुओं को जिसने प्रकाशित किया उसी के प्रकाश से वस्तुएँ प्रकाश पाती हैं। पर वड़े ही आश्चर्य की वात यह है कि वस्तुएँ जिससे सत्ता पाती हैं उसी को ढक देती हैं और उसी की सत्ता से अपने को प्रकट करती हैं, जिस प्रकार कि सूर्य की सत्ता से उत्पन्न वादल सूर्य को ही ढक लेते हैं। प्राकृतिक नियम के अनुसार वादलों को छिन्न-भिन्न करने में भी सूर्य ही समर्थ है, कोई और नहीं। उसी प्रकार जिसने वस्तुओं से भेद-अभेद का सम्बन्ध स्वीकार किया है, वही अस्वीकृतिपूर्वक सम्बन्ध-विच्छेद करने में भी समर्थ है। अतः जिन वस्तुओं की अपने में स्थापना कर ली है उनके निकालने में और जिन वस्तुओं में अपनी स्थापना कर ली है उनसे अपने को हटा लेने में भी वही समर्थ है जिसने स्थापना की थी।

यद्यपि, जिसने वस्तुओं से सम्बन्ध स्वीकार किया है उसका स्पष्ट रूप से स्वतंत्र अस्तित्व ज्ञात नहीं होता परन्तु उसका भास अवश्य होता है। अव यदि यह कहा जाय कि जिस अनन्त की सत्ता से सभी को सत्ता मिलती है, उसी ने वस्तुओं के सम्बन्ध

को स्वीकार किया है, तो यह कहना उपयुक्त नहीं है, क्योंकि जो सब प्रकार से पूर्ण है उसे अपने से भिन्न की आवश्यकता ही नहीं होती। हाँ, यह अवश्य है कि सभी उससे भले ही सत्ता पाते हों, और यदि यह कहा जाय कि वस्तुएँ स्वयं सम्बन्ध जोड़ती हैं तो यह भी युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि जो पर-प्रकाश्य तथा परिवर्तन शील हैं वे सम्बन्ध जोड़ने में समर्थ नहीं। अतः न तो अनन्त ही को सम्बन्ध अपेक्षित है और न वस्तुएँ ही सम्बन्ध जोड़ने में समर्थ हैं। तो फिर वह कौन है कि जिसने वस्तुओं से सम्बन्ध स्वीकार किया है? इस सम्बन्ध में यही कहना युक्तियुक्त होगा कि जिसमें सत्य की जिज्ञासा है और वस्तुओं की कामना है उसी ने वस्तुओं से सम्बन्ध स्वीकार किया है। वस्तुओं से सम्बन्ध-विच्छेद करते ही सभी कामनाएँ मिट जाती हैं, जिनके मिटते ही सत्य की जिज्ञासा की पूर्ती हो जाती है। कामना-निवृत्ति तथा जिज्ञासा-पूर्ति के पश्चात् अनन्त और उसका योग, बोध तथा प्रेम से भिन्न और कुछ शेष ही नहीं रहता। इस दृष्टि से अनन्त के योग, बोध तथा प्रेम के अभाव में, जिसमें जिज्ञासा तथा कामनाएँ हैं, उसी ने सम्बन्ध स्वीकार किया है। उसे जिज्ञासु, भोगी, प्रेमी आदि विशेषणों से कथन कर सकते हैं। भोग-वासनाओं का अन्त होने पर भोगी का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं रहता, अपितु वही योगी के वेष में प्रतीत होता है, पर योग की पराकाष्टा में योगी-रहित योग, ज्ञानी-रहित ज्ञान और प्रेमीरहित प्रेम ही शेष रहता है; अथवा यों कहो कि योग, बोध तथा प्रेम उस अनंत की ही विभूतियाँ हैं। वस्तुओं के सम्बन्ध ने योग को भोग में, ज्ञान को अविवेक में और प्रेम को अनेक आसक्तियों में बदल दिया है। परन्तु सब कुछ होने पर भी जिज्ञासा तथा प्रिय लालसा किसी न किसी अंश में रहती ही है, और वही जिज्ञासा तथा प्रिय लालसा

कामनाओं को मिटाने एवं वस्तुओं से सम्बन्ध-विच्छेद कराने में समर्थ हैं। जब तक वस्तुओं से सम्बन्ध-विच्छेद नहीं होता, तब तक जिसमें जिज्ञासा तथा कामना है उसकी प्रतीति अवश्य होती है, पर कामना-निवृत्ति तथा जिज्ञासा-पूर्ति-काल में, उसके सम्बन्ध में कुछ भी कहना सम्भव नहीं है। सांकेतिक भाषा में यही कह सकते हैं कि प्रेम और प्रेमास्पद से भिन्न किसी की स्वतंत्र सत्ता का भास ही नहीं होता। प्रेमी और प्रेमास्पद में जातीय तथा स्वरूप की एकता है और परस्पर में प्रेम का ही आदान-प्रदान है। उनमें से कौन प्रेमी है और कौन प्रेमास्पद है इसका निर्णय भी सम्भव नहीं है। केवल यही कह सकते हैं कि प्रेम में सत्ता उसी की है जिसका वह प्रेम है। प्रेम ही में प्रेमास्पद का वास है और प्रेम प्रेमास्पद का ही स्वभाव है। प्रेम एक ऐसा अलौकिक तत्त्व है जिसकी निवृत्ति, क्षति या पूर्ति सम्भव नहीं। निवृत्ति कामनाओं की और पूर्ति जिज्ञासा की होती है। प्रेम की तो प्राप्ति ही होती है, पूर्ति या निवृत्ति नहीं। इस दृष्टि से प्रेम प्रेमास्पद की ही अभिव्यक्ति है और कुछ नहीं।

जब तक वस्तुओं से सम्बन्ध विच्छेद न होगा तब तक संकल्पों की उत्पत्ति, पूर्ति और निवृत्ति होती ही रहेंगी, क्योंकि क्षण-मात्र में कई संकल्प उत्पन्न होते हैं। इससे यह तो स्पष्ट विदित हो ही जाता है कि संकल्प-निवृत्ति-काल भी है। यदि न होता तो अल्प काल में कई एक संकल्प की उत्पत्ति-पूर्ति सिद्ध ही नहीं होती, क्योंकि संकल्प-उत्पत्ति-पूर्ति के मूल में संकल्प-निवृत्ति होनी ही चाहिए। अल्प काल की संकल्प-निवृत्ति में से ही जिज्ञासा जागृत होती है, जिससे साधक वस्तुओं से सम्बन्ध-विच्छेद करने में अथवा काम का अन्त करने में समर्थ होता है। संकल्प-उत्पत्ति-पूर्ति का दुःख-सुख जब असह्य होने लगता है तब

संकल्प-उत्पत्ति-पूर्ति के जीवन में सन्देह उत्पन्न होता है। सन्देह की वेदना जिज्ञासा को पूर्ण रूप से जागृत करती है। जिज्ञासा की जागृति में ही कामकी निवृत्ति और जिज्ञासा की पूर्ति निहित है।

यद्यपि काम की निवृत्ति तथा जिज्ञासा की पूर्ति वर्त्तमान की वस्तु है, पर असावधानी के कारण न जाने प्राणी ने कितने जन्म बिताए हैं और वर्त्तमान जीवन का भी बहुत बड़ा भाग बीत गया पर समस्या हल नहीं हुई। इसका एक मात्र कारण यह है कि वस्तुओं से भेद-अभेद के सम्बन्धों की स्वीकृति ने चित्त को अशुद्ध कर दिया है। अभेदभाव के सम्बन्ध से सीमित अहम् की और भेदभाव के संबन्ध से सीमित प्यार की उत्पत्ति हो गई है। यदि साधक निज विवेक के प्रकाश में वस्तुओं से जो भेद-अभेद-संबन्ध है उसका त्याग कर देवे तो सीमित अहम्भाव तथा सीमित प्यार सदा के लिए विदा हो जायँ। अहम्भाव के मिटते ही अनंत से अभिन्नता और सीमित प्यार के मिटते ही असीम प्रेम स्वतः प्राप्त होगा जो वास्तविक जीवन है। अतः वस्तुओं के संबन्ध का अस्वीकार कर चित्त शुद्ध कर लेना अनिवार्य है। जो समस्या दीर्घ काल से हल नहीं हुई वह वर्त्तमान में बड़ी सुगमतापूर्वक हल हो सकती है। साधन कितना सहज और फल कितना महान ! पर यह रहस्य वे ही जानते हैं जो वर्त्तमान में ही चित्त शुद्ध करने के लिए आकुल तथा व्याकुल हैं।

१८-५-५६

: १७ :

मेरे निज स्वरूप परमप्रिय,

जब प्राणी अपनी प्रसन्नता किसी और पर निर्भर कर लेता है तब उसका चित्त अशुद्ध हो जाता है, जिसके होते ही अनेक दोषों की उत्पत्ति अपने आप होने लगती है और चित्त शुद्ध हो जाने पर सभी दोष स्वतः मिट जाते हैं। इस दृष्टि से चित्तशुद्धि वर्त्तमान जीवन की वस्तु है; उसे भविष्य पर छोड़ना प्रमाद के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। चित्त को शुद्ध करने में प्रत्येक साधक सर्वदा स्वतंत्र है, कारण कि चित्तशुद्धि के लिए ही मानव-जीवन मिला है। उससे निराश होना और उसे भविष्य पर छोड़ देना बड़ी भारी भूल है।

भूल किसी के भाग्य में नहीं लिखी है और न किसी दूसरे के द्वारा मिलती है। जानकारी की भूल होती है, अर्थात् जिसे जानते हैं उसी को भूलते हैं। इस दृष्टि से भूल, अपना ही बनाया हुआ दोष है। जो अपना बनाया हुआ दोष है उसे मिटाने का दायित्व भी अपने ही पर है पर वह तब सम्भव होगा जब साधक प्राप्त सामर्थ्य का दुरुपयोग न करे अपितु सदुपयोग करने के लिए सर्वदा तत्पर रहे। यह नियम है कि साधक को साधन करने का सामर्थ्य स्वतः प्राप्त है, अतः साधन से निराश होना प्राकृतिक विधान का अनादर है और कुछ नहीं।

प्राणी प्रत्येक परिस्थिति में चित्त शुद्ध कर सकता है, क्योंकि सभी परिस्थितियाँ प्राकृतिक न्यायानुसार साधन-सामग्री हैं। साधन में किसी प्रकार की पराधीनता, असमर्थता एवं असफलता नहीं है, प्रत्युत प्रत्येक साधक प्रत्येक दशा में साधन करने में सर्वदा स्वाधीन तथा समर्थ है, क्योंकि किसी भी साधक को न तो वह जानना है जिसे वह नहीं जानता और न वह करना है, जिसे वह नहीं कर सकता। जाना हुआ जान लेने पर न जानने का दोष मिट जाता है, जिसके मिटते ही निस्सन्देहता आ जाती है, जिसके आते ही ज्ञान और जीवन में एकता हो जाती है। यही सफलता की कुंजी है। जो कर सकते हैं उसके करते ही कर्ता में से करने का राग निवृत्त हो जाता है और उससे सभी के अधिकार सुरक्षित हो जाते हैं, जिससे उसके प्रति सभी की सद्भावना हो जाती है और उसे स्वतः स्नेह प्राप्त होता है। स्नेहप्राप्ति में कितना रस है इसका वर्णन तो सम्भव नहीं है, केवल सांकेतिक भाषा में यह कह सकते हैं कि स्नेह के रस की तुलना किसी और रस से नहीं हो सकती, अर्थात् स्नेह का रस सर्वोत्कृष्ट रस है। इतना ही नहीं, स्नेह में आदान-प्रदान स्नेह ही का है। स्नेह देने और पाने में रस ही रस है। स्नेह देने से घटता नहीं और पाने से तृप्ति होती नहीं, जितना दिया जाय, और जितना मिले, कम ही प्रतीत होता है।

करने का राग निवृत्त होते ही भोग की रुचि स्वतः मिट जाती है, क्योंकि जो कर्त्ता है वही भोक्ता है। करने का राग नाश होते ही कर्ता न रहकर जिज्ञासु तथा प्रेमी हो जाता है, अर्थात् करने का राग निवृत्त होते ही भोग-वासनाओं का अंत हो जाता है, जिनके होते ही जिज्ञासा की पूर्ति तथा प्रेम की प्राप्ति स्वतः हो जाती है। जिज्ञासा की पूर्ति में नित्यजीवन और प्रेम की प्राप्ति में अगाध अनन्त रस स्वतः सिद्ध है।

जो साधक कर्त्तव्य के बदले में सुख की आशा करता है उसका चित्त कभी शुद्ध नहीं हो सकता, कारण कि कर्त्तव्य का महत्त्व दूसरों के अधिकार की रक्षा और अपने अधिकार के त्याग में है। अर्थात् साधन में देने ही की बात है, कुछ भी पाने की नहीं। इस दृष्टि से साधन में सर्वदा सफलता ही है। जो किसी से कुछ भी पाने की आशा करता है, वह साधक नहीं है, अपितु भोगी है। यह नियम है कि जो भोगी है, उसका चित्त कभी शुद्ध नहीं हो सकता, और चित्त-शुद्धि के बिना कभी पराधीनता स्वाधीनता में, जड़ता चेतना में, अभाव पूर्णता में परिवर्तित नहीं हो सकता। इस दृष्टि से चित्त-शुद्धि में ही जीवन की सार्थकता निहित है।

परिस्थितियों के आधार पर अपना महत्त्व आँकना अथवा अपने को दीन-हीन मानना प्राकृतिक न्याय का अनादर है; कारण कि किसी परिस्थिति के कारण कोई वास्तव में ऊँचा-नीचा नहीं है, प्रत्युत जो साधक परिस्थिति का सदुपयोग करता है वही ऊँचा है, और जो दुरुपयोग करता है वही नीचा है। इस दृष्टि से प्रत्येक परिस्थिति में प्राणी आदर-अनादर के योग्य हो सकता है। किसी परिस्थिति के आधार पर ही आदर तथा अनादर देना केवल जड़ता में जीवनबुद्धि करना है, जिससे चित्त अशुद्ध ही होगा।

प्रत्येक वस्तु स्वरूप से सारे विश्व से अभिन्न है, परन्तु बाह्य इन्द्रिय-ज्ञान के आधार पर अथवा काल्पनिक भेद के आधार पर हम उस अभिन्नता में भिन्नता मान बैठे हैं। उसका परिणाम यह हुआ है कि परस्पर में स्नेह नहीं रहा, जिससे एक दूसरे के प्रति जो करना चाहिए वह भी और जो नहीं करना चाहिए वह भी कर बैठते हैं, जिससे अनेक प्रकार के संघर्ष उत्पन्न हो जाते हैं और पारस्परिक वैर-भाव हो जाने से चित्त अशुद्ध हो जाता है। यद्यपि

प्राणी मात्र एक ही आकाश से अवकाश, एक ही सूर्य्य से प्रकाश और एक ही वायु से साँस लेता है, अर्थात् समष्टि शक्तियाँ सभी के प्रति एकता प्रदर्शित करती हैं, परन्तु बाह्य गुण, कर्म, आकृति आदि के भेद से वह अभेद में भेद मानकर मिथ्या अहम् भाव में आबद्ध हो गया है, जिससे अनेक प्रकार की आसक्तियाँ तथा कामनाएँ उत्पन्न हो गई हैं जो चित्त को अशुद्ध कर देती हैं। चित्त के अशुद्ध हो जाने पर सब प्रकार के विकास स्वतः रुक जाते हैं, क्योंकि राग-द्वेष में आबद्ध प्राणी त्याग तथा प्रेम को अपना ही नहीं पाता। त्याग के बिना चिर शान्ति और प्रेम के बिना अगाध अनन्त रस की उपलब्धि नहीं होती। शान्ति के बिना सामर्थ्य, सामर्थ्य के बिना स्वाधीनता और स्वाधीनता के बिना जीवन ही सम्भव नहीं है। इस दृष्टि से चित्त के अशुद्ध होने से प्राणी का विकास नहीं होता। राग सीमित प्यार में, और द्वेष वैरभाव में प्राणी को आबद्ध कर देता है। सीमित प्यार सुखासक्ति और वैरभाव भेद की दृढ़ता उत्पन्न करता है। सुखासक्ति से पराधीनता और भेद की दृढ़ता से अनेक प्रकार के संघर्ष उत्पन्न हो जाते हैं जो विनाश के मूल हैं। इस दृष्टि से चित्त की अशुद्धि का जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। चित्त के अशुद्ध रहते हुए न तो चित्त में स्थिरता ही रहती है और न शान्ति तथा सामर्थ्य की अभिव्यक्ति ही होती है। सामर्थ्य के सदुपयोग में ही कर्त्तव्य-परायणता निहित है। कर्त्तव्यनिष्ठ होते ही आवश्यक संकल्पों की पूर्ति और अनावश्यक संकल्पों की निवृत्ति स्वतः हो जाती है, जिसके होते ही चित्त में स्थिरता आ जाती है और भौतिक विकास भी स्वतः हो जाता है, क्योंकि आवश्यक संकल्पों की पूर्ति में ही भौतिक विकास निहित है। भौतिक विकास की पराकाष्ठा में ही अध्यात्म जीवन, और उसकी पराकाष्ठा में ही परम प्रेम की प्राप्ति

निहित है। इस कारण चित्त की शुद्धि प्रत्येक साधक के लिए परम अनिवार्य है। चित्त के शुद्ध हुए बिना निर्भयता एवं निर्वैरता, समता, मुदिता आदि दिव्य गुणों की अभिव्यक्ति सम्भव नहीं है। निर्भयता प्राप्त करने के लिए कर्त्तव्यपरायण होना अनिवार्य है। कर्त्तव्यनिष्ठ होने के लिए चित्त में स्थिरता तथा शान्ति का रहना आवश्यक है।

कर्त्तव्य का वास्तविक ज्ञान तथा सामर्थ्य उसे ही प्राप्त होता है जो राग-द्वेष-रहित हो। अतः अपने विकास तथा दूसरों के हित के लिए चित्त की शुद्धि अत्यन्त आवश्यक है।

कर्म तथा मान्यता आदि की भिन्नता होने पर भी यदि सभी के प्रति प्रीति की एकता हो जाय तब भी चित्त शुद्ध हो सकता है और यदि शरीर आदि वस्तुओं से असंगता आ जाय तब भी चित्त शुद्ध हो सकता है, परन्तु किसी से एकता और किसी से भेद स्वीकार करने पर चित्त शुद्ध नहीं हो सकता। वास्तविकता तो यही है कि या तो सारी सृष्टि एक है, अथवा शरीर आदि कोई भी वस्तु अपनी नहीं है। सभी को अपना मानने से अथवा किसी भी वस्तु को अपना न मानने से चित्त शुद्ध हो जाता है, कारण कि सभी को अपना मानने से द्वेष नहीं रहता और किसी वस्तु को अपना न मानने से राग का नाश हो जाता है। राग-द्वेष-रहित होते ही चित्त स्वतः शुद्ध हो जाता है। राग-द्वेष-रहित प्राणी के जीवन में कर्त्तव्यपरायणता स्वतः आ जाती है, जिसके आते ही वह निर्भय हो जाता है। इतना ही नहीं, न तो उससे किसी को भय होता है और न उसको किसी से भय होता है; अथवा यों कहो कि वह सब प्रकार के क्षोभ तथा क्रोध से रहित हो जाता है और उससे दूसरे प्राणी भी क्षुभित तथा क्रोधित नहीं होते, कारण कि वह किसी का बुरा नहीं चाहता है। यह नियम

है कि जो किसी का बुरा नहीं चाहता उसके मन में अशुद्ध संकल्पों की उत्पत्ति ही नहीं होती और उनके बिना अशुद्ध कर्म का जन्म ही नहीं होता। अशुद्ध कर्म के बिना किसी का अहित हो ही नहीं सकता, अर्थात् उसकी प्रत्येक प्रवृत्ति सर्व-हितकारी सद्भावना से युक्त होती है। सर्वहितकारी प्रवृत्ति वास्तविक निवृत्ति की साधना है। वास्तविक निवृत्ति में ही चिर शान्ति, सामर्थ्य, स्वाधीनता और अमरत्व आदि निहित हैं।

विवेकपूर्वक प्राणी देह आदि सभी वस्तुओं से सम्बन्ध तोड़ सकता है। वस्तुओं से सम्बन्ध टूटते ही निर्लोभता, निर्मोहता आदि दिव्य गुण स्वतः आने लगते हैं और चित्त शुद्ध हो जाता है। निर्लोभता आते ही दरिद्रता सदा के लिए मिट जाती है, मोह रहित होते ही निस्सन्देहता, अर्थात् तत्त्व-ज्ञान स्वतः हो जाता है, जिसके होते ही इन्द्रिय-ज्ञान तथा बुद्धि-ज्ञान का प्रभाव चित्त में अङ्कित नहीं होता। इन्द्रिय-ज्ञान का प्रभाव मिटते ही अनेकता में एकता का दर्शन होने लगता है और बुद्धि-ज्ञान का प्रभाव मिटते ही विषमता में समता का बोध होता है; अथवा यों कहो कि वास्तविक ज्ञान से भोग योग में, अकर्त्तव्य कर्त्तव्य में स्वतः बदल जाता है। इस दृष्टि से निस्सन्देहता जीवन का आवश्यक अङ्ग है, जो निर्मोहता से ही प्राप्त हो सकती है।

वस्तुओं से अतीत के जीवन में विकल्प-रहित विश्वास होने से भी प्राणी का चित्त शुद्ध हो जाता है, क्योंकि वस्तुओं से अतीत जो अनन्त है, उसका विश्वास प्राणी को वस्तुओं की दासता से मुक्त ही नहीं कर देता, अपितु उस अनन्त से सम्बन्ध जोड़ने में भी समर्थ होता है। यह नियम है कि जिससे नित्य सम्बन्ध स्वीकार कर लिया जाता है उसकी स्मृति स्वतः होने लगती है, जो वस्तुओं की आसक्ति का अन्त कर देती है। ज्यों-ज्यों स्मृति सबल तथा

स्थायी होती जाती है, त्यों-त्यों नित-नव-रस की उत्तरोत्तर वृद्धि स्वतः होती जाती है। अनन्त की स्मृति में कितना रस है उसका वर्णन सम्भव नहीं है, परन्तु उस रस में कभी क्षति नहीं होती। यह नियम है कि रस के अभाव में ही खिन्नता और खिन्नता से ही काम की उत्पत्ति होती है जिससे प्राणी का चित्त अशुद्ध हो जाता है। अतः अनन्त की अखण्ड स्मृति उदय होते ही काम का अन्त हो जाता है, और फिर चित्त सदा के लिये निर्मल हो जाता है। अनन्त की स्मृति अनन्त से भिन्न की विस्मृति करा देती है, जिसके होते ही स्मृति दिव्य, चिन्मय प्रीति होकर अनन्त को रस प्रदान करती है, अथवा यों कहो कि प्रीति और प्रीतम में प्रेम का ही आदान-प्रदान है जो रसरूप है, जिसकी माँग प्राणी को स्वाभाविक है।

किसी का बुरा न चाहने से सर्वात्म-भाव की उपलब्धि स्वतः होती है। वस्तुओं से अतीत के जीवन पर विकल्परहित विश्वास तथा उससे नित्य सम्बन्ध स्वीकार करने पर अनन्त की अखण्ड स्मृति तथा परम प्रेम का उदय होता है। विवेकपूर्वक सभी वस्तुओं से सम्बन्ध तोड़ने पर अचाह, अप्रयत्न तथा अभिन्नता प्राप्त होती है। सर्वात्मभाव, परम प्रेम तथा अभिन्नता प्राप्त होते ही चित्त शुद्ध हो जाता है और फिर उसकी प्रसन्नता किसी और पर निर्भर नहीं रहती, अपितु उसकी आवश्यकता सभी को हो जाती है, क्योंकि उससे सभी को प्रेम प्राप्त होता है, अथवा यों कहो कि उसका प्रेम के साम्राज्य में प्रवेश हो जाता है; जहाँ प्रेम का ही आदान-प्रदान है, जो सभी को स्वभाव से ही अभीष्ट है। अतः प्रेम के साम्राज्य में प्रवेश करने के लिये प्राप्त परिस्थिति का आदर-पूर्वक सदुपयोग करना, और किसी से सुख की आशा न रखना अनिवार्य है। यही चित्तशुद्धि का सुगम उपाय है।

१६-५-५६

: १८ :

मेरे निज स्वरूप परमप्रिय,

वस्तु, अवस्था एवं परिस्थिति के आधार पर ही अपना मूल्याङ्कन करना चित्त को अशुद्ध करना है, क्योंकि वस्तु आदि से हमारा नित्य सम्बन्ध नहीं है। जिससे नित्य सम्बन्ध नहीं है उसका उपयोग किया जा सकता है, उससे ममता नहीं की जा सकती; उनके आधार पर अपना महत्त्व घटाया-बढ़ाया नहीं जा सकता और न उसमें जीवन-बुद्धि ही स्वीकार की जा सकती है। वस्तुओं आदि की ममता से लोभ-मोह आदि विकारों की उत्पत्ति होती है। उनके आधार पर अपना महत्त्व घटाने-बढ़ाने से विषमता आती है और हृदय में दीनता तथा अभिमान की अग्नि प्रज्ज्वलित होती है। वस्तुओं में जीवन-बुद्धि करने से जड़ता, परिच्छिन्नता आदि दोषों की उत्पत्ति होती है। इस दृष्टि से वस्तु, अवस्था एवं परिस्थिति के आधार पर अपना मूल्याङ्कन करना चित्त की अशुद्धि में हेतु है। वस्तु, अवस्था आदि का सदुपयोग विद्यमान राग की निवृत्ति का साधन है, इसके अतिरिक्त वस्तु आदि का जीवन में कोई स्थान नहीं है।

वस्तु आदि की ममता के त्याग से नवीन राग की उत्पत्ति नहीं होगी और सदुपयोग से विद्यमान राग की निवृत्ति होगी। नवीन राग की उत्पत्ति न हो, और विद्यमान राग निवृत्त हो जाय

तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक चित्त शुद्ध हो जाता है, जिसके होते ही वस्तु आदि से अतीत के जीवन में अविचल श्रद्धा हो जाती है।

यह नियम है कि वस्तु आदि से सम्बन्ध-विच्छेद होते ही समस्त कामनाएँ स्वतः मिट जाती हैं। कामनाओं की निवृत्ति में ही वास्तविक जीवन की उपलब्धि निहित है।

वास्तविक जीवन हमारा अपना जीवन है। उस जीवन में किसी प्रकार की विषमता, अभाव एवं जड़ता आदि विकार नहीं हैं। चित्त की अशुद्धि के कारण आज हम अपने को अपने जीवन से विमुख कर बैठे हैं, और जो जीवन नहीं है उसमें आसक्त हो गए हैं। उसका परिणाम यह हुआ है कि हम अनेक प्रकार के अभावों में आवद्ध हो गए हैं। यद्यपि वास्तविक जीवन की जिज्ञासा तथा लालसा प्राणी में बीजरूप से विद्यमान है परन्तु अस्वाभाविक इच्छाओं ने जिज्ञासा की जागृति को ढक दिया है जिससे प्राणी वस्तु आदि की दासता में आवद्ध हो कामना की अपूर्ति और पूर्ति के दुःख-सुख को ही जीवन मान बैठा है।

सुख-दुःख दिन-रात के समान आने-जानेवाली वस्तुएँ हैं। भला उनसे नित्य सम्बन्ध कैसे हो सकता है? जिससे नित्य सम्बन्ध हो ही नहीं सकता वह हमारा जीवन कैसे हो सकता है? कदापि नहीं। चित्त की अशुद्धि के कारण जो जीवन नहीं है, हम उसकी आशा करते हैं और जो जीवन है, उससे निराश हो गए हैं। उसका परिणाम यह हुआ है कि अनेक प्रकार की आसक्तियाँ क्षोभ, क्रोध–विस्मृति पराधीनता आदि दोष उत्पन्न हो गए हैं। आसक्तियों ने स्वाधीन नहीं रहने दिया, क्षोभ ने शान्ति का अपहरण कर लिया, क्रोध ने प्रसन्नता का अन्त कर दिया और विस्मृति ने कर्त्तव्य-परायणता, अमरत्व एवं प्रेम से वंचित कर दिया। स्वाधीनता,

शान्ति, प्रसन्नता, कर्त्तव्यपरायणता, अमरत्व और प्रेम के बिना जीवन ही क्या हो सकता है ?

जिन दिव्य गुणों के प्राप्त करने में प्राणी स्वाधीन था उनकी प्राप्ति में अपने को असमर्थ मानता है और जिन वस्तुओं की प्राप्ति में प्राणी सर्वदा पराधीन है उनकी प्राप्ति के लिये अपने को स्वाधीन तथा समर्थ मानता है, जो सम्भव नहीं है। यह अनहोनी बात जीवन में चित्त की अशुद्धि से आ गई है।

चित्त की अशुद्धि का कारण कोई और नहीं है। किसी और के द्वारा हमारा चित्त अशुद्ध नहीं हो सकता; हमारे प्रमाद से ही हमारा चित्त अशुद्ध हुआ है। अपने प्रमाद के मिटाने में प्राणी स्वाधीन है। जिस जीवन में हमारा सदैव अधिकार है उससे हमें निराश नहीं होना चाहिये। वास्तविक जीवन की आशा ज्यों-ज्यों सबल तथा स्थायी होती जाएगी त्यों-त्यों जो अस्वाभाविक इच्छाएं हैं उनका त्याग स्वतः होता जाएगा। यह नियम है कि अस्वाभाविक इच्छाओं के त्याग में ही वास्तविक जीवन की प्राप्ति निहित है, पर बड़े दुःख की बात यह है कि जिसकी प्राप्ति सम्भव है उससे निराश हो बैठे हैं। उस निराशा का अन्त कर देना ही चित्तशुद्धि का मुख्य उपाय है। प्राणी किसी भी परिस्थिति में क्यों न हो, वास्तविकता की ओर अग्रसर होने के लिये समष्टि शक्तियाँ उसे सहयोग देकर सफल बनाती हैं। इस दृष्टि से चित्तशुद्धि के लिए सर्वदा तत्पर रहना चाहिये।

साधन के दो प्रधान अङ्ग होते हैं, एक निषेधात्मक और दूसरा विधि-आत्मक। यह नियम है कि निषेधात्मक साधन की पूर्ति में सभी साधक स्वाधीन हैं क्योंकि उसके लिए किसी अप्राप्त वस्तु आदि की अपेक्षा नहीं होती, और उसमें कभी असिद्धि भी नहीं होती जैसे हम किसी का बुरा नहीं चाहेंगे। इस साधन में किसी

भी साधक को कोई भी कठिनाई नहीं है और उसकी सिद्धि भी वर्तमान में ही हो सकती है, जिसके होते ही समस्त अशुद्ध सङ्कल्प स्वतः मिट जाते हैं, जिनके मिटते ही अकर्त्तव्य का अन्त हो जाता है। अकर्त्तव्य के अन्त में कर्त्तव्यपरायणता निहित है। इस दृष्टि से निषेधात्मक साधन परिपक्व होते ही विधि-आत्मक साधन स्वतः हो जाता है। साधन के किसी एक अङ्ग की परिपक्वता से दूसरे अङ्ग की भी सिद्धि हो जाती है और साधक, साधन तथा साध्य में भेद नहीं रहता जो सभी साधकों को अभीष्ट है। यह नियम है कि निषेधात्मक साधन से चित्त में शुद्धि आती है और विधि-आत्मक साधन से उसकी अभिव्यक्ति समस्त जीवन से प्रदर्शित होने लगती है। अतः चित्त की शुद्धि से कभी निराश नहीं होना चाहिये।

निषेधात्मक साधना को बिना अपनाए बलपूर्वक विधि-आत्मक साधन का वेष बनाने से चित्त शुद्ध नहीं हो सकता; कारण कि विधि-आत्मक साधन तो स्वतः स्वाभाविक होना चाहिए, पर वह तभी सम्भव है जब निषेधात्मक साधन सिद्ध हो जाय। निषेधात्मक साधन विधि-आत्मक साधन की भूमि है। जिस प्रकार भूमि के बिना कोई भी पौधा न तो उग ही सकता है और न हरा-भरा ही हो सकता है, उसी प्रकार निषेधात्मक साधन के बिना सिद्ध हुए विधि-आत्मक साधन जीवन से अभिन्न नहीं हो सकता। जो साधन जीवन नहीं हो सकता, वह कभी भी प्रतिकूलताओं के भय तथा अनुकूलताओं के प्रलोभन से असाधन में परिणत हो सकता है। अर्थात् केवल विधि-आत्मक साधन से चित्त शुद्ध नहीं हो सकता, अपितु मिथ्या अभिमान ही उत्पन्न होता है जो चित्त को अशुद्ध कर देता है। निषेधात्मक साधन निरभिमानता द्वारा ही हो सकता है, क्योंकि निषेधात्मक साधन के मूल में अपने दोष की वेदना होती है जो अभिमान को गलाती है। इस दृष्टि से निषेधात्मक

साधन ही वास्तविक साधन है। विधि-आत्मक साधन तो केवल उसका शृंगार-मात्र है। विधि-आत्मक साधन से तो साधक का प्रकाशन होता है पर साधक की साधना से अभिन्नता तो निषेधात्मक साधन से ही होती है। निषेधात्मक साधना में पराधीनता नहीं है, क्योंकि वह दृढ़ संकल्प-मात्र से सिद्ध हो जाती है। संकल्प-शक्ति सभी साधकों को स्वतः प्राप्त है। अतः चित्त की शुद्धि में न तो असमर्थता ही है और न असफलता; अथवा यों कहो कि चित्तशुद्धि का दृढ़ संकल्प ही चित्त को शुद्ध कर देता है।

अकर्त्तव्य को अकर्त्तव्य जानकर ही उसका त्याग करना चाहिए, किसी भय से भयभीत होकर अकर्त्तव्य का त्याग कुछ अर्थ नहीं रखता, प्रत्युत मिथ्या अभिमान ही उत्पन्न करता है, जो अनर्थ का मूल है। अकर्त्तव्यजनित जो सुख है वह भय से दब जाता है, मिटता नहीं। इस कारण भयपूर्वक किया हुआ अकर्त्तव्य का त्याग वास्तविक त्याग नहीं है। इसी कारण कर्त्तव्य में प्रवृत्ति सहज भाव से स्वतः नहीं हो पाती है। प्राकृतिक नियम के अनुसार अकर्त्तव्य के त्याग में ही कर्त्तव्यपालन निहित है। पर ऐसा कब होता है जब बुराई को बुराई जानकर न किया जाय और भलाई को भलाई जानकर ही किया जाय, किसी प्रलोभन से नहीं। परन्तु यह निर्विवाद सत्य है कि बुराई के त्याग बिना भलाई सम्भव नहीं है।

भय और प्रलोभन दोनों ही दोष हैं। किसी दोष की निवृत्ति के लिए किसी दोष का आश्रय लेना निर्दोषता नहीं है, अपितु निर्दोषता के वेष में महान् दोष है। यह भली भाँति जान लेना चाहिए कि जो बुराई बुराई के रूप में होती है वह सुगमता से मिट सकती है, पर जो बुराई भलाई के वेष में आती है उसका मिटना असम्भव हो जाता है। इतना ही नहीं, उससे अनेक दोष उत्पन्न

होने लगते हैं जो चित्त को अशुद्ध कर देते हैं। अतः भय का आश्रय लेकर बुराई के त्याग से बुराई-जनित सुखासक्ति का नाश नहीं होता। यह नियम है कि जब तक सुखासक्ति का अन्त नहीं होता तब तक सर्वांश में निर्दोषता नहीं आती और उसके बिना चित्त शुद्ध नहीं होता।

प्रलोभन भी एक बड़ा दोष है। उसका आश्रय लेकर किसी भी भलाई का करना भलाई नहीं है, अपितु भलाई के वेष में बुराई है क्योंकि प्रलोभन की सिद्धि न होने पर भलाई स्थायी नहीं रह पाती अर्थात् वह जीवन से अभिन्न नहीं होती। अतः जो कर्त्तव्य जीवन नहीं है वह वास्तव में कर्त्तव्य ही नहीं है। इस कारण भलाई को भलाई जानकर ही किया जाय तभी चित्त शुद्ध हो सकता है। इतना ही नहीं, वास्तविकता तो यह है कि कर्त्तव्य और जीवन एक हो जाने पर कर्तृत्व के अभिमान से रहित कर्त्तव्यपरायणता स्वतः आ जाती है और उसी से चित्त शुद्ध होता है।

यह नियम है कि अकर्त्तव्य में कर्तृत्व का अभिमान अनिवार्य है, क्योंकि वह किसी राग से प्रेरित होकर ही किया जाता है और कर्त्तव्य उस अनन्त का विधान है। इस कारण कर्त्तव्य-पालन में कर्तृत्व का अभिमान उत्पन्न ही नहीं होता। जिस प्रवृत्ति में कर्तृत्व का अभिमान होता है वह सीमित अहम्भाव को उत्पन्न करती है और जो प्रवृत्ति कर्तृत्व के अभिमान से रहित होती है उससे सीमित अहम्-भाव स्वतः मिट जाता है। सीमित अहम्-भाव अनेक प्रकार के भेद उत्पन्न करता है। भेद से कामनाओं का जन्म होता है। कामनाओं की पूर्ति-अपूर्ति के सुख-दुःख में आबद्ध प्राणी का चित्त अशुद्ध हो जाता है। इतना ही नहीं, कामनाएँ जिज्ञासा तथा वास्तविक लालसा को भी दबा देती हैं, जिससे प्राणी न तो सत्य की ही खोज कर पाता है और न अपने परम

प्रेमास्पद के प्रेम को ही प्राप्त कर सकता है। इस दृष्टि से भेद का अन्त करने के लिए सीमित अहम्‌भाव का अन्त करना अनिवार्य है। पर वह तभी सम्भव होगा जब साधक भय और प्रलोभन से रहित कर्त्तव्य का पालन करे।

कर्त्तव्यपरायणता राग-रहित करने में और अकर्त्तव्य का त्याग कर्त्तव्यपरायणता का सामर्थ्य प्रदान करने में समर्थ है। राग-रहित होते ही काम का नाश हो जाता है, जिसके होते ही इन्द्रियां विषयों से विमुख हो मन में विलीन हो जाती हैं और मन निर्विकल्प होकर बुद्धि में विलीन हो जाता है, जिसके होते ही बुद्धि सम हो जाती है जो योग है। योग से चिरशान्ति तथा आवश्यक सामर्थ्य का उदय होता है। यदि उसका सदुपयोग किया जाय तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक साधक को स्वाधीनता, चिन्मयता, निस्सन्देहता, अमरत्व एवं प्रेम की उपलब्धि होती है। इस दृष्टि से कर्त्तव्यपरायणता में ही जीवन की सार्थकता निहित है।

वस्तु, अवस्था, परिस्थितियों में जीवन-बुद्धि न रहने पर बड़ी ही सुगमतापूर्वक प्राणी कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य के भेद को जान लेता है, क्योंकि वस्तु, अवस्था आदि से असंग होने पर निर्लोभता, निर्मोहता आदि दिव्य गुणों की अभिव्यक्ति स्वतः होती है, जिसके होते ही चित्त शुद्ध हो जाता है और चित्तशुद्धि होने पर जो होना चाहिये वह स्वतः होने लगता है और जो नहीं करना चाहिये उसकी उत्पत्ति ही नहीं होती। जो होना चाहिये उसके होने से विद्यमान राग की निवृत्ति हो जाती है और जो नहीं करना चाहिये उसकी उत्पत्ति न होने से नवीन राग उत्पन्न नहीं होता, अर्थात् अकर्त्तव्य के त्याग और कर्त्तव्यपरायणता से प्राणी वीतराग हो जाता है, जिसके होते ही सभी समस्याएं स्वतः हल हो जाती हैं।

२०-५-५६

: १९ :

मेरे निज स्वरूप परमप्रिय,

चित्त की अशुद्धि की प्रतीति जिस ज्ञान से होती है उसी ज्ञान में चित्त की शुद्धि का उपाय भी विद्यमान है और उस उपाय को चरितार्थ करने का सामर्थ्य भी उसी ज्ञान में है। अतः जिसे चित्त की अशुद्धि की अनुभूति है, वह चित्त को शुद्ध करने में सर्वदा समर्थ है। यद्यपि वह सामर्थ्य उस अनन्त की ही देन है परन्तु उससे इतनी अभिन्नता है कि वह अपनी ही जैसी प्रतीत होती है। यह उस दाता की विलक्षणता है कि उसने वह सामर्थ्य इतनी सुहृदयता से दिया है कि जिसे वह मिली है वह उसे अपनी ही जानता है। यह नियम है कि सभी सीमित शक्तियाँ उस अनन्त शक्ति की ही अभिव्यक्तियाँ हैं, अथवा यों कहो कि वह अनन्त शक्ति ही अपने को अनेक रूपों में अभिव्यक्त कर रही है; क्योंकि सारी सृष्टि एक है और उसका आधार भी एक है, और वह किसी एक के प्रकाश से ही प्रकाशित है। इतना ही नहीं, यह सारी सृष्टि उस अनन्त ही के किसी एक अंश-मात्र में है। इस दृष्टि से प्रत्येक वस्तु में स्वरूप की एकता और केवल गुणों की ही भिन्नता है।

समस्त सृष्टि में जो शक्ति निरन्तर कार्य कर रही है, चित्त उसी शक्ति की एक सुन्दर अभिव्यक्ति है। वह स्वरूप से अशुद्ध नहीं है, अपितु व्यक्ति अपनी बनाई हुई अशुद्धि को चित्त की अशुद्धि मान

लेता है और फिर चित्त व्यक्ति के अधीन नहीं रहता। उस स्थिति में व्यक्ति चित्त की निन्दा करने लगता है और इस बात को भूल जाता है कि मेरा ही दोष चित्त में प्रतिबिम्बित हो रहा है। अब विचार यह करना है कि व्यक्ति का अपना दोष क्या है? इन्द्रियों के अधूरे ज्ञान का चित्त पर प्रभाव अंकित करना और बुद्धि के ज्ञान का अनादर करना व्यक्ति का अपना बनाया हुआ दोष है। जब साधक बुद्धि के ज्ञान से इन्द्रियों के ज्ञान का प्रभाव नष्ट कर देता है तब चित्त में किसी प्रकार की अशुद्धि का भास नहीं होता। जाने हुए को न मानना न जानना नहीं है, अपितु भूलना है। भूल प्राकृतिक दोष नहीं है, प्रत्युत व्यक्ति का अपना बनाया हुआ दोष है। जो अपना बनाया हुआ दोष है उसी को मिटाने का दायित्व अपने पर है। यद्यपि उस दोष के मिटाने का सामर्थ्य अनन्त की अहैतुकी कृपा से प्रत्येक साधक को प्राप्त है, परन्तु साधक असावधानी के कारण उस प्राप्त सामर्थ्य का सद्व्यय नहीं करता। उसका परिणाम यह हुआ है कि चित्त जैसा हितचिन्तक अपना साथी अपने अधीन नहीं रहा। हम जिन दोषों को चित्त में अंकित करते रहते हैं, बेचारा चित्त उन दोषों को मिटाने के लिए निरन्तर स्वभाव से ही प्रयत्नशील रहता है, पर हम उसकी इस महत्ता तथा उदारता को न मानकर उसकी निन्दा ही करते हैं और उसे बलपूर्वक दबाते रहते हैं। यद्यपि चित्त को बलपूर्वक अपने अधीन कर नहीं सके, परन्तु फिर भी यह चेत नहीं होता कि वास्तविकता क्या है? हमारा चित्त हमारे अधीन क्यों नहीं है? हमारे और उसके बीच द्वन्द्व क्यों उत्पन्न हो गया है? यदि हमने किसी वस्तु, व्यक्ति आदि से सम्बन्ध न जोड़ा होता तो क्या भला बेचारे चित्त में लोभ और मोह की प्रतीति होती? कदापि नहीं। हम जिससे सम्बन्ध जोड़ लेते हैं, चित्त

पर उसी का प्रभाव अंकित हो जाता है। यदि हम अनन्त से नित्य सम्बन्ध स्वीकार कर लें तो चित्त स्वभाव से ही अनन्त के प्रेम से भर जाता है। इस दृष्टि से चित्त-जैसी अलौकिक शक्ति कितने महत्त्व की वस्तु है। अहम्-भाव की शुद्धि में चित्त की शुद्धि स्वतः सिद्ध है। प्राणी अपनी अशुद्धि से ही चित्त को अशुद्ध करता है! चित्त वास्तव में अशुद्ध है ही नहीं। वह तो एक विभूति-मात्र है।

कामना-पूर्ति का प्रलोभन और अपूर्ति के भय ने चित्त में राग-द्वेष अङ्कित कर दिया है। कामनाओं की उत्पत्ति एक-मात्र अविवेक सिद्ध है। अविवेक का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है, प्रत्युत प्राप्त विवेक के अनादर का नाम ही अविवेक है। प्राप्त विवेक का अनादर किसी और का बनाया हुआ दोष नहीं है। जानते हुए न मानना उसी का दोष है जो जानता है। जब साधक अपने इस दोष का अन्त कर देता है तब सभी कामनाएँ स्वतः मिटने लगती हैं, जिनके मिटते ही जिज्ञासा की पूर्ति तथा प्रेम की प्राप्ति हो जाती है और फिर चित्त में लेशमात्र भी अशुद्धि का भास नहीं रहता।

कामनाओं की उत्पत्ति जो अविवेक-सिद्ध है, परिवर्तनशील, क्षण-भंगुर वस्तुओं से सम्बन्ध जोड़ती है और जो सर्वदा, सर्वत्र, नित्य प्राप्त है उससे विमुख करती है। यह कामना-उत्पत्ति का परिणाम है। वस्तुओं के सम्बन्ध ने ही, जिससे नित्य सम्बन्ध है उसकी विस्मृति और वस्तुओं की स्मृति उत्पन्न कर दी है। वस्तुओं के चिन्तन में आबद्ध प्राणी चित्त को अशुद्ध कर लेता है। चिन्तनमात्र से किसी वस्तु की उपलब्धि नहीं होती, अपितु उनकी आसक्ति ही दृढ़ होती है, क्योंकि वस्तुओं की उत्पत्ति कर्म-सापेक्ष है, चिन्तन-जन्य नहीं। जो कर्म-सापेक्ष है उसका चिन्तन करना चित्त को अशुद्ध करना है और कुछ नहीं। कर्म-अनुष्ठान प्राप्त

परिस्थिति के अनुरूप ही सम्भव है और उसका फल प्राकृतिक विधान से निर्मित है। कर्म-अनुष्ठान में स्वाधीनता प्राणी को प्राप्त परिस्थिति के अनुरूप ही है उसके विपरीत नहीं। इस दृष्टि से कर्म का महत्त्व परिस्थितियों के सदुपयोग में ही है। प्राकृतिक नियम के अनुसार परिस्थितियों के सदुपयोग में ही उनकी दासता से मुक्त होने का साधन निहित है। अतः प्रत्येक परिस्थिति आदरणीय है। पर उससे नित्य सम्बन्ध स्वीकार करना और अप्राप्त परिस्थिति का चिन्तन करना चित्त को अशुद्ध करना है।

देह आदि वस्तुओं की प्राप्ति प्रतीति-मात्र है, वास्तविक प्राप्ति नहीं है; क्योंकि यदि वस्तुएँ प्राप्त होतीं तो प्रत्येक संयोग निरन्तर वियोग की अग्नि में न जलता, न संयोग-जनित सुखासक्ति दुख में वदलती और न नित्ययोग की लालसा ही जागृत होती। वस्तुओं के वियोग की वेदना में नित्य-योग की लालसा का जागृत होना स्वतः सिद्ध है। नित्य-योग की लालसा, जो नित्य प्राप्त है उसके योग में हेतु है। जो नित्य प्राप्त है उससे प्रीति हो जाय और और जिन वस्तुओं का निरन्तर वियोग हो रहा है उनका विधिवत् सदुपयोग कर दिया जाय तो वड़ी ही सुगमतापूर्वक चित्त शुद्ध हो जाता है।

वस्तुओं के परिवर्तन का वोध जिसे है उसे ही अपने अपरिवर्तन का वोध भी है। अपरिवर्तन और परिवर्तन का नित्य सम्बन्ध सम्भव नहीं है; प्रत्युत अपरिवर्तनशील को परिवर्तनशील से विमुख होकर अपने ही में अपने को सन्तुष्ट करना है, तभी चित्त शुद्ध हो सकता है। वड़े ही आश्चर्य की वात तो यह है कि जिससे नित्य-सम्बन्ध है, जो नित्य प्राप्त है, जिसका वियोग किसी भी काल में सम्भव ही नहीं है, उससे दूरी तथा उसका अभाव भासता है, और जिससे एकता किसी भी काल में सम्भव ही नहीं है, जो

केवल प्रतीति-मात्र है, जिसमें निरन्तर परिवर्तन है और जिसका अदर्शन है, उसकी समीपता और प्राप्ति भासती है, अर्थात् प्राप्त में अप्राप्त-बुद्धि और अप्राप्त में प्राप्त-बुद्धि हो गयी है, यही चित्त की अशुद्धि है।

जिससे स्वरूप की भिन्नता है उसके राग ने, जिससे स्वरूप की एकता है उससे द्वेष तथा भेद उत्पन्न कर दिया है, अर्थात् उससे आत्मीयता नहीं होने दी। यह नियम है कि आत्मीयता में ही परम प्रेम निहित है। अतः जिससे स्वरूप की एकता है उसीसे आत्मीयता होनी चाहिए, तभी प्राप्त में प्रेम होगा।

राग की यह महिमा है कि जिससे हो जाता है उसके दोष का दर्शन नहीं होता, और बेचारा प्राणी उसी के अधीन हो जाता है जिससे राग है। राग ऐसा मधुर बन्धन है कि सुदृढ़ शृंखला में बँधा प्राणी भले ही छूट जाय पर राग में आबद्ध, जब तक उसका त्याग न कर दे, छूट ही नहीं सकता। सुदृढ़ शृंखला का बन्धन तो दूसरों की सहायता से भी कट सकता है, पर राग का बन्धन तो रागी को स्वयं तोड़ना पड़ता है। इस दृष्टि से राग का अन्त करना प्रत्येक साधक के लिए अनिवार्य है, पर वह तभी सम्भव होगा जब उसकी अभेदता तथा प्रेम उससे हो जाय जिससे उसने द्वेष तथा भेद स्वीकार कर लिया है। जो सर्वकाल में अपने हैं उनसे आत्मीयता स्वाभाविक होनी चाहिए, और जो अपने से भिन्न है ही नहीं उससे अभेदता स्वतः सिद्ध होनी चाहिए। जो होना चाहिए उसके न होने से ही चित्त अशुद्ध हुआ है। जिससे राग है उसका त्याग स्वाभाविक है। इस दृष्टि से बेचारा रागी राग को अपने में भले ही सुरक्षित रखे और उसके कारण पराधीन बना रहे, पर जिससे उसका राग है वह तो रह ही नहीं सकता। भला ऐसी दशा में राग से क्या

लाभ ? अर्थात् कुछ नहीं। राग ने ही भोग की रुचि उत्पन्न की है, भोग की रुचि ने ही बेचारे प्राणी को भोग-वासनाओं में आबद्ध किया है, भोग-वासनाओं ने ही प्राणी को नित्य-योग से विमुख किया है और नित्य-योग की विमुखता ने ही चित्त को अशुद्ध कर दिया है।

जो अपने ही हैं, अथवा जो अपने से भिन्न नहीं हैं, उनसे प्रेम हो सकता है और जिनसे मानी हुई एकता है, अथवा जो अपने से भिन्न हैं, उनकी सेवा की जा सकती है, उनसे ममता नहीं की जा सकती। समस्त साधन दो ही भागों में विभाजित हैं, प्रेम और सेवा। किन्तु सेवा उसकी जो पर है, और प्रेम उससे जो पर नहीं है। समस्त कर्त्तव्य सेवा के प्रतीक हैं और विवेक प्रेम की भूमि है। सेवा से विद्यमान राग की निवृत्ति और सुन्दर समाज का निर्माण होता है। विवेक से अमरत्व की प्राप्ति तथा प्रेम का प्रादुर्भाव होता है। जिनकी सेवा की जाय, उनसे ममता न हो, और जिससे प्रेम किया जाय उससे कोई चाह न हो, तभी चित्त शुद्ध हो सकता है। ममता-युक्त सेवा और कामना-युक्त प्रेम तो चित्त को अशुद्ध ही करता है। अतः चित्त को शुद्ध करने के लिए यह अनिवार्य हो जाता है कि शरीर आदि सभी वस्तुओं की ममता का अन्त कर दिया जाय और प्राकृतिक नियम के अनुसार उनका सदुपयोग तथा उनकी सेवा की जाय। जिनसे नित्य योग है, जो सब प्रकार से अपने ही हैं, उनसे प्रेम हो, पर किसी प्रकार की चाह न हो। अचाह हुए बिना प्रेम के साम्राज्य में प्रवेश ही नहीं होता और स्वार्थ-भाव का अन्त किए बिना सेवा सिद्ध ही नहीं होती। इस दृष्टि से चाह-रहित होने में प्रेम और ममता तथा स्वार्थ-भाव से रहित होने में सेवा निहित है। यह नियम है कि सेवा तथा प्रेम से चित्त स्वतः शुद्ध हो

जाता है। पर यह तभी सम्भव होगा कि जब जिस ज्ञान से चित्त की अशुद्धि की अनुभूति हुई है, उसी ज्ञान के द्वारा चित्त-शुद्धि की साधना का निर्माण किया जाय। चित्त की शुद्धि में ही भौतिक विकास तथा योग, बोध, एवं प्रेम निहित है। भौतिक विकास में विद्यमान राग की निवृत्ति, योग में शान्ति तथा सामर्थ्य, बोध में निस्सन्देहता, अमरत्व एवं प्रेम में अगाध अनन्त रस निहित है, जो सभी को अभीष्ट है। चित्त-शुद्धि के साधन में प्रत्येक साधक सर्वदा स्वाधीन तथा समर्थ है। अतः चित्त-शुद्धि से कभी निराश नहीं होना चाहिए क्योंकि जीवन की सार्थकता चित्त की शुद्धि पर ही निर्भर है, और उसके लिए आवश्यक ज्ञान तथा सामर्थ्य अनन्त की अहैतुकी कृपा से प्राप्त है। अतः चित्त की शुद्धि से निराश होना केवल अपना ही प्रमाद है, और कुछ नहीं।

२१-५-५६

: १० :

मेरे निज स्वरूप परमप्रिय,

बलपूर्वक दबाया हुआ चित्त शुद्ध तथा शान्त नहीं होता; अपितु कुछ काल के लिए स्थिर जैसा भासने लगता है; कारण कि बल के प्रयोग में शिथिलता का आना अनिवार्य है, जिसके आते ही चित्त साधक को दबाने लगता है, अर्थात् उसके अधीन नहीं रहता। चित्त की ऐसी दशा देख साधक उसकी निन्दा करने लगता है और इस बात पर विचार नहीं करता कि चित्त मेरे अधीन क्यों नहीं होता। यह नियम है कि बल का उपयोग अखण्ड नहीं हो सकता, उसमें शिथिलता आती ही है, जिसके आते ही वस्तुस्थिति में परिवर्तन हो जाता है। इसी कारण दबा हुआ चित्त पुनः चंचल होने लगता है। अतः जब तक चित्त शुद्ध न होगा तब तक शान्त न होगा।

चित्त-शुद्धि के लिए बल का सदुपयोग और विवेक का आदर करना है, बल से चित्त को दबाना नहीं है। बल के सदुपयोग का अर्थ है निर्बलों की सेवा। सेवा वह भाव है, जो स्वार्थ-भाव गलाने में समर्थ है। स्वार्थ-भाव गलते ही पराधीनता स्वाधीनता में बदल जाती है और फिर चित्त स्वतः शुद्धता की ओर अग्रसर होने लगता है। पराधीन प्राणी का चित्त कभी शुद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि उसकी प्रसन्नता सदैव प्राप्त एवं अप्राप्त वस्तु, व्यक्ति आदि पर

निर्भर रहती है। इसी कारण चित्त प्राप्त की आसक्ति और अप्राप्त के चिन्तन में आवद्ध हो जाता है। यह नियम है कि प्राप्त वस्तुओं की आसक्ति और अप्राप्त वस्तुओं का चिन्तन चित्त को अशुद्ध ही करता है। अतः स्वाधीनता के बिना चित्त शुद्ध हो ही नहीं सकता। पर की सेवा में स्वाधीनता और पर से सुख की आशा में पराधीनता निहित है। सेवा का अर्थ है पराए दुःख से दुखी होना, पर-दुःख से दुखी होने में पराधीनता है ही नहीं। इतना ही नहीं, पराए दुःख से दुखी होने पर चित्त में अङ्कित सुख-भोग की आसक्ति स्वतः मिटने लगती है, जिसके मिटते ही चित्त में शुद्धता स्वतः आती है। दूसरों से सुख की आशा करने मात्र से ही चित्त अशुद्ध होने लगता है, क्योंकि यदि आशा पूरी हो गई तो राग की उत्पत्ति हो जाती है और यदि पूरी नहीं हुई तो क्रोध उत्पन्न होता है। राग और क्रोध दोनों ही चित्त को अशुद्ध कर देते हैं। राग से प्राणी जड़ता तथा पराधीनता में आवद्ध हो जाता है, क्रोध से विस्मृति नष्ट होती है और बेचारा प्राणी बिना ही अग्नि के दग्ध हो जाता है, जिससे प्राप्त सामर्थ्य का भी सदुपयोग नहीं कर पाता। स्मृति-नाश होने से कर्त्तव्य, स्वरूप तथा अनन्त की अहैतुकी कृपा की विस्मृति हो जाती है। कर्त्तव्य की विस्मृति कर्त्तव्य परायणता से वंचित कर देती है, स्वरूप की विस्मृति अमरत्व से विमुख कर मृत्यु में आवद्ध कर देती है और अहैतुकी कृपा की विस्मृति नित-नव प्रीति तथा उत्कंठा एवं उत्साह को नष्ट कर देती है। इस दृष्टि से राग तथा क्रोध चित्त को अशुद्ध ही करता है।

विवेक का आदर करते ही साधक देह आदि वस्तुओं से असंग हो जाता है। वस्तुओं की असंगता कामनाओं का अन्त कर देती है। कामनाओं के अन्त में ही जिज्ञासा की पूर्ति तथा प्रेम की प्राप्ति निहित है। जिज्ञासा की पूर्ति और प्रेम की प्राप्ति से

चित्त स्वतः शुद्ध हो जाता है। इस दृष्टि से विवेक का आदर चित्त-शुद्धि में समर्थ है। प्राप्त वल के सदुपयोग तथा विवेक के आदर में साधक सर्वदा स्वाधीन है। अतः चित्त को शुद्ध करने में लेशमात्र भी पराधीनता नहीं है। वल के दुरुपयोग से ही चित्त में हिंसा आदि दोषों की उत्पत्ति होती है और विवेक के अनादर से मोह तथा अकर्त्तव्य आदि का जन्म होता है। इस दृष्टि से वल का दुरुपयोग तथा विवेक का अनादर ही चित्त की अशुद्धि में हेतु हैं। वल तथा विवेक का अत्यन्त अभाव किसी भी साधक में नहीं है, अपेक्षाकृत न्यूनता तथा अधिकता भले ही हों। चित्त-शुद्धि के लिए अप्राप्त वल-विवेक अपेक्षित नहीं है अपितु प्राप्त वल-विवेक का ही सदुपयोग करना है। वल तथा विवेक के अभाव में तो चित्त की शुद्धि-अशुद्धि का प्रश्न ही नहीं है क्योंकि वल के अभाव में अकर्त्तव्य में प्रवृत्ति ही सम्भव नहीं है। अकर्त्तव्य के विना चित्त में अशुद्धि आती ही नहीं; तो फिर शुद्धि का प्रश्न ही कहाँ उत्पन्न होता है। इतना ही नहीं, सीमित वल के अभाव में या तो व्यक्तित्व ही सिद्ध नहीं होता अथवा अनन्त वल से एकता हो जाती है, क्योंकि वल के अत्यन्त अभाव में अहम् की उत्पत्ति ही नहीं होती, अहम् के विना भेद की सिद्धि नहीं होती भेद के विना किसी दोष की उत्पत्ति नहीं होती और जब दोष की उत्पत्ति नहीं है तो निर्दोषता स्वतः सिद्ध है। अतः वल और विवेक के अभाव में चित्त अशुद्ध नहीं होता, प्रत्युत वल के दुरुपयोग तथा विवेक के अनादर से चित्त अशुद्ध होता है।

वल के दुरुपयोग तथा विवेक के अनादर से चित्त में जिन दोषों की उत्पत्ति हो गई है उनकी निवृत्ति विना किए कोई भी चित्त को केवल श्रम-मात्र से ही शुद्ध नहीं कर सकता। श्रम की सार्थकता वर्तमान कर्त्तव्य-कर्म को आलस्यरहित करने मात्र में

ही है, चित्त को दबाने में नहीं। कार्य-काल में चित्त की चंचलता का प्रश्न ही नहीं आता और कर्त्तव्य-कर्म में चित्त की अशुद्धि का प्रश्न ही नहीं आता, कारण कि कार्य-काल में चित्त का कार्य से तादात्म्य रहता है और कर्त्तव्य-कर्म विद्यमान राग की निवृत्ति का साधन-मात्र है। अतः चित्त की स्थिरता और शुद्धता का प्रश्न एक कार्य की पूर्ति और दूसरे कार्य की उत्पत्ति से पूर्व, मध्य में ही आता है और उसी काल में चित्त कैसा है, इसका ज्ञान होता है। कार्य की शुद्धता में कर्त्ता की शुद्धता प्रतिबिम्बित होती है। कार्य कर्त्ता का ही एक चित्र है और कुछ नहीं। कर्त्ता में शुद्धि कार्य के आरम्भ से पूर्व होनी चाहिये, अर्थात् शुद्ध कर्त्ता से ही शुद्ध कार्य की सिद्धि हो सकती है। कर्त्ता में शुद्धता भाव की शुद्धि से आती है और भाव में शुद्धि निज विवेक के आदर में है। इस दृष्टि से विवेक से भाव में शुद्धि, भाव की शुद्धि से कर्त्ता में शुद्धि और कर्त्ता की शुद्धि से ही कर्म शुद्ध होता है और शुद्ध कर्म से ही बल का सदुपयोग एवं विद्यमान राग की निवृत्ति होती है और राग-रहित होने में ही चित्त की शुद्धि निहित है। इस दृष्टि से श्रम का उपयोग परिस्थिति के सदुपयोग-मात्र में है। पर चित्त की शान्ति तो वास्तविक विश्राम में है।

विश्राम तीन प्रकार से उपलब्ध होता है—वर्त्तमान कार्य को पवित्र भाव से, पूरी शक्ति लगाकर, लक्ष्य पर दृष्टि रखकर करने से; विवेक-पूर्वक चाहरहित होने पर; और विश्वासपूर्वक अनन्त की अहेतुकी कृपा के आश्रित होने से। विश्राम-काल में चित्त स्थिर, शांत तथा शुद्ध तो हो ही जाता है, उसके अतिरिक्त आवश्यक शक्ति का विकास भी होता है। ऐसा कोई सामर्थ्य है ही नहीं जिसका उद्गम-स्थान विश्राम न हो। श्रम से सामर्थ्य का सद्व्यय हो सकता है और विश्राम से आवश्यक सामर्थ्य की प्राप्ति

होती है। इस दृष्टि से श्रम के अन्त में विश्राम अपेक्षित है; अथवा यों कहो कि विश्राम से ही श्रम की उत्पत्ति होती है, और विश्राम में ही श्रम विलीन होता है, क्योंकि श्रम के आदि और अन्त में विश्राम ही है। इस रहस्य को जो साधक जान लेता है वह बड़ी ही सुगमतापूर्वक चित्त को शुद्ध, शान्त तथा स्वस्थ कर लेता है। चित्त की शुद्धि में सर्व-हितकारी सद्भावनाएँ, शान्ति में सामर्थ्य और स्वाधीनता निहित है और चित्त के स्वस्थ होने पर किसी भी दशा में न तो शान्तिभंग होती है और न अशुद्धि आती है, और चित्त को जिसमें लगाना चाहिए उसमें वह स्वभाव से ही लग जाता है, और जिससे हटना चाहिए उससे हट जाता है; अथवा यों कहो कि प्रवृत्ति काल में चित्त अनासक्त और निवृत्ति-काल में चिन्मय-जीवन में विलीन हो जाता है। इतना ही नहीं, आगे-पीछे का व्यर्थ चिन्तन सदा के लिए मिट जाता है। प्रत्येक दशा में शान्ति, प्रसन्नता तथा निर्भयता सुरक्षित रहती है।

अब यदि कोई यह कहे कि सामर्थ्य का सम्पादन तो श्रम में है, विश्राम में नहीं, क्योंकि श्रम से ही प्राणी को आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त होती हैं। श्रम आलस्य का अन्त करने के लिए बड़े ही महत्त्व की वस्तु है; और शारीरिक-बौद्धिक श्रम तथा प्राकृतिक पदार्थों के संयोग से ही आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन होता है, यह भी बात ठीक ही है, पर वस्तुओं की प्राप्ति तथा उनके संग्रह में सामर्थ्य है, यह बात विचारणीय है। सामर्थ्य की कसौटी क्या है, यदि इस पर विचार किया जाय तो यह स्पष्ट विदित होता है कि सामर्थ्य आ जाने पर जो करना चाहिए वह स्वतः होने लगे और जो नहीं करना चाहिए उसकी उत्पत्ति ही न हो, जिसका ऐसा जीवन है, वही सामर्थ्यवान है। इतना ही नहीं, सामर्थ्यशाली देश, समाज, वर्ग, जाति, व्यक्ति आदि वे ही माने जा सकते हैं

कि जिनके द्वारा किसी का अहित न हो, और जिनकी प्रसन्नता किसी और पर निर्भर न हो। जो नहीं होना चाहिए उसके करने में ही दूसरों का अहित है और राग-द्वेष आदि की उत्पत्ति में ही अपनी प्रसन्नता का अभाव है। इस दृष्टि से जिसके द्वारा किसी का अहित नहीं होता, और जो राग-द्वेप-रहित है, वही सामर्थ्य-शाली है। वस्तुओं के संग्रह-मात्र से कोई सामर्थ्यशाली नहीं हो जाता, अपितु वस्तुओं का संग्रह तथा दुरुपयोग ही कर्त्ता को तथा समाज को असमर्थ बनाता है। जिससे असमर्थता आ जाय उसे सामर्थ्य कहना कहाँ तक युक्तियुक्त है? सामर्थ्य तो वही है जिससे असमर्थता का विनाश हो। इस दृष्टि से वह सामर्थ्य जिससे असमर्थता मिट जाती है, विश्राम में निहित है, श्रम में नहीं। हाँ, एक बात विचारणीय है कि कहीं आलस्य को विश्राम न मान लिया जाय। आलस्य और विश्राम में बड़ा भेद है। आलसी के जीवन में व्यर्थ चिन्तन का प्रवाह रहता है और आलसी वस्तु, व्यक्ति आदि का दास हो जाता है, परन्तु जिन्हें विश्राम प्राप्त है वे सदैव वस्तु, व्यक्ति आदि से अतीत के जीवन में अविचल भाव से निवास करते हैं, व्यर्थ चिन्तन की तो गंध ही नहीं रहती, अपितु उनका शरीर विश्व के काम आ जाता है, हृदय में प्रीति की गंगा लहराती है और वे सब प्रकार के अभिमान से रहित हो जाते हैं जो वास्तव में चित्तशुद्धि का परिणाम है।

यह प्राकृतिक नियम है कि जो किसी को भी भय देता है अथवा दबाता है उसे स्वयं भी भयभीत होना पड़ता है और उसकी विरोधी शक्ति उसे अवश्य दबाती है। इस दृष्टि से साधक के जीवन में किसी को भय देने तथा दबाने का कोई स्थान ही नहीं है। तो फिर चित्त जैसी अलौकिक दिव्य शक्ति को भय देना, दबाना, उसकी निन्दा करना कहाँ तक न्यायसंगत

है। बेचारा चित्त रस तथा शान्ति का पुजारी है। वह निरन्तर उसी की खोज में लगा है। हम उसे भय तथा प्रलोभन देकर किसी न किसी अवस्था में आबद्ध करना चाहते हैं। पर वह तो सभी अवस्थाओं से अतीत की ओर जाना चाहता है। इस कारण चित्त कभी भी किसी भी अवस्था में अधिक देर तक नहीं ठहरता, किसी भी अवस्था में देर तक न ठहरना चित्त का दोष नहीं है अपितु विशेषता है। यदि साधक चित्त पर से अपना शासन हटा ले और अपने में से सभी माने हुए सम्बन्धों का अन्त कर दे तो चित्त बड़ी ही सुगमतापूर्वक शुद्ध, शान्त तथा स्वस्थ हो जावेगा। प्राणी के देखे-सुने तथा माने हुए सम्बन्धों में ही बेचारा चित्त भटकता है। साधक असावधानी के कारण स्वयं तो माने हुए सम्बन्धों का त्याग नहीं करता, जिस अनन्त से नित्य सम्बन्ध है उसको स्वीकार नहीं करता और चित्त से यह आशा करता है कि वह कहीं न भटके, एक ही में लगा रहे। भला इसमें चित्त का क्या दोष है? यदि उस बेचारे का कोई दोष है तो केवल इतना ही कि वह आपके माने हुए सम्बन्धों का आदर करता है और अधिक देर तक इसलिए नहीं ठहरता कि उसे उसकी ओर जाना है जिससे प्राणी का नित्य सम्बन्ध है। इस दृष्टि से चित्त के समान प्राणी का और कोई हित-चिन्तक तथा आज्ञाकारी नहीं है। परन्तु प्राणी असावधानी से अपने दोष को चित्त का दोष मान बैठता है।

अब यदि कोई यह बात स्वीकार न करे तो उसे चाहिये कि वह चित्त से सम्बन्ध तोड़ दे। चित्त ने एक बार भी किसी से नहीं कहा कि मैं तुम्हारा हूँ। फिर भी जिसे उसने अपना कहा उसके दोष को उस बेचारे ने अपना दोष मान लिया। जो चित्त की निन्दा करता है, क्या बेचारे चित्त ने भी कभी उसकी निन्दा

की ? कदापि नहीं। चित्त से सम्बन्ध तोड़ने पर भी चित्त स्वभाव से ही शुद्ध हो जाता है। अतः अपने को निर्दोष बनाकर चित्त को शुद्ध कर लो अथवा चित्त से असंग हो जाओ तो चित्त शुद्ध हो जावेगा। इस दृष्टि से चित्त की शुद्धि चित्त को दबाने में नहीं है; अपितु अपने को कर्त्तव्य-निष्ठ बनाकर विश्राम पाने में है।

२२-५-५६

: २१ :

मेरे निज स्वरूप परमप्रिय,

चित्त की चंचलता की अनुभूति उसी काल में होती है जिस काल में चित्त की स्थिरता तथा शान्ति का प्रयास होता है। जब तक प्राणी के जीवन में चित्त की स्थिरता तथा शान्ति का प्रश्न ही नहीं उत्पन्न होता, तब तक चित्त चंचल है, इस बात की अनुभूति भी नहीं होती। इस दृष्टि से चित्त की चंचलता की अनुभूति में चित्त की स्थिरता की साधना निहित है। अतः चित्त की चंचलता की अनुभूति जब-जब हो तब-तब यह समझना चाहिये कि चित्त की स्थिरता की साधना आरम्भ हो गयी।

अब विचार यह करना है कि चित्त की चंचलता का भास ही कब होता है। उत्पन्न हुए संकल्पों की पूर्त्ति तथा पूर्ति के आशा-काल में चित्त में चंचलता का भास नहीं होता और यदि उत्पन्न हुए संकल्प का त्याग कर दिया जाय तब भी चंचलता का भास नहीं होता, किन्तु जब उत्पन्न हुए संकल्प की अपूर्त्ति की सम्भावना होती है तब चित्त की चंचलता का भास होता है। इस दृष्टि से यह स्पष्ट विदित होता है कि संकल्प-अपूर्त्ति न हो अथवा संकल्प की उत्पत्ति ही न हो तो चित्त की चंचलता की किसी को भी अनुभूति नहीं हो सकती, क्योंकि संकल्प-पूर्ति-काल में तो चित्त शरीर, इन्द्रिय आदि वस्तुओं से तद्रूप हो जाता है और संकल्प-

निवृत्ति-काल में चित्त का स्वतः निरोध हो जाता है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध है कि संकल्पों की अपूर्त्ति-काल में ही चित्त की चंचलता का भास है।

संकल्प-अपूर्ति का चित्र ही क्यों आता है? अनावश्यक संकल्पों की उत्पत्ति से। अनावश्यक संकल्प ही क्यों उत्पन्न होते हैं? संकल्प-पूर्ति में ही जीवन-वुद्धि होने से। संकल्प-पूर्त्ति-मात्र में ही जीवन वुद्धि क्यों होती है? शरीर, इन्द्रिय आदि वस्तुओं से तादात्म्य स्वीकार करने पर। समस्त संकल्पों का उद्‌गम-स्थान भी वस्तु से तादात्म्य है और संकल्प-पूर्ति में भी वस्तुओं की ही महत्ता है; अथवा यों कहो कि वस्तु ही जीवन है, यह दृढ़ता ही वास्तव में संकल्प का स्वरूप है। वस्तुओं के अस्तित्व की अस्वीकृति में संकल्पों की उत्पत्ति ही नहीं है। इस दृष्टि से वस्तुओं के सूक्ष्म रूप का नाम संकल्प और संकल्प के स्थूल रूप का नाम वस्तु है। वस्तु और संकल्प के स्वरूप में एकता है। जैसे वीज और वृक्ष में एकता भी है और भिन्नता भी भासती है, उसी प्रकार संकल्प और वस्तुओं में एकता होने पर भी भिन्नता भासती है। इसी कारण वस्तु की अस्वीकृति में संकल्प की उत्पत्ति ही नहीं होती और निर्विकल्पता में वस्तु की प्रतीति ही नहीं होती। अतः यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि संकल्प और वस्तु ये दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं; उसे वस्तु कहो अथवा संकल्प। ऐसा कोई संकल्प नहीं जिसमें विकल्प न हो, और ऐसी कोई वस्तु नहीं जिसमें परिवर्त्तन तथा उसका अदर्शन न हो। इस दृष्टिकोण से भी वस्तु और संकल्प में एकता ही है, अर्थात् वस्तुओं से तादात्म्य अथवा उनमें जीवन-वुद्धि होने से ही संकल्प-पूर्ति का महत्त्व वढ़ जाता है, जिससे संकल्प-पूर्त्ति के सुख में आसक्ति हो जाती है और उससे ही संकल्प-अपूर्त्ति का चित्र आता है। संकल्प-अपूर्ति

की वेदना ज्यों-ज्यों बढ़ती जाती है त्यों-त्यों संकल्प-पूर्ति के सुख की दासता स्वतः गलती जाती है। जिस काल में पूर्ण रूप से संकल्प-अपूर्त्ति की वेदना जागृत हो जाती है, उसी काल में संकल्प-निवृत्ति की लालसा उदित होती है जो संकल्पों का अंत कर निर्विकल्पता प्रदान करती है जिससे चित्त की चंचलता-स्थिरता में बदल जाती है।

यद्यपि संकल्प-पूर्त्ति तथा अपूर्ति कोई विशेष ह्रास तथा विकास नहीं है परन्तु संकल्प-पूर्त्ति की दासता में ह्रास और संकल्प-अपूर्त्ति की वेदना में विकास निहित है। प्राकृतिक नियमानुसार संकल्प-पूर्ति राग की वास्तविकता को जानने के लिए है और संकल्प-अपूर्त्ति का सदुपयोग नवीन राग की उत्पत्ति न होने में है। इस दृष्टि से संकल्प-पूर्त्ति-अपूर्त्ति दोनों ही उपयोगी हैं। पर संकल्प-पूर्त्ति को ही जीवन मान लेना तो एक-मात्र प्रमाद ही है जिससे चित्त चंचल तथा अशुद्ध होता है।

संकल्प-पूर्त्ति की समस्या ही प्राणी का वस्तुओं से सम्बन्ध जोड़ देती है, कारण कि यदि संकल्प-पूर्त्ति की रुचि न हो तो बुद्धि मन के, मन इन्द्रियों के और इन्द्रियाँ विषयों के अधीन न हों, अपितु संकल्प-पूर्त्ति का महत्त्व मिट जाने से इन्द्रियाँ प्रत्येक प्रवृत्ति के अंत में स्वभाव से ही विषयों से विमुख होकर मन में विलीन हो जायँ। मन निर्विकल्प होकर बुद्धि में विलीन हो जाय जिसके होते ही बुद्धि सम हो जायगी, जिसके होते ही वस्तुओं से स्वतः सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है और फिर संकल्प-पूर्त्ति-अपूर्त्ति का प्रश्न ही नहीं रहता। इस दृष्टि से संकल्प-पूर्त्ति का महत्त्व न रहने में ही निर्विकल्पता स्वतः सिद्ध है जो चित्त को स्थिर तथा शान्त करने में समर्थ है।

यद्यपि संकल्प-पूर्त्ति-अपूर्त्ति दोनों ही में उस अनन्त का मंगल-

मय विधान निहित है, क्योंकि दोनों ही के सदुपयोग में प्राणी का हित है परन्तु प्राणी असावधानी से संकल्प-अपूर्त्ति के दुःख से भयभीत हो जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि संकल्प-पूर्त्ति का महत्त्व बढ़ जाता है जो चित्त की अशुद्धि में हेतु है। संकल्प-अपूर्त्ति में यदि यह अनुभव किया जाय कि संकल्प-अपूर्ति में उस अनन्त के संकल्प की पूर्ति है तो बड़ी सुगमता से संकल्प-अपूर्ति की वेदना उस अनन्त के प्रेम को जागृत कर सकती है। इस दृष्टि से संकल्प-अपूर्ति का कितना महत्त्व है! परन्तु बेचारा प्राणी इस रहस्य को बिना ही जाने संकल्प-अपूर्ति के दुख से भयभीत हो जाता है। परन्तु भयभीत होने के स्थान पर होना यह चाहिए कि जब-जब जीवन में संकल्प-अपूर्ति का चित्र सामने आए तब-तब साधक को यही समझना चाहिए कि मेरे संकल्प की अपूर्ति में प्रेमास्पद के संकल्प की पूर्ति निहित है जो प्रेमी के लिए रसरूप है। भौतिक दृष्टि से व्यक्ति के संकल्प की अपूर्ति में समाज के संकल्प की पूर्ति है, और आध्यात्मिक दृष्टि से संकल्प-अपूर्ति में संकल्प-निवृत्ति की प्रेरणा है; अथवा यों कहो कि अभाव की अनुभूति है जो अभाव का अभाव करने की प्रेरणा देती है। सभी दृष्टियों से संकल्प-अपूर्ति का बड़ा ही महत्त्व है। संकल्प-अपूर्ति के महत्त्व को अपना लेने पर संकल्प-पूर्ति का महत्त्व अपने आप मिट जाता है, जिसके मिटते ही संकल्प-अपूर्ति में दुख जैसी कोई वस्तु ही नहीं रह जाती। अतः संकल्प-अपूर्ति-काल में साधक को एक विशेष प्रसन्नता का अनुभव करना चाहिए। संकल्प-अपूर्ति की प्रसन्नता संकल्प-निवृत्ति प्रदान करने में समर्थ है। इतना ही नहीं, संकल्प-पूर्ति यदि वस्तुओं का महत्त्व बढ़ाती है तो संकल्प-निवृत्ति वस्तुओं से अतीत के जीवन का महत्त्व बढ़ाती है। वस्तुओं से अतीत के जीवन में किसी

प्रकार का वैषम्य, अभाव तथा जड़ता नहीं है। इसी कारण उस जीवन की लालसा-मात्र से चित्त शुद्ध हो जाता है।

वस्तुओं से अतीत के जीवन की लालसा तभी सबल तथा स्थायी हो सकती है जब संकल्प-पूर्ति की अपेक्षा संकल्प-निवृत्ति में विशेष अभिरुचि हो। उसमें अभिरुचि तभी होती है जब संकल्प-अपूर्ति की वेदना संकल्प-पूर्ति के सुख के राग को मिटा सके। इस दृष्टि से संकल्प-अपूर्ति की वेदना में ही संकल्प-निवृत्ति की साधना निहित है। परन्तु संकल्प-अपूर्ति के दुःख से भयभीत होना, और संकल्प-पूर्ति की दासता जीवित रखना कुछ अर्थ नहीं रखती। संकल्प-अपूर्ति के दुःख से दुखी होना चाहिए पर संकल्प-पूर्ति की आशा में आवद्ध नहीं रहना चाहिए। दुःख का होना कोई दोष नहीं है पर उसके भय से भयभीत होकर सुख का चिन्तन करना वास्तविक दोष है। दुःख जितना गहरा होता है उतनी ही स्पष्ट जागृति आती है; क्योंकि दुःख ही एक ऐसा मूल मन्त्र है जिससे वस्तु, व्यक्ति आदि के स्वरूप का बोध होता है। वस्तु आदि का यथार्थ ज्ञान वस्तुओं से असङ्गता प्रदान करने में समर्थ है। वस्तुओं की असङ्गता में ही अचाह पद की प्राप्ति, और उस में ही चित्त-शुद्धि निहित है।

वस्तुओं से तादात्म्य अविवेक-सिद्ध है, वास्तविक नहीं। अविवेक विवेक का अभाव नहीं, अपितु विवेक का अनादर है। विवेक का अनादर कब से आरम्भ हुआ है, इसका पता सम्भव नहीं। परन्तु विवेक का आदर वर्तमान में ही हो सकता है, और उसके आदर-मात्र से ही अविवेक का अभाव हो सकता है, यह निर्विवाद सत्य है। अभाव उसी का होता है जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व न हो, अर्थात् जो किसी और की सत्ता से ही सत्ता पाता है। इसी कारण किसी ने भी अविवेक को विषय नहीं

किया। उसके प्रभाव से भले ही अपने को असावधान कर लिया हो पर अविवेक को अविवेकी ने अपने से भिन्न कभी नहीं देखा, जिस प्रकार निर्धन में धन की लालसा रहती है अथवा यों कहो कि जैसे धन की लालसा के अतिरिक्त निर्धनता कुछ नहीं है, उसी प्रकार विवेक की लालसा से अतिरिक्त अविवेक कुछ भी नहीं है और अविवेक से भिन्न अविवेकी का कोई अस्तित्व नहीं है। इस दृष्टि से अविवेक कब तक है, जब तक प्राप्त विवेक का आदर नहीं, और प्राप्त विवेक का आदर कब तक नहीं? जब तक इन्द्रिय-ज्ञान में ही तादात्म्य तथा सद्बुद्धि है। इन्द्रियों के ज्ञान में सन्देह होते ही जिज्ञासा स्वतः जागृत होती है। जिज्ञासा की जागृति सभी कामनाओं का अन्त कर अपनी पूर्ति में आप समर्थ हो जाती है। यह नियम है कि जिज्ञासा की पूर्ति में ही निस्सन्देहता तथा निर्भयता निहित है। भय तथा सन्देह का अन्त होने पर चित्त स्वभाव से ही शुद्ध तथा शान्त होने लगता है, क्योंकि भय तथा सन्देह ने ही चित्त को अशुद्ध किया है। यदि भय तथा सन्देह की वेदना असह्य हो जाय, अथवा यों कहो कि उसका मिटाना वर्तमान जीवन की वस्तु हो जाय तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक भय तथा सन्देह का अन्त हो सकता है। परन्तु जब तक प्राणी भय तथा सन्देह के रहते हुए चैन से रहता है, तब तक उसका अन्त नहीं होता। निस्सन्देह एवं अभय होने की माँग इतनी तीव्र होनी चाहिए कि उसके बदले में कोई भी प्रलो-भन उस माँग में शिथिलता उत्पन्न न कर सके। प्राणी अपनी माँग की पूर्ति में भले ही असमर्थ हो परन्तु अपूर्ति-जनित दुःख में तो सर्वदा समर्थ है। माँग की अपूर्ति का दुःख उस समय तक उत्तरोत्तर बढ़ते रहना चाहिए, जब तक माँग की पूर्ति न हो जाय। यह तभी सम्भव होगा जब निस्सन्देहता एवं निर्भयता की प्राप्ति

से लेश मात्र भी निराशा न हो, अपितु नित-नव आशा का संचार होता रहे।

सन्देह तथा भय सदैव सुरक्षित नहीं रह सकते, क्योंकि निस्सन्देहता तथा निर्भयता में ही जीवन है। जो जीवन है उनसे निराश होना प्रमाद है, और कुछ नहीं। प्रमाद अपना ही बनाया हुआ दोष है। प्रमाद को प्रमाद जान लेने पर वह बड़ी ही सुगमतापूर्वक मिट जाता है, और उसके मिटते ही चित्त स्वतः शुद्ध हो जाता है। चित्त की शुद्धि में ही चित्त की शान्ति तथा उसकी प्रसन्नता निहित है। शान्ति सामर्थ्य को प्राप्त कराती है और प्रसन्नता खिन्नता को खाकर काम का अन्त करती है। काम के अन्त में ही सब प्रकार के सुख-दुःख का अन्त हो जाता है, और सुख-दुःख से अतीत के जीवन की प्राप्ति स्वतः हो जाती है। इस दृष्टि से चित्त की शुद्धि वर्तमान की ही वस्तु है और उसी में जीवन की सार्थकता सिद्ध हो सकती है।

२३-५-५६

: ११ :

मेरे निज स्वरूप परमप्रिय,

ज्ञान और जीवन में भेद प्रतीत होना ही चित्त की अशुद्धि है। वास्तव में तो ज्ञान में ही जीवन और जीवन में ही ज्ञान है। जीवन और ज्ञान में विभाजन सम्भव नहीं है। जो सम्भव नहीं है, उसका भासित होना चित्त की अशुद्धि के अतिरिक्त और हो ही क्या सकता है? क्या वह जीवन हो सकता है जो अपने को अपने आप प्रकाशित न करे? कदापि नहीं। जो अपने को अपने आप प्रकाशित कर रहा है, क्या वह ज्ञान-शून्य हो सकता है? कभी भी नहीं। इस दृष्टि से ज्ञान ही जीवन, और जीवन ही ज्ञान है।

वास्तविक ज्ञान में निस्सन्देहता है और अधूरे ज्ञान में संदेह है। सन्देह की वेदना में ही जिज्ञासा की जागृति है, और जिज्ञासा की पूर्ति में ही वास्तविक ज्ञान है। इसलिए जितने प्रश्न उत्पन्न होते हैं, उन सबकी भूमि अल्प-ज्ञान है, ज्ञान का अभाव नहीं। अल्प-ज्ञान में ही सद्भाव होने से कामनाओं की उत्पत्ति होती है। यद्यपि कामनाओं की उत्पत्ति जिज्ञासा को मिटा नहीं पाती, परन्तु उसमें शिथिलता अवश्य आ जाती है जिससे सन्देह की वेदना दब जाती है और कामना-पूर्ति के सुख की दासता उत्पन्न हो जाती है। जब तक सन्देह की वेदना सबल नहीं होती, तब

तक कामना-पूर्ति के सुख का प्रलोभन नष्ट नहीं होता। उसके नष्ट बिना हुए न तो जिज्ञासा की पूर्ति होती है और न परमप्रेम का उदय ही होता है। प्राकृतिक नियम के अनुसार निस्सन्देहता में ही जीवन तथा प्रेम में ही रस निहित है। किसी भी प्राणी को रस-विहीन जीवन प्रिय नहीं, और जीवन-रहित रस भी अभीष्ट नहीं, अर्थात् रस और जीवन दोनों ही की आवश्यकता है। रस में जीवन है, अथवा जीवन में रस है, इसका निर्णय युक्तियुक्त सम्भव नहीं, किन्तु यह सभी को मान्य है कि यदि जीवन हो तो उसमें रस अवश्य हो।

जीवन उसे नहीं कह सकते जिसका कभी अभाव हो अथवा जिसमें परिवर्तन हो, और रस उसे नहीं कह सकते जिसमें क्षति, पूर्ति तथा निवृत्ति हो। इस दृष्टि से वस्तु आदि से तद्रूप होने में न तो जीवन की ही सिद्धि है और न रस की ही उपलब्धि सम्भव है, क्योंकि प्रत्येक वस्तु स्वभाव से ही सतत परिवर्तनशील है, और उसका अदर्शन है; अथवा यों कहो कि उत्पत्ति-विनाश-युक्त है। उत्पत्ति-विनाश के क्रम में स्थिति केवल भास-मात्र है। जिसकी स्थिति ही सिद्ध नहीं उसमें जीवन की स्वीकृति कुछ अर्थ नहीं रखती।

यद्यपि जीवन की माँग प्राणि मात्र में स्वाभाविक है, परन्तु जिसमें जीवन की माँग है, क्या वह स्वयं जीवन नहीं है? यदि वह स्वयं जीवन है तो माँग कैसी, और माँग है तो जीवन कैसा? क्योंकि बिना अभाव की अनुभूति के माँग की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती और जिसमें माँग की उत्पत्ति होगी, उसका अस्तित्व माँग की उत्पत्ति से पूर्व भी होना चाहिए। यदि अस्तित्व है तो फिर जीवन की लालसा कैसी? यह नियम है कि लालसा तथा जिज्ञासा उसी की हो सकती है जिसका नित्य, स्वतंत्र, स्वतः

सिद्ध अस्तित्व है। किसी भी उत्पत्ति-विनाश-युक्त वस्तु का नित्य, स्वतंत्र, स्वतः-सिद्ध अस्तित्व नहीं हो सकता। अतः वस्तुओं के आश्रय से जीवन की उपलब्धि सम्भव नहीं है, अथवा यों कहो कि वस्तुओं में जीवन-बुद्धि स्वीकार करना प्रमाद के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इस दृष्टि से वास्तविक जीवन वस्तुओं से अतीत होना चाहिए। वस्तुओं के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान ही वस्तुओं से असंगता प्रदान करने में समर्थ है।

इन्द्रियों के ज्ञान से वस्तुओं में सत्यता तथा सुन्दरता भासती है, परन्तु फिर भी कोई वस्तु अपने को अपने आप प्रकाशित नहीं करती है। इतना ही नहीं, बेचारी इन्द्रियाँ भी अपने को अपने आप प्रकाशित नहीं करती हैं। इस दृष्टि से इन्द्रियों की गणना भी वस्तुओं ही में आती है। यद्यपि प्रत्येक इन्द्रिय जिस वस्तु को विषय करती है उस वस्तु की अपेक्षा उसमें कुछ विलक्षणता है, परन्तु पर-प्रकाश्य होने के कारण इन्द्रियों का भी स्वतंत्र अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता। जिसका स्वतंत्र अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता उसमें कितनी ही विलक्षणता क्यों न हो, पर वह वस्तु ही है। प्रत्येक इन्द्रिय अपने विषय की अपेक्षा सूक्ष्म तथा विभु भले ही हो, परन्तु जिस ज्ञान से इन्द्रियों का ज्ञान होता है, उसकी अपेक्षा तो इन्द्रियाँ स्थूल तथा सीमित ही हैं (इन्द्रियों का ज्ञान जिससे होता है उसे बुद्धि का ज्ञान कहते हैं)। जिस ज्ञान से प्राणी इन्द्रियों को विषय करता है, उस ज्ञान से प्रत्येक वस्तु वैसी नहीं मालूम होती जैसी इन्द्रियों के ज्ञान से प्रतीत होती है। यद्यपि वस्तु वही है जिसे इन्द्रियों ने विषय किया परन्तु ज्ञान में भेद होने के कारण वस्तु के सम्बन्ध में निर्णय वह नहीं रहा जो इन्द्रियों का था। इन्द्रियों ने जिसे सत्य और सुन्दर बताया था, उसीको उस ज्ञान ने, जिसने इन्द्रियों को विषय किया

था अनित्य तथा असुन्दर बताया। एक ही वस्तु के सम्बन्ध में विपरीत निर्णय होने के कारण व्यक्ति में वास्तविकता जानने की जिज्ञासा स्वतः होती है। इन्द्रियों के ज्ञान के प्रभाव ने व्यक्ति में कामनाओं को जन्म दिया और उस ज्ञान ने जिज्ञासा को जागृत किया, जिस ज्ञान से इन्द्रियों को जाना था। दोनों प्रकार के ज्ञान का प्रभाव किसी एक पर ही है, और उसी में कामना तथा जिज्ञासा निवास करती है।

कामना-पूर्ति का प्रलोभन जिज्ञासा को शिथिल बनाता है और जिज्ञासा की जागृति कामनाओं का नाश करती है। जो व्यक्ति अपने को कामनायुक्त मानता था वही अपने को जिज्ञासु मानता है। जिस ज्ञान से वस्तुएँ सत्य और सुन्दर मालूम होती थीं वह ज्ञान उस ज्ञान की अपेक्षा अल्प है जिससे वस्तुएँ अनित्य तथा असुन्दर मालूम होती हैं। एक काल में किसी भी व्यक्ति पर एक प्रकार के ज्ञान का ही प्रभाव रहता है। इन्द्रियों के ज्ञान का प्रभाव मिटते ही राग वैराग्य में और भोग योग में बदल जाता है, जिसके बदलते ही कामनाएँ मिट जाती हैं और जिज्ञासा की पूर्ति हो जाती है; अथवा यों कहो कि कामनाओं का नाश इन्द्रियों को विषयों से विमुख कर देता है। विषयों से विमुख होते ही इन्द्रियों का ज्ञान उस ज्ञान में विलीन हो जाता है, जिसने इन्द्रियों को विषय किया था।

विषयों की विमुखता में वस्तुओं की महत्ता कुछ नहीं रहती, जिसके न रहने पर वस्तुओं से अतीत के जीवन में प्रवेश हो जाता है। उस जीवन में पराधीनता नहीं है, और दीनता तथा अभिमान भी नहीं है। जहाँ दीनता और अभिमान नहीं है, वहाँ विषमता भी नहीं है। जहाँ विषमता नहीं रहती, वहाँ प्रसन्नता स्वतः उदित होती है। जहाँ प्रसन्नता रहती है वहाँ खिन्नता

निवास नहीं करती, और जहाँ खिन्नता निवास नहीं करती वहाँ काम की उत्पत्ति ही नहीं होती। काम का अभाव होते ही भेद तथा भिन्नता स्वतः मिट जाती है, जिसके मिटते ही निस्सन्देहता, निर्भयता, चिन्मयता आदि दिव्यताएँ जीवन में स्वतः प्राप्त होती हैं। उसी जीवन की माँग वस्तुओं में आवद्ध प्राणी को रहती है। वस्तुओं की दासता ने ही प्राणी को उस जीवन से विमुख किया है। उस जीवन की विमुखता से जीवन की माँग उत्पन्न हुई है जिसकी पूर्ति अनिवार्य है। पर कव ?-जव वस्तुओं से अपने को असंग कर लिया जाय। वस्तुओं से असंग होने के लिए इन्द्रियों के ज्ञान का प्रभाव मिटाना होगा। इन्द्रियों के ज्ञान का प्रभाव मिटते ही चित्त शुद्ध हो जाता है, जिसके होते ही साधक वास्तविक जीवन का अधिकारी हो जाता है।

इन्द्रियों के ज्ञान का प्रभाव जिस ज्ञान से मिटता है वह ज्ञान भी अल्प है, क्योंकि राग को वैराग्य में और भोग को योग में परिवर्तित कर देने के वाद वह ज्ञान अपने को अपने आप प्रकाशित नहीं करता। जो पर-प्रकाश्य है वह नित्य नहीं हो सकता। निस्सन्देहता नित्य-ज्ञान में ही निहित है। यद्यपि नित्य-ज्ञान का किसी भी काल में अभाव नहीं है, परन्तु अल्प ज्ञान को ही ज्ञान मान लेने पर नित्य ज्ञान से भिन्नता भासने लगती है। यह नियम है कि वस्तुओं के परिवर्तन का ज्ञान जव वस्तुओं की सत्यता के ज्ञान का अपहरण कर लेता है तव साधक की नित्य-ज्ञान से अभिन्नता स्वतः हो जाती है। चित्तशुद्धि के लिए वस्तुओं के परिवर्तन तथा अदर्शन के ज्ञान का प्रभाव अनिवार्य है।

वस्तुओं की सत्यता, सुन्दरता के ज्ञान का प्रभाव और वस्तुओं के परिवर्तन तथा अदर्शन के ज्ञान का प्रभाव जिस पर होता है, उसी में जीवन तथा रस की माँग है, क्योंकि वही खिन्नता तथा

मृत्यु से भयभीत है। खिन्नता और मृत्यु का भय जीवन तथा रस की आवश्यकता जागृत करता है, परन्तु कब? जब खिन्नता तथा मृत्यु के भय से साधक अधीर न हो जाय अपितु उस भय का नाश करने के लिए उत्कण्ठा एवं उत्साहपूर्वक साधन में तत्पर बना रहे।

भय का अन्त वर्तमान की वस्तु है। उसके लिए भविष्य की आशा करना, अथवा उससे निराश होना साधक का प्रमाद है और इस प्रमाद से ही चित्त अशुद्ध हो गया है। यद्यपि भय की अनुभूति निर्भयता की लालसा जागृत करने में समर्थ है, परन्तु भय की अनुभूति-मात्र से ही अधीर हो जाने पर प्राणी जड़ता में आवद्ध हो जाता है, जिससे जिज्ञासा में शिथिलता आ जाती है, जिसके आते ही 'वस्तु ही जीवन है' और 'जीवन ही वस्तु है' ऐसा मान बैठता है। इस मान्यता ने ही भय का अन्त नहीं होने दिया। साधक के जीवन में इस मान्यता का कोई स्थान ही नहीं है।

वस्तु में अहम्बुद्धि स्वीकार करने पर ही वस्तु का महत्त्व बढ़ता है और वस्तुओं की कामना उत्पन्न होती है, क्योंकि वस्तु से अतीत होने पर किसी भी वस्तु की कामना उत्पन्न नहीं होती। वस्तु में अहम्-बुद्धि जिस देव ने स्वीकार की है, उसका स्वतन्त्र अस्तित्व आज तक किसी को नहीं मिला, पर वस्तु में से यदि अहम्-बुद्धि का त्याग कर दिया जाय तो बड़ी सुगमतापूर्वक वस्तुओं की कामना मिट जाती है, जिसके मिटते ही जिज्ञासा की पूर्ति अर्थात् निस्सन्देहता और प्रेम का उदय स्वतः हो जाता है। निस्सन्देहता तथा प्रेम की प्राप्ति में कितना रस है, कैसा दिव्य जीवन है, इसका वर्णन सम्भव नहीं है, क्योंकि वर्णन करने के साधन सीमित हैं, अनित्य हैं और वह जीवन अगाध है, अनन्त है।

वस्तु में अहम्-बुद्धि जिसने स्वीकार की है यदि उसे वस्तु कहें तो यह भी सम्भव नहीं क्योंकि वस्तु पर-प्रकाश्य है और पर-प्रकाश्य में किसी को स्वीकार-अस्वीकार करने की स्वाधीनता सम्भव नहीं, और यदि उसे अवस्तु कहें तो अवस्तु को वस्तु की अपेक्षा नहीं, और न अवस्तु-वस्तु का सम्बन्ध ही सम्भव है। इस दृष्टि से वस्तु में अहम्-बुद्धि जिसने स्वीकार की है वह वस्तु-अवस्तु से विलक्षण है, और उसका स्वतंत्र अस्तित्व ही नहीं है क्योंकि वस्तु में अहम्बुद्धि का अन्त होने से केवल नित्य, चिन्मय जीवन का बोध सिद्ध होता है। उसमें किसी प्रकार की परिच्छि-न्नता का भास नहीं होता; अर्थात् वस्तुओं से जो अतीत है, वह अनन्त, नित्य-चिन्मय है। वह अपने को और अपने से भिन्न को प्रकाशित करता है। इतना ही नहीं, समस्त वस्तुएँ उसके किसी एक अंशमात्र में भासित होती हैं। अतः जो वस्तुओं से परे है, वह स्वयं वस्तुओं में अहम्-बुद्धि स्वीकार नहीं कर सकता। जिसने वस्तु में अहम्-बुद्धि स्वीकार की है, उसके सम्बन्ध में केवल यही कह सकते हैं कि जो वस्तु-अवस्तु से विलक्षण हो, और बिना किसी आश्रय के जिसका भास न हो, आश्रय का त्याग करते ही जो अवस्तु में विलीन हो जाय, अथवा यों कहो कि उसका योग तथा प्रेम हो जाय, इसके अतिरिक्त उसके सम्बन्ध में युक्ति-युक्त कथन कुछ नहीं बनता। मान्यता की दृष्टि से उसे चाहे कुछ मान लिया जाय। यह मानना भी उसका ही एक रूपान्तर होगा; अर्थात् वस्तु में अहम्-बुद्धि जैसे मान ली गई और जिससे अनेक काम-नाएँ उत्पन्न हो गईं वैसे ही उस विलक्षण देव का कोई भी नाम भले ही रख लिया जाय, वह मान्यता ही होगी, और कुछ नहीं। उसी में इन्द्रियों के ज्ञान के प्रभाव के आधार पर कामना उत्पन्न होती है, और जिस ज्ञान से इन्द्रियों का ज्ञान अल्प-ज्ञान अर्थात्

अधूरा ज्ञान सिद्ध होता है, उस ज्ञान के प्रभाव से उसी में जिज्ञासा जागृत होती है। वही अपने को कभी भोगी और कभी जिज्ञासु नाम से सम्बोधित करता है। भोग-वासनाओं से भिन्न भोगी के अस्तित्व को किसी ने देखा नहीं, और जिज्ञासा से भिन्न जिज्ञासु को किसी ने जाना नहीं। वासना और जिज्ञासा के समूह में ही समस्त समस्यायें उत्पन्न होती हैं। जब जिज्ञासा वासनाओं को खा लेती है, तब सभी समस्यायें स्वतः हल हो जाती हैं। जिज्ञासा और वासना का द्वन्द्वात्मक स्वरूप ही वह देव है जिसने वस्तुओं में अहम्-बुद्धि स्वीकार की है। वासनाओं की निवृत्ति और जिज्ञासा की पूर्ति के बाद उस द्वन्द्वात्मक स्वरूप का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं रहता। निस्सन्देहता, योग और प्रेम से भिन्न की चर्चा करना किसी मान्यता को ही जन्म देना है। योग सामर्थ्य और शान्ति का प्रतीक है, निस्सन्देहता जीवन तथा नित्य ज्ञान का प्रतीक है, और प्रेम नित-नव रस का प्रतीक है। ये तीनों किसी एक में ही निहित हैं। जिसकी कोई भी परिभाषा नहीं की जा सकती अपितु अनेक परिभाषाएँ जिसमें सिद्ध होती हों, और फिर भी जो सभी परिभाषाओं से विलक्षण हो, उस अनन्त की महिमा ही योग, ज्ञान, तथा प्रेम है। चित्त शुद्ध हो जाने पर यह रहस्य स्वयं खुल जाता है और वस्तु में अहम्-बुद्धि का अत्यन्त अभाव होने पर चित्त शुद्ध हो जाता है। चित्त-शुद्धि में ही व्यक्ति का पुरुषार्थ है जो अपने में से वस्तुभाव का त्याग और वस्तु में से अहम्-भाव का त्याग करने पर स्वतः हो जाता है, और फिर ज्ञान और जीवन में भेद नहीं रहता। अतः इस भेद का अन्त करने के लिए चित्त की शुद्धि ही परम पुरुषार्थ है।

२४-५-५६

: १३ :

मेरे निज स्वरूप परमप्रिय,

व्यक्ति अपने व्यक्तित्व के मोह में आबद्ध होकर चित्त को अशुद्ध कर लेता है जिसके होते ही एक विचित्र द्वन्द्वात्मक स्थिति उत्पन्न हो जाती है जो उसे किसी भी दशा में स्थिर नहीं रहने देती और न सभी अवस्थाओं से सम्बन्ध-विच्छेद करने देती है, अथवा यों कहो कि द्वन्द्वात्मक स्थिति से जिस अहम्-भाव की उत्पत्ति होती है, उस अहम्-भाव में इतना मोह हो जाता है कि व्यक्ति को उसका विनाश सहन नहीं होता; उसको सुरक्षित रखने के लिए वह कभी तो अपने को सुखी और कभी दुःखी, कभी समर्थ और कभी असमर्थ, कभी जानकार और कभी अजान मानता रहता है। पर सर्वांश में न अपने को सुखी ही मानता है और न दुःखी, न सामर्थ्यवान् और न असमर्थ, न जानकार और न अजान। इतना ही नहीं, न जानने की वेदना से भी अपने को बचाता है। किसी-न-किसी अंश में यह मान लेता है कि मैं जानता तो हूँ, मुझ में ज्ञान है, पर उस ज्ञान का आदर कितना है, इस पर ध्यान ही नहीं देता। उसका परिणाम यह होता है कि वह मान लेता है कि मैं जानता नहीं, अर्थात् न तो साधक न जानने की वेदना को ही तीव्र होने देता है और न जितना जानता है उसका आदर ही करता है। उससे उसकी वस्तुस्थिति द्वन्द्वात्मक बनी रहती है। उस द्वन्द्वात्मक स्थिति का अंत चित्त शुद्ध होने पर ही हो सकता है।

चित्त की शुद्धि के लिए साधक को सरलतापूर्वक अपनी वस्तु-स्थिति अपने सामने स्पष्ट रखनी चाहिए। अपने से अपनी दशा को छिपाना नहीं चाहिये। वस्तुस्थिति का वास्तविक परिचय होते ही या तो व्याकुलता की अग्नि प्रज्ज्वलित होगी, अथवा आनन्द की गंगा लहराएगी। व्याकुलता की अग्नि में समस्त अशुद्धि भस्मीभूत हो सकती है और आनन्द की गंगा में भी समस्त विकार गल जाते हैं। इन दोनों में से किसी भी एक से चित्त शुद्ध हो सकता है। यद्यपि व्याकुलता में आनन्द और आनन्द में व्याकुलता ओत-प्रोत है, परन्तु एक काल में एक ही की प्रधानता प्रतीत होती है। जिस प्रकार काष्ठ में अग्नि और अग्नि में काष्ठ स्थित है उसी प्रकार आनन्द में व्याकुलता और व्याकुलता में आनन्द है। अग्नि के रहते हुए भी काष्ठ में शीतलता और काष्ठ के रहते हुये अग्नि में दाहकता विद्यमान है। उसी भाँति आनन्द में व्याकुलता और व्याकुलता में आनन्द है।

इसी आनन्द तथा व्याकुलता का सीमित एवं स्थूल रूप सुख-दुःख, सामर्थ्य–असमर्थता, और जानना–न जानना है। व्यक्ति में व्यक्तित्व क्या है, इसको भली-भाँति जान लेने पर व्यक्तित्व नहीं रहता, क्योंकि अपने में अपनापन स्वीकार करना वास्तविकता से अपरिचित होना है। यदि अपने में अपने-पन की खोज की जाय तो अपना-पन नहीं मिलेगा, कारण कि अपने में अपनी जैसी कोई वस्तु है नहीं फिर भी अहम् और मम भासित होता है जिससे द्वन्द्वात्मक स्थिति पोषित होती है। इस दृष्टि से खोज के अभाव में ही साधक वास्तविकता से विमुख हो जाता है। सुख, सामर्थ्य और जानने में पारस्परिक एकता है और दुःख, असमर्थता एवं न जानने में पारस्परिक एकता है। इस दृष्टि से जानना और न जानना कहो अथवा सामर्थ्य और असमर्थता कहो, अथवा सुख और दुःख

कहो, यही द्वन्द्व है। इनमें से किसी एक द्वन्द्व के मिट जाने पर सभी द्वन्द्व मिट जाते हैं। साधक को अपनी-अपनी रुचि के अनुसार चाहे सुख-दुःख के द्वन्द्व का अथवा जानने-न-जानने के द्वन्द्व का अथवा सामर्थ्य-असमर्थता के द्वन्द्व का अन्त कर डालना चाहिए।

सुख में दुःख का दर्शन करते ही दुःख मिट जाता है। दुःख के मिटते ही आनन्द की गंगा लहराने लगती है। सामर्थ्य में असमर्थता का दर्शन करते ही निर्भरता आती है, जिसके आते ही असमर्थता मिट जाती है। जानने में न जानने का दर्शन करते ही जिज्ञासा जागृत होती है, जो न जानने का अन्त कर निस्सन्देहता प्रदान करती है। निस्सन्देहता, सामर्थ्य और आनन्द में द्वन्द्व नहीं है, अपितु द्वन्द्वातीत वास्तविक जीवन है।

सुख में दुःख का दर्शन करने का उपाय यह है कि साधक को सुख के आदि और अन्त को जानना चाहिए। ऐसा कोई सुख है ही नहीं जिसके आदि और अन्त में दुःख न हो। आदि और अन्त के दुःख को ही मध्य के सुख में देखना चाहिए। सुख में दुःख का दर्शन करते ही सुख की आसक्ति मिट जाएगी, जिसके मिटते ही कामनाओं का अन्त हो जावेगा। कामनारहित होते ही निस्सन्देहता, सामर्थ्य और आनन्द से अभिन्नता हो जायगी। जानने के अभाव में जिज्ञासा जागृत नहीं होती, प्रत्युत कुछ न कुछ जानने में ही जिज्ञासा जागृत होती है। जब साधक अधूरी जानकरी में सन्देह अर्थात् न जानना देखने लगता है तब जिज्ञासा जागृत होती है जो कामनाओं को खाकर निस्सन्देहता से अभिन्न हो जाती है। इस दृष्टि से जानने न जानने का द्वन्द्व मिटने पर भी वास्तविकता से अभिन्नता हो जाती है। सामर्थ्य के अभाव में असमर्थता की प्रतीति नहीं होती, अपितु सीमित सामर्थ्य में ही असमर्थता का दर्शन होता है। अतः सामर्थ्य में

असमर्थता का दर्शन करते ही अभिमान गल जाता है जिसके गलते ही सर्व-समर्थ की निर्भरता आ जाती है जो अनन्त से अभिन्न कर देती है।

समस्त दोषों का मूल एक मात्र अपनी वस्तुस्थिति से अपरिचित रहना, अर्थात् अपने से अपने को छिपाना है। अपने से अपने को साधक क्यों छिपाता है?—मिथ्या-अभिमान-जनित सुख की दासता में आवद्ध होने से अपने को छिपाने का स्वभाव वन जाता है। उस स्वभाव में आवद्ध होकर साधक कभी तो अपने को समझदार कभी वेसमझ, कभी सामर्थ्यवान कभी असमर्थ, कभी सुखी और कभी दुखी मानने लगता है, पर किसी भी मान्यता पर दृढ़ नहीं रहता। उसका परिणाम यह होता है कि जो कर सकता है वह भी नहीं करता और जो जानता है वह भी नहीं मानता। जो कर सकता है उसके न करने से करने का राग निवृत्त नहीं होता। करने का राग निवृत्त विना हुए करने से छुटकारा नहीं मिलता और न साधक अपने आप को समर्पित ही कर पाता है। इस कारण कभी पुरुषार्थी होने की सोचता है और कभी अपने को असमर्थ मानकर सर्व-समथ के शरणागत होने में विश्वास करता है? प्राकृतिक नियम के अनुसार अपनी असमर्थता का परिचय ही सर्वसमर्थ की सिद्धि में हेतु है और सामर्थ्य की अनुभूति में ही पुरुषार्थ की प्रेरणा निहित है, क्योंकि प्राप्त सामर्थ्य के सदुपयोग का ही नाम पुरुपार्थ है।

यद्यपि पुरुपार्थ और शरणागति का परिणाम एक है, परन्तु यह रहस्य तभी खुलता है जव साधक एकनिष्ठ हो जाय, या तो प्राप्त सामर्थ्य के अनुरूप पुरुपार्थी हो जाय अथवा अनी असमर्थता से परिचित होकर सर्व-समर्थ के समर्पित हो जाय। समर्पण और पुरुपार्थ में विरोध नहीं है। पुरुपार्थ से साधक सीमित वल का

सदुपयोग कर उसके अभिमान से रहित हो जाता है, जिसके होते ही शरणागति स्वतः आ जाती है और शरणागत होकर अनन्त-बल से सम्बन्ध हो जाता है, जिससे आवश्यक पुरुषार्थ स्वतः होने लगता है। जब तक दीनता और अभिमान का अभाव नहीं हो जाता तब तक पुरुषार्थ अथवा शरणागति किसी न किसी की आवश्यकता बनी ही रहती है। पुरुषार्थ से शरणागति और शरणा-गति से पुरुषार्थ स्वतः होने लगता है। अन्तर केवल इतना है कि शरणागति के पुरुषार्थ में कर्त्तृत्व का अभिमान नहीं रहता और पुरुषार्थी की शरणागति में दीनता नहीं रहती, प्रत्युत अभिन्नता रहती है।

निरभिमानता और अभिन्नता का स्वरूप एक है, क्योंकि दोनों ही से भेद का नाश हो जाता है, क्योंकि भेद की उत्पत्ति अभिमान तथा भिन्नता में ही निहित है। मिली हुई सीमित योग्य-ता, सामर्थ्य तथा वस्तु को अपनी मान लेने से अभिमान की उत्पत्ति होती है और वस्तु, अवस्था आदि के आधार पर अपने अस्तित्व को स्वीकार करने से भिन्नता उत्पन्न होती है। अभिमान तथा भिन्नता से ही चित्त अशुद्ध होता है। अतः चित्तशुद्धि के लिए इन दोनों का अंत करना अनिवार्य है। अभिमान का अंत करने के लिए प्राप्त वस्तु आदि की ममता का त्याग करना होगा, कारण कि ऐसी कोई वस्तु है ही नहीं जिसका समष्टि-शक्तियों से विभाजन हो सके। फिर किसी भी वस्तु को अपना मानना क्या ईमानदारी है? अर्थात् घोर बेईमानी है। बेईमानी का अन्त होते ही अभिमान स्वतः गल जाता है। हाँ, यह अवश्य है कि किसी भी वस्तु को अपना मानने पर भी उसका सदुपयोग किया जा सकता है, जिसके करने से विद्यमान राग की निवृत्ति हो जाती है। जिस अनन्त से वस्तु प्राप्त हुई है, उसी अनन्त से उनके सदुपयोग

करने की योग्यता और सामर्थ्य भी मिला है। इस दृष्टि से प्राप्त के सदुपयोग में कोई कठिनाई अर्थात् असमर्थता नहीं है। बस यही पुरुषार्थ है। इस दृष्टि से पुरुषार्थ के दो भाग हुए—प्राप्त वस्तु आदि को अपना न मानना और उनका सदुपयोग करना। अपना न मानने से अभिमान गल जाता है और सदुपयोग करने से विद्यमान राग निवृत्त हो जाता है। विद्यमान राग की निवृत्ति में ही अनुराग का उदय निहित है और अभिमान के गलने में ही अभिन्नता स्वतः सिद्ध है। अनुराग और अभिन्नता इन दोनों का स्वरूप एक है क्योंकि अभिन्नता में अनुराग निहित है और अनुराग से भिन्नता का नाश होता है।

'प्राप्त वस्तु आदि को अपना न मानना' यह सिद्ध करता है कि वे जिसकी देन हैं उसका विश्वास आवश्यक है। समस्त सृष्टि भी एक वस्तु ही है और कुछ नहीं। वस्तुओं की उत्पत्ति तथा विनाश के मूल में कोई उत्पत्ति-विनाश-रहित, अलौकिक, स्वतः-सिद्ध तत्त्व का होना अनिवार्य है। यद्यपि उसे इन्द्रिय, बुद्धि आदि के द्वारा भले ही विषय न किया हो परन्तु उसका होना स्वतः सिद्ध है, नहीं तो उत्पत्ति-विनाश ही सिद्ध न होगा। जिसे बुद्धि आदि से नहीं जानते हैं उसी पर विश्वास हो सकता है। अतः विकल्प-रहित विश्वास के आधार पर जब साधक अहम् और मम को उस अनन्त के समर्पण कर देता है तब भी वही दिव्य जीवन प्राप्त होता है जो पुरुषार्थ-साध्य है।

अहम् के समर्पण से भेद का नाश हो जाता है, क्योंकि अहम्भाव से ही भेद का भास होता है। मम के समर्पण से समस्त आसक्तियों का नाश हो जाता है, क्योंकि ममता से ही आसक्तियाँ उत्पन्न होती हैं। अनासक्ति अनुराग को और अभेदता अभिन्नता को प्रदान करने में समर्थ है। इस दृष्टि से

शरणागत साधक भी पुरुपार्थी के समान अनुराग तथा अभिन्नता से सम्पन्न हो जाता है। पुरुपार्थी यदि मिले हुए का सदुपयोग कर सिद्धि पाता है तो शरणागत उस दाता से नित्य सम्बन्ध स्वीकार कर सिद्धि पाता है। मिले हुए सामर्थ्य के सदुपयोग से भी चित्त शुद्ध होता है और जिससे मिला है उससे नित्य सम्बन्ध स्वीकार करने से भी चित्त शुद्ध हो जाता है।

मिले हुए की ममता व्यक्तित्व के मोह को उत्पन्न करती है और उसका त्याग मोह का अन्त करने में समर्थ है। व्यक्तित्व के मोह का अन्त होते ही द्वन्द्वात्मक स्थिति मिट जाती है, जिसके मिटने से चित्त शुद्ध हो जाता है। इस दृष्टि से चित्तशुद्धि के लिए यह अनिवार्य है कि प्राप्त सामर्थ्य का सदुपयोग किया जाय पर उससे ममता न की जाय। यह नियम है कि वस्तु आदि की ममता गलकर स्वतः अनन्त के नित्य-सम्बन्ध में विलीन हो जाती है, बस यही शरणागति है। प्राप्त का सदुपयोग पुरुपार्थ और उसकी ममता का त्याग शरणागति है। अतः पुरुपार्थ तथा शरणागति की एकता के द्वारा बड़ी ही सुगमतापूर्वक चित्त शुद्ध हो सकता है।

२५-५-५६

: २४ :

मेरे निज स्वरूप परमप्रिय,

दो अनुभूतियों का संघर्ष चित्त की अशुद्धि है। कारण कि चित्त पर इन्द्रियों के ज्ञान का प्रभाव भी अङ्कित है और उसके विरोध में बुद्धि का ज्ञान भी है। इन्द्रियों के ज्ञान का प्रभाव संकल्प-पूर्ति के सुख में आबद्ध करता है। संकल्प-अपूर्त्ति का दुःख इन्द्रियों के ज्ञान में सन्देह उत्पन्न करता है; अथवा यों कहो कि पराधीनता की अनुभूति होती है। यद्यपि संकल्प-पूर्ति-काल में भी प्राणी पराधीन ही है, परन्तु संकल्प-पूर्ति के सुख की दासता के कारण पराधीनता में स्वाधीनता के समान सुखी होता है और यह मान लेता है कि मैं तो स्वाधीन हूँ, जो चाहता हूँ उसे कर डालता हूँ। यदि उससे यह पूछा जाय कि तुम जो कुछ करते हो उसकी साधन-सामग्री क्या तुम्हारी अपनी ही है? क्या उस पर तुम्हारा स्थायी अधिकार है? क्या उन साधनों के तुम अधीन नहीं हो? यदि इसी का नाम स्वाधीनता है तो पराधीनता क्या है? पराधीनता में स्वाधीनता मान लेना पराधीनता में जीवन-बुद्धि स्वीकार करना है जो वास्तव में प्रमाद है। वस्तुओं का आश्रय घोर पराधीनता है, पर प्राणी वस्तुओं के अभाव में अपने को पराधीन मानता है। वस्तुओं का अभाव यद्यपि पराधीनता की अनुभूति कराने में हेतु है, परन्तु प्राणी उस अभाव को ही पराधीनता मानता है। यह अनुभूति का अनादर है।

अनुकूल वस्तुओं की प्राप्ति में सुख का भास वस्तुओं की दासता में आबद्ध करता है। वस्तुओं में अनुकूलता का दर्शन क्या वास्तविक है? इस रहस्य को बिना ही जाने प्राणी वस्तुओं में अनुकूलता मानता है। जिन वस्तुओं की स्थिति ही सिद्ध नहीं होती उन वस्तुओं में अनुकूलता स्वीकार करना अविवेक-सिद्ध है, वास्तविक नहीं। अविवेक का अन्त होने पर वस्तुओं में अनुकूलता का दर्शन नहीं होता और फिर दो अनुभूतियों का द्वन्द्व स्वतः मिट जाता है। प्राकृतिक नियम के अनुसार प्रतिकूलता में भी अनुकूलता है और अनुकूलता में भी प्रतिकूलता है। इस दृष्टि से अनुकूलता और प्रतिकूलता दोनों ही का यदि सदुपयोग किया जाय तो परिणाम एक ही हो सकता है। प्राणी अनुकूलता और प्रतिकूलता के परिणाम पर विचार नहीं करता, इस कारण उसे दोनों में विरोध अथवा संघर्ष प्रतीत होता है। ऐसी कोई अनुकूलता है ही नहीं, जिसने प्रतिकूलता को जन्म न दिया हो और ऐसी कोई प्रतिकूलता ही नहीं है जिसमें प्राणी का हित न हो।

प्रत्येक परिस्थिति प्राकृतिक न्याय है। प्राकृतिक न्याय में किसी के अहित की भावना नहीं है और न किसी से राग तथा द्वेष है। इस दृष्टि से प्राकृतिक न्याय के प्रति श्रद्धा रखना अनिवार्य है। तो फिर अनुकूलता तथा प्रतिकूलता में भेद मानना और उनके परिणाम में एकता न स्वीकार करना अपनी भूल ही हो सकती है, और कुछ नहीं। अनुकूलता स्वभाव से प्रिय है और प्रतिकूलता स्वभाव से ही अप्रिय है, परन्तु फिर भी अनुकूलता चली जाती है और प्रतिकूलता आ जाती है। जो अपने आप आती है उसको हटाने का प्रयास, और जो अपने आप जाती है उसको बनाये रखने की आशा, क्या कभी सफल हो सकती है? कदापि नहीं।

अनुकूलता में प्रियता क्यों भासती है, और प्रतिकूलता में भय क्यों प्रतीत होता है? कामनाओं की उत्पत्ति से जो क्षोभ होता है, उस क्षोभ की क्षणिक निवृत्ति के लिए अनुकूलता में प्रियता भासती है। यद्यपि कामना-पूर्ति के पश्चात् पुनः कामनाओं की उत्पत्ति होती है। इतना ही नहीं, कामना-पूर्ति में जितना सुख भासता है उससे कहीं अधिक उसके परिणाम में दुःख अपने आप आता है, परन्तु प्राणी असावधानी के कारण सुख के आदि और अन्त के दुःख पर दृष्टि न रखकर क्षणिक सुख पर ही दृष्टि रखता है। इस सुख-लोलुपता के कारण ही अनुकूलता में प्रियता भासती है। प्राकृतिक नियम के अनुसार प्राणी जब कामना-पूर्ति के सुख को कामना-निवृत्ति का साधन नहीं मानता अपितु कामना-पूर्ति को ही जीवन मानता है, तब उस सुख की दासता से मुक्त करने के लिए प्रतिकूलता आती है। इस दृष्टि से प्रतिकूलता में प्राणी का विकास निहित है, क्योंकि अनुकूलता के सदुपयोग से जब प्राणी अपना हित नहीं करता तब प्रतिकूलता के द्वारा प्राकृतिक विधान उस हित की ओर अग्रसर करता है। परन्तु अनुकूलता की आसक्ति प्रतिकूलता में भय उत्पन्न करती है। अनुकूलता और प्रतिकूलता तो प्राकृतिक हैं, परन्तु अनुकूलता की आसक्ति और प्रतिकूलता का भय चित्त की अशुद्धि है। यदि साधक अनुकूलता तथा प्रतिकूलता का सदुपयोग करने का प्रयास करे तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक अनुकूलता की आसक्ति और प्रतिकूलता का भय मिट सकता है, जिसके मिटते ही दो अनुभूतियों का द्वन्द्व स्वतः मिट जाता है और चित्त शुद्ध हो जाता है।

इन्द्रिय-ज्ञान के आधार पर वस्तुएँ सुखद प्रतीत होती हैं; यह भी एक अनुभूति है और बुद्धि के ज्ञान से प्रत्येक वस्तु में सतत परिवर्तन एवं अदर्शन प्रतीत होता है; यह भी एक अनुभूति है।

इन दोनों अनुभूतियों में परस्पर विरोध प्रतीत होता है; जिसके कारण प्राणी के जीवन में एक विचित्र संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। बुद्धि के ज्ञान का आदर सहज भाव से हो नहीं पाता, और इन्द्रियों के ज्ञान का प्रभाव चित्त पर अङ्कित रहता है। ऐसी स्थिति में कामना-पूर्ति का प्रलोभन और कामना-निवृत्ति की लालसा दोनों ही में परस्पर संघर्ष होने लगता है। सभी कामनाएँ किसी की पूरी नहीं होतीं, और कोई भी कामना पूरी न हो, यह बात भी नहीं है; अर्थात् कुछ कामनाएँ अवश्य पूरी हो जाती हैं। जो कामनाएँ पूरी हो ही नहीं सकतीं, उनको जमा रखना कुछ अर्थ नहीं रखता और जो कामनाएँ स्वतः पूरी हो जाती हैं, उनको रखना भी कुछ अर्थ नहीं रखता। अतः कामना-अपूर्ति और पूर्ति में कामनाओं को महत्त्व देना निरर्थक है। जिन्हें पूरा होना है वे हो ही जायँगी और जिन्हें पूरा नहीं होना है वे हो ही नहीं सकतीं। ऐसी दशा में कामना-निवृत्ति में ही महत्त्व प्रतीत होता है। कामना-पूर्ति भी कामना-निवृत्ति का ही साधन है और कामना-अपूर्ति में भी कामना-निवृत्ति को ही प्रधानता देनी चाहिये। कामना-निवृत्ति का महत्त्व बढ़ते ही कामना-पूर्ति का सुख और अपूर्ति का दुःख निर्जीव हो जाता है, जिसके होते ही इन्द्रियों के ज्ञान का प्रभाव मिट जाता है, और बुद्धि के ज्ञान का आदर होने लगता है जो चित्त की शुद्धि में हेतु है।

कामना-पूर्ति का प्रलोभन कभी-कभी इतना बढ़ जाता है कि प्राणी न होनेवाली बातों को सोचने लगता है, अर्थात् इच्छा-पूर्ति के चिन्तन में बँध जाता है। उसका परिणाम यह होता है कि जो इच्छाएँ पूरी हो ही नहीं सकतीं उनका तो चिन्तन करता रहता है, और जो इच्छाए पूरी होती हैं उनमें जीवन-बुद्धि स्वीकार कर लेता है। इतना ही नहीं, जीवनी शक्ति समाप्त हो जाती है, और इच्छाओं

का समूह ज्यों का त्यों सुरक्षित रहता है। उस समय प्राणी की बड़ी ही दीन-हीन दशा हो जाती है। वह वस्तुओं के वियोग की वेदना में फँस जाता है और जो नहीं चाहता है वही दृश्य उसके सामने आता है; अथवा यों कहो कि बेचारा प्राणी मिथ्याचारी हो जाता है। अनेक प्रकार के भय तथा अभावों को अनुभव कर व्यथित होता रहता है। यद्यपि इच्छाओं की उत्पत्ति से पूर्व भी जीवन है और उसमें किसी प्रकार का अभाव नहीं है, परन्तु उस जीवन की ओर प्राणी ध्यान नहीं देता। प्राकृतिक विधान का विरोध कर भयंकर संघर्ष में आबद्ध हो जाता है। इच्छा-पूर्ति-अपूर्ति परिस्थिति है, जीवन नहीं। उसके सदुपयोग में प्राणी का हित है। उसको जीवन मान लेने से तो चित्त अशुद्ध ही होता है जो अवनति का मूल है।

परिस्थिति के सदुपयोग से साधक परिस्थितियों से अतीत के जीवन में प्रवेश कर सकता है, उस जीवन में किसी प्रकार की विषमता, अभाव, भय, जड़ता नहीं है। उस जीवन की प्राप्ति प्रत्येक परिस्थिति के सदुपयोग से हो सकती है। इस दृष्टि से प्रत्येक परिस्थिति साधन-मात्र है, साध्य नहीं। साधन-बुद्धि से प्रत्येक परिस्थिति आदरणीय है। इस दृष्टि से अनुकूलता और प्रतिकूलता दोनों ही समान हैं। जिस प्रकार यात्री दायें-बाएँ दोनों ही पैरों से चलकर अपने गन्तव्य स्थल पर पहुँचता है, उसी प्रकार साधक अनुकूल तथा प्रतिकूल दोनों ही परिस्थितियों के सदुपयोग से अपने अभीष्ट लक्ष्य तक पहुँचता है।

प्राकृतिक नियम के अनुसार भोग-सामग्री निरन्तर मिट रही है, और भोगने की शक्ति का भी ह्रास हो रहा है, परन्तु भोग की रुचि का नाश नहीं हुआ, ऐसी वस्तुस्थिति में प्राणी को बड़ी ही उलझन होती है। यदि भोग की रुचि का भी नाश हो जाता तो

भोग से अतीत जो जीवन है उसकी प्राप्ति हो जाती। भोग से अतीत के जीवन की तो लालसा न हो, और भोगयुक्त जीवन सुरक्षित न रहे, ऐसी दशा में न तो शान्ति ही मिल सकती है और न प्रसन्नता। समस्त इच्छाओं के मूल में यद्यपि चिर-शांति तथा अखण्ड प्रसन्नता पाने की लालसा बीज-रूप से विद्यमान है, परन्तु उस लालसा को कामना-पूर्ति के सुख और कामना-अपूर्ति के दुःख से प्राणी दबा देता है। सुख-दुःख अपने आप आने-जानेवाली वस्तुएँ हैं। उनमें आवद्ध होना चित्त को अशुद्ध करना है। सुख में उदारता और दुःख में त्याग अपना लेने पर सुख-दुःख का बन्धन स्वतः टूट जाता है और फिर साधक सुख-दुःख से अतीत के जीवन का अधिकारी हो जाता है।

भोग की रुचि का नाश भोग की वास्तविकता जान लेने पर स्वतः हो जाता है। भोग की वास्तविकता का ज्ञान जिस ज्ञान से होता है, वह ज्ञान साधक में विद्यमान है और भोग की रुचि भी उसमें अंकित है। जब तक साधक भोग की रुचि को महत्त्व देता है तब तक उसकी बुद्धि मन के, मन इन्द्रियों के और इन्द्रियाँ विषयों के अधीन रहती हैं, अर्थात् वह उत्तरोत्तर चेतना से जड़ता की ओर गतिशील होता है। परन्तु यदि साधक विद्यमान ज्ञान के प्रकाश में भोग की रुचि का अन्त कर डाले तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक उत्तरोत्तर जड़ता से चेतनता की ओर अग्रसर होता है, अर्थात् विषय इन्द्रियों में और इन्द्रियाँ मन में, मन बुद्धि में विलीन हो जाता है; जिसके होते ही भोग योग में बदल जाता है। भोग पराधीनता जड़ता आदि में आवद्ध करता है और योग स्वाधीनता, सामर्थ्य तथा चिन्मयता प्रदान करता है। इस दृष्टि से भोग की अपेक्षा योग बड़े ही महत्त्व की वस्तु है। योग की लालसा भोग की रुचि का अन्त करने में समर्थ है, परन्तु भोग

की रुचि योग की लालसा को शिथिल भले ही बना दे, मिटा नहीं सकती। प्रतिकूलता जीवन में केवल योग की लालसा को प्रबल बनाने के लिए आती है। योग की लालसा भोग की रुचि को खाकर योग से अभिन्न कर देती है जिससे चित्त शुद्ध हो जाता है।

अपने-आप आए हुए दुःख का प्रभाव कितना है और सुख की लोलुपता कितनी है, इस पर गम्भीरता से विचार करना चाहिए। जो दुःख अपने आप आया है उस दुःख का भी जीवन में स्थान है, और जो सुख अपने आप चला जाता है, उस पर भी ध्यान देना है। सुख के आदि और अन्त में दुःख है। यदि उस दुख का प्रभाव इतना हो जाय कि सुख की लोलुपता मिट जाय तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक सुख-दुख से अतीत के जीवन में प्रवेश हो सकता है। यद्यपि उस जीवन से देश-काल की दूरी नहीं है, क्योंकि वह सुख-दुःख के समान आता-जाता नहीं है, अपितु सर्वत्र सर्वदा ज्यों का त्यों है परन्तु सुख-दुःख के आक्रमण से आक्रान्त प्राणी उसे अपना नहीं पाता। यदि प्राणी धीरजपूर्वक, शान्त चित्त से, दुःख के भय से भयभीत न हो, और अपने-आप जानेवाले सुख की दासता में आबद्ध न रहे, तो वह सुख-दुःख से अतीत के जीवन की खोज कर सकता है। सुख-दुःख से अतीत के जीवन की खोज दुःख के भय से और सुख की दासता से सदा के लिए मुक्त कर देती है सुख की आसक्ति और दुःख के भय ने ही चित्त को अशुद्ध कर दिया है।

चित्त शुद्ध करने के लिए यह अनिवार्य है कि दुःख के महत्त्व को अपना लिया जाय, इससे सुख की दासता स्वतः मिट जायगी। जिसके मिटते ही सुख-दुःख का सदुपयोग स्वतः होने लगेगा और फिर सुख-दुःख से अतीत के जीवन की प्राप्ति नहीं हो सकती।

दुःख का भय और सुख की दासता सुख-दुःख का सदुपयोग नहीं होने देते और उसके बिना सुख-दुःख से अतीत के जीवन की प्राप्ति नहीं हो सकती। अतः दुख के भय तथा सुख की दासता का अन्त करना अनिवार्य है। सुख से अतीत के जीवन की जिज्ञासा भी सुख के राग को खा लेती है, और सुख-दुःख से अतीत के जीवन का विश्वास भी सुख-दुख से सम्बन्ध-विच्छेद कराने में समर्थ है। उपर्युक्त तीनों बातों में से जिस साधक को जो सुगम हो उसे वही अपना लेना चाहिए। किसी एक के भी अपना लेने से सफलता हो सकती है। दुःख का महत्त्व अथवा सुख से अतीत के जीवन की खोज, अथवा सुख-दुःख से अतीत के जीवन पर विश्वास, चित्त की शुद्धि में समर्थ है।

२६-५-५६

: २५ :

मेरे निज स्वरूप परमप्रिय,

सन्देह में निस्सन्देहता का आरोप और निस्सन्देहता में सन्देह की स्थापना करने से ही चित्त अशुद्ध हुआ है, कारण कि इन्द्रियों के अल्प-ज्ञान को ज्ञान मान लेना सन्देह में निस्सन्देहता का आरोप है। उसका परिणाम यह होता है कि प्राणी में विषयों की रुचि उत्पन्न हो जाती है जो उसे भोगी बना देती है। इन्द्रियों के ज्ञान से जो कुछ प्रतीत हो रहा है, उसके परिवर्तन और अदर्शन का ज्ञान प्राणी को है। इसमें किसी भी साधक को सन्देह नहीं है। सभी साधक अपने शरीर के परिवर्तन को जानते हैं; और वस्तु,-व्यक्ति के वियोग को भी जानते हैं। यह भी जानते हैं कि जो वस्तु, अवस्था आदि पहले थी, वह अब नहीं है और जो अब है वह आगे न रहेगी। इस जानकारी में सन्देह नहीं है, परन्तु उसमें सन्देह की स्थापना कर ली है अर्थात् उसका प्रभाव अपने पर नहीं होने दिया। उसका परिणाम यह हुआ कि विषयों का राग निवृत्त न हो सका, जिससे चित्त अशुद्ध हो गया। सन्देह में निस्सन्देहता के आरोप से तो विषयों की रुचि उत्पन्न हुई, और निस्सन्देहता में सन्देह की स्थापना से विषयों में आसक्ति हो गई। अतः यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि सन्देह में निस्सन्देहता और निस्सन्देहता में सन्देह की स्थापना से ही चित्त अशुद्ध हो गया है।

सन्देह में निस्सन्देहता का आरोप कब हुआ और क्यों हुआ? कब हुआ, इसका तो पता नहीं, पर सन्देह में निस्सन्देहता का आरोप मिटाया जा सकता है। यह नियम है कि जो चीज मिटाई जा सकती है, उसकी उत्पत्ति स्वीकार करनी ही पड़ती है क्योंकि किसी का विनाश ही उसकी उत्पत्ति को सिद्ध करता है। अतः जो जानते हैं उसको न मानने से ही सन्देह में निस्सन्देहता का आरोप हुआ है। प्रत्येक संयोग के वियोग को, प्रत्येक वस्तु के परिवर्तन तथा अदर्शन को और विषय-प्रवृत्ति के दुष्परिणाम को हम जानते हैं, पर उसे मानते नहीं, अर्थात् उस जानकारी का प्रभाव अपने पर नहीं होने देते। उसका परिणाम यह होता है कि सन्देह की वेदना उदित नहीं होती, जिज्ञासा की जागृति नहीं होती और भोग-प्रवृत्ति में ही जीवन-बुद्धि हो जाती है, जो चित्त को अशुद्ध कर देती है।

जाने हुए को न मानने से ही कर्त्तव्य में अकर्त्तव्य और योग में भोग उत्पन्न हो गया है। यद्यपि कर्त्तव्य और योग अकर्त्तव्य और भोग की अपेक्षा सहज और स्वाभाविक है, परन्तु चित्त के अशुद्ध हो जाने से वह कठिन और अस्वाभाविक सा प्रतीत होता है। यह सभी जानते हैं कि निर्बल सबल से रक्षा की आशा रखता है, यह माँग सहज और स्वाभाविक है, इसका पूरा होना भी सम्भव है, क्योंकि बल से निर्बल की सहायता हो सकती है, परन्तु अपने से निर्बल की सेवा करने में कठिनाई प्रतीत होती है। इस कठिनाई में न तो जानने का दोष है, और न असमर्थता का, केवल जाने हुए का अनादर है, अथवा जो कर सकते हैं उसको न करना है; यह अकर्त्तव्य कर्त्तव्य के प्रमाद से उत्पन्न हुआ है, उसका अस्तित्व वास्तविक नहीं है। जिसका अस्तित्व नहीं है, उसके अधीन हो जाना क्या अस्वाभाविकता नहीं है?

अपने प्रति वैर भाव, अपना अनादर, अपनी हानि, और अपने प्रति स्नेह का अभाव किसी प्राणी को अभीष्ट नहीं है। जो अपने को अभीष्ट नहीं है, वही दूसरों के प्रति कर डालना क्या अकर्त्तव्य नहीं है? अर्थात् अकर्त्तव्य है। अकर्त्तव्य में प्रवृत्ति असमर्थता से अथवा न जानने से नहीं होती, अपितु सामर्थ्य के दुरुपयोग एवं जाने हुए को न मानने से होती है। जो असमर्थ और अनभिज्ञ है उसके जीवन में कर्त्तव्य अकर्त्तव्य का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। जो समर्थ और विज्ञ है, उसी के जीवन में कर्त्तव्य का प्रश्न है। कर्त्तव्य का प्रश्न उतने ही अंश में है, जितने अंश में वह जानता है और कर सकता है। अर्थात् प्राप्त सामर्थ्य, योग्यता और वस्तु के अनुरूप ही कर्त्तव्यपालन हो सकता है। इस दृष्टि से कर्त्तव्य पालन में प्राणी सर्वदा स्वाधीन है। जिसके पालन में स्वाधीनता है, उसमें पराधीनता मान लेना असावधानी के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। असावधानी वर्तमान में मिटाई जा सकती है। उसके लिए भविष्य की आशा करना अथवा हार स्वीकार करना सर्वथा त्याज्य है। जिसकी प्राप्ति कर्म-सापेक्ष है, उसके लिए भविष्य की आशा की जा सकती हैं क्योंकि उसके फल में कर्त्ता स्वाधीन नहीं है, अपितु कर्म का फल प्राकृतिक विधान के अधीन है, और कर्म-सामग्री भी प्राकृतिक है, व्यक्तिगत नहीं। इस दृष्टि से कर्त्तव्यपालन में फल की आशा नहीं करनी चाहिए, प्रत्युत कर्त्तव्य के लिए ही कर्त्तव्य-पालन अभीष्ट है। कर्त्तव्यपालन से दूसरों के अधिकारों की रक्षा होती है और कर्त्ता में से विद्यमान राग निवृत्त होता है। यही कर्त्तव्य का वास्तविक फल है। यह फल प्रत्येक कर्त्तव्यनिष्ठ को स्वतः प्राप्त होता है। परन्तु जो कर्त्तव्यनिष्ठ कर्त्तव्य के बदले में विषय भोग की आशा करता है वह कर्त्तव्य भी अकर्त्तव्य की श्रेणी

में ही आ जाता है। अकर्त्तव्य से अपनी और दूसरों की क्षति ही होती है किसी का हित नहीं होता, इस दृष्टि से साधक के जीवन में अकर्त्तव्य का कोई स्थान ही नहीं है। जिसका जीवन में कोई स्थान ही नहीं है, उसका त्याग वर्तमान में हो सकता है। यह नियम है कि अकर्त्तव्य के त्याग में कर्त्तव्यपालन निहित है, अथवा यों कहो कि अकर्त्तव्य का त्याग ही कर्त्तव्यपालन की भूमि है।

कर्त्तव्यपालन भोग से योग की ओर अग्रसर करता है और अकर्त्तव्य योग से विमुख कर भोग में आबद्ध करता है। योग भोग की अपेक्षा सहज तथा स्वाभाविक है और श्रम-रहित है, कारण कि प्रत्येक भोग प्रवृत्ति से पूर्व योग है और भोग प्रवृत्ति के अन्त में भी योग है अर्थात् भोग के आदि और अन्त में योग है। परन्तु साधक भोगासक्ति के कारण भोग प्रवृत्ति के अन्त में भी भोग का ही चिन्तन करता रहता है जिससे उसे अपने आप आनेवाले योग में प्रीति नहीं होती, अथवा यों कहो कि श्रम रहित योग में निष्ठा नहीं रहती। भोग का आरम्भकाल भले ही सुखद प्रतीत हो, किन्तु परिणाम में तो शक्तिहीनता, जड़ता, पराधीनता आदि में ही प्राणी आवद्ध हो जाता है। इतना ही नहीं, भोक्ता सर्वदा भोगसामग्री के आधीन रहता है और भोगसामग्री सदैव बदलती रहती है, उसमें स्थिरता नहीं है और भोगने की शक्ति का भी ह्रास होता रहता है, अथवा यों कहो कि भोगने की शक्ति का ह्रास और भोग्य वस्तुओं का विनाश भी स्वाभाविक है। इस स्वाभाविकता का आदर करने पर भोग की रुचि नष्ट हो जाती है। भोग की रुचि का नाश होते ही प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त में स्वतः योग प्राप्त होता है। उस प्राप्त योग में ज्यों-ज्यों निष्ठा परिपक्व होती जाती है, त्यों-त्यों शक्तिहीनता, जड़ता, पराधीनता आदि सभी दोष स्वतः मिटते जाते हैं, क्योंकि योग शान्ति, सामर्थ्य, स्वाधीनता एवं

चिन्मयता का प्रतीक है। भोग श्रमसाध्य और योग श्रमरहित है। भोग में पराधीनता और योग में स्वाधीनता है। भोग-चेतना से जड़ता की ओर और योग जड़ता से चेतना की ओर अग्रसर करता है। भोग से प्राप्त सामर्थ्य का ह्रास और योग से आवश्यक सामर्थ्य का संचय स्वतः होता है। परन्तु चित्त की अशुद्धि के कारण भोग की रुचि उत्पन्न हो जाती है, जो साधक को योगनिष्ठ नहीं होने देती। यदि सन्देह में निस्सन्देहता और निस्सन्देहता में सन्देह की स्थापना न की जाय तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक अकर्त्तव्य कर्त्तव्य में और भोग योग में बदल जाता है।

चित्त की अशुद्धि से ही प्राणी कर्त्तव्य-विज्ञान तथा योग-विज्ञान से विमुख हुआ है और अकर्त्तव्य तथा भोग में आबद्ध हो गया है। अकर्त्तव्य और भोग में आबद्ध होने से प्राणी प्रमादी और हिंसक बन गया है। प्रमादी होने से साधक अपने को देह मानने लगता है, जिससे इन्द्रियजन्य स्वभाव से तद्रूपता हो जाती है। उसका परिणाम यह होता है कि साधक इन्द्रियों के अल्प तथा अधूरे ज्ञान को ही ज्ञान मान लेता है और विषय में आसक्त होकर सब प्रकार से दीन, हीन हो जाता है। हिंसक हो जाने से स्वार्थ-भाव इतना बढ़ जाता है कि दूसरों की हानि में अपना लाभ, दूसरों के दुःख में अपना सुख, दूसरों के ह्रास में अपना विकास, दूसरों के विनाश में अपनी रक्षा और दूसरों के अहित में अपना हित मानने लगता है जो वास्तविकता के सर्वथा विपरीत है। इस दृष्टि से समस्त अनर्थों का कारण एक मात्र अकर्त्तव्य तथा भोग में आबद्ध होना है।

कर्त्तव्यविज्ञान प्राणी की स्वाभाविक आवश्यकता है, क्योंकि अपने प्रति किसी को भी अकर्त्तव्य अपेक्षित नहीं है। कर्त्तव्य प्राकृतिक विधान है। विधान का अनादर अपनी भूल है। भूल को भूल

जानकर उसका त्याग करना अनिवार्य है। भूल न जानने में नहीं है, प्रत्युत जाने हुए को न मानने में है। जाने हुए को न मानना प्राकृतिक दोप नहीं है, अपितु व्यक्ति का अपना ही वनाया हुआ दोप है। अपने वनाए हुए दोप को मिटाने का दायित्व भी अपने ही पर है। इस दृष्टि से कर्त्तव्य-विज्ञान को न अपनाना किसी और की भूल नहीं है। भूल कितनी ही पुरानी क्यों न हो, भूल को भूल जान लेने पर वह सदा के लिए मिट जाती है। यह नियम है कि भूलकाल में भी वस्तुस्थिति ज्यों की त्यों रहती है परन्तु भूल वस्तुस्थिति का परिचय नहीं होने देती। इस कारण साधक वास्तविकता को अपने जीवन से भिन्न मानने लगता है, पर वास्तविकता तो जीवन से अभिन्न है। जिससे भिन्नता नहीं है, उसकी प्राप्ति श्रम-रहित, स्वतःसिद्ध है। इस दृष्टि से कर्त्तव्य-विज्ञान और जीवन में एकता है। जिस कर्त्तव्यविज्ञान से अभिन्नता है, चित्त की अशुद्धि के कारण वह जीवन से अलग प्रतीत हो रहा है और जिस अकर्त्तव्य का कोई अस्तित्व ही नहीं है वह जीवन से तद्रूप हो गया है। अकर्त्तव्य उसी की सत्ता से उस पर शासन करता है, जो उसे अपनाता है। कर्त्तव्य-विज्ञान का महत्व तथा स्वरूप स्पष्ट हो जाने पर अकर्त्तव्य सदा के लिए स्वतः मिट जाता है। अतः कर्त्तव्यविज्ञान, जो स्वाभाविक आवश्यकता है; उसे शीघ्रातिशीघ्र अपना लेना अनिवार्य है।

कर्त्तव्य को अपना लेने से विद्यमान राग की निवृत्ति होगी, जिसके होने से प्रत्येक प्रवृत्ति के अंत में स्वभाव से आने वाली निवृत्ति में दृढ़ता आएगी। जिससे जिज्ञासा सवल तथा स्थायी हो जायगी। जिज्ञासा की पूर्णता कामनाओं का नाश करने में समर्थ है। कामनाओं का अंत होते ही योग का उदय होगा। योग अनन्त की वह विभूति है जो शांति, सामर्थ्य स्वाधीनता, चिन्म-

यता, अमरत्त्व आदि दिव्य जीवन से अभिन्न कर देती है। योग की प्राप्ति में प्रत्येक साधक सर्वदा स्वाधीन है। कर्त्तव्यपालन यदि विद्यमान राग का अन्त करने में समर्थ है, तो योग नवीन राग को उत्पन्न नहीं होने देता। विद्यमान राग निवृत्त हो जाय और नवीन राग की उत्पत्ति न हो—यही चित्त की शुद्धि है, जो कर्त्तव्य-विज्ञान तथा योग-विज्ञान को अपना लेने पर स्वतः प्राप्त होती है। इस दृष्टि से अकर्त्तव्य और भोग की रुचि का नाश करना अनिवार्य है। भोगासक्ति से ही अकर्त्तव्य का जन्म होता है। इन्द्रियज्ञान में सन्देह न होने से भोगासक्ति दृढ़ होती है और उसमें सन्देह होने पर जिज्ञासा जागृत होती है जो भोगासक्ति के नाश में समर्थ है। इस दृष्टि से जिज्ञासा की जागृति से ही चित्त शुद्ध हो सकता है। परन्तु साधक जब तक इन्द्रिय-ज्ञान के प्रभाव का अन्त नहीं कर देता, तब तक न तो जिज्ञासा की पूर्त्ति होती है और न चित्त की शुद्धि ही सम्भव है। इन्द्रिय-ज्ञान का उपयोग कर्त्तव्यपालन में हो सकता है, परन्तु उसकी सत्यता अंकित न हो। कर्त्तव्य का ज्ञान भी उसी ज्ञान में विद्यमान है जिस ज्ञान से इन्द्रियों के ज्ञान में सन्देह होता है। वह ज्ञान अनन्त की ओर से प्रत्येक साधक को प्राप्त है। उस प्राप्त-ज्ञान का आदर करना और उसी के प्रकाश में इन्द्रियों के ज्ञान का उपयोग करना चित्त-शुद्धि के लिए आवश्यक है। इन्द्रियों के ज्ञान में सन्देह की उत्पत्ति ही वास्तविक निस्सन्देहता की ओर अग्रसर करती है। वास्तविक निस्सन्देहता में जीवन है। उसमें सन्देह करना और इन्द्रिय-ज्ञान में सन्देह न करना इस असावधानी से ही चित्त अशुद्ध हो गया है। यद्यपि निस्सन्देहता, सामर्थ्य, शान्ति, अमरत्त्व, स्वाधीनता, चिन्मयता आदि की मांग स्वाभाविक है, परन्तु साधक इन्द्रियों के ज्ञान को ही ज्ञान मान स्वाभाविक माँग में शिथिलता उत्पन्न कर लेता है

जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है। इतना ही नहीं, स्वाभाविक मांग की शिथिलता से ही काम का जन्म होता है, और काम की उत्पत्ति से ही इन्द्रियों के ज्ञान में सत्यता भासती है, जो चित्त को अशुद्ध कर देती है। इस दृष्टि से इन्द्रिय-ज्ञान की सत्यता और काम की उत्पत्ति दोनों अन्योन्याश्रित हैं। इन दोनों में से किसी एक का अन्त होने पर दोनों का अन्त हो जाता है। काम समस्त कामनाओं की भूमि है, और कामनाओं की उत्पत्ति इन्द्रियों और उनके विषयों से सम्बन्ध जोड़ती है। जिज्ञासा की जागृति इन्द्रियों और विषयों के सम्बन्ध को तोड़ती है, जिसके टूटते ही इन्द्रियाँ मन में, मन निर्विकल्प होकर बुद्धि में विलीन हो जाता है, और बुद्धि सम हो जाती है। बस, यही योग है। योग लालसा-मात्र से सिद्ध हो सकता है। उसके लिए किसी अप्राप्त वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि योग के साधन में किसी प्रकार का श्रम नहीं है; अपितु योग की सिद्धि विश्राम में ही निहित है। वास्तविक विश्राम की उपलब्धि कामना-निवृत्ति तथा जिज्ञासा की पूर्त्ति से ही सम्भव है। अतः चित्तशुद्धि के लिए साधक को सावधानीपूर्वक वास्तविक निस्सन्देहता प्राप्त करने के लिए तत्पर रहना चाहिए।

२७-५-५६

: ८६ :

मेरे निज स्वरूप परमप्रिय,

जो सम्भव है उसमें प्रवृत्ति न हो अथवा उसकी लालसा तथा जिज्ञासा न हो और जो असम्भव है उसका चिन्तन हो, यही चित्त की अशुद्धि है। प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग, सत्य की खोज, प्रियलालसा सम्भव है और वस्तु, व्यक्ति आदि से नित्य-योग असम्भव है; क्योंकि प्रत्येक वस्तु स्वभाव से ही परिवर्त्तनशील है और प्रत्येक संयोग वियोग में बदलता ही है। किसी के भी सभी संकल्प पूरे नहीं होते, परन्तु जो संकल्प पूरे नहीं हो सकते, उनका त्याग सम्भव है और संकल्प-पूर्ति के सुख की दासता से साधक मुक्त भी हो सकता है। जो हो सकता है, उसके कर डालने पर जो मिलना चाहिए वह मिल जाता है। अतः जो असम्भव है उसका त्याग कर जो सम्भव है उसको पूरा करने से चित्त स्वतः शुद्ध हो जावेगा।

अनावश्यक संकल्पों के त्याग से आवश्यक संकल्प सुगमता पूर्वक पूरे हो सकते हैं। परन्तु संकल्प-पूर्ति के सुख में आबद्ध होने से अनावश्यक संकल्प उत्पन्न होने लगते हैं। उसका परिणाम यह होता है कि प्राणी संकल्प-पूर्ति-अपूर्ति के सुख-दुःख में आबद्ध हो जाता है जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है। अनावश्यक और अशुद्ध संकल्पों के त्याग की सार्थकता तभी सिद्ध होती है, जब

साधक शुद्ध संकल्पों की पूर्ति के सुख में आबद्ध न हो, क्योंकि संकल्प-पूर्ति का सुख नवीन संकल्पों का जन्मदाता है। इतना ही नहीं, सुख-भोग की रुचि से ही अशुद्ध संकल्प उत्पन्न होते हैं, कारण कि सुख का भोग देहाभिमान को पुष्ट करता है। यह नियम है कि देहाभिमान में आबद्ध प्राणी चाह-रहित हो ही नहीं सकता। अचाह विना हुए अशुद्ध संकल्पों का त्याग सम्भव नहीं है और अशुद्ध संकल्पों के त्याग किए विना शुद्ध संकल्पों की उत्पत्ति एवं पूर्ति सम्भव नहीं है। यद्यपि आवश्यक संकल्पों की पूर्ति और अनावश्यक संकल्पों की निवृति रागरहित होने का उपाय है, परन्तु साधक असावधानी के कारण संकल्प-पूर्ति के सुख में आवद्ध होकर विद्यमान राग की निवृत्ति की तो कौन कहे, नवीन राग उत्पन्न कर लेता है। प्राकृतिक नियम के अनुसार संकल्पपूर्ति विद्यमान राग की निवृत्ति का साधन है और संकल्प-अपूर्ति संकल्प-पूर्ति की दासता से मुक्त करने में अपेक्षित है। इस दृष्टि से संकल्प-पूर्ति-अपूर्ति दोनों में ही साधक का हित है, परन्तु जो व्यक्ति संकल्प पूर्ति को महत्व देता है और संकल्प-अपूर्ति को अनावश्यक तथा निरर्थक मानता है, वह संकल्प-अपूर्ति के भय तथा संकल्पपूर्ति की दासता में आवद्ध हो चित्त को अशुद्ध कर लेता है।

संकल्प-अपूर्ति में दुख, पूर्ति में सुख और निवृत्ति में शान्ति स्वतः सिद्ध है, अथवा यों कहो कि संकल्प-अपूर्ति में अभाव की अनुभूति और पूर्ति में वस्तु, व्यक्ति आदि की दासता एवं निवृत्ति में स्वाधीनता प्राप्त होती है। संकल्पपूर्ति-अपूर्ति के परिणाम में कोई भेद नहीं है। अन्तर केवल इतना है कि संकल्प-अपूर्तिकाल में वस्तु, व्यक्ति आदि के अभाव में पराधीनता और संकल्प-पूर्ति में वस्तु, व्यक्ति आदि की उपलब्धि में पराधीनता की अनुभूति होती है। अर्थात् संकल्प-अपूर्ति-पूर्ति में प्राणी परा-

धीन ही रहता है जो किसी को भी स्वभाव से प्रिय नहीं है। जब पूर्ति-अपूर्ति के परिणाम में समानता है, तो फिर संकल्प-पूर्ति को महत्व देना और संकल्प-अपूर्ति से भयभीत होना कुछ अर्थ नहीं रखता। संकल्प-पूर्ति का महत्व मिटते ही संकल्प-अपूर्ति का भय स्वतः मिट जाता है, जिससे सङ्कल्प-निवृत्ति अपने आप आ जाती है। यदि साधक सङ्कल्प-निवृत्ति की शान्ति में रमण न करे तो चित्त-शुद्ध हो जाता है।

प्रत्येक चाह की पूर्ति में श्रम तथा पराधीनता है और चाह-रहित होने में न तो श्रम ही है और न पराधीनता, अपितु स्वाधीनता और विश्राम है। बड़े ही आश्चर्य की बात तो यह है कि फिर भी प्राणी चाह-पूर्ति के लिए जितना लालायित रहता है उतना चाह-निवृत्ति के लिए नहीं। यद्यपि चाह-रहित होना आवश्यक चाह की पूर्ति में बाधक नहीं है, और चाह युक्त रहने से ही चाह पूरी हो जायगी, यह कोई नियम नहीं है, फिर भी साधक चाह-रहित हो नहीं पाता, यह बड़ी ही जटिल समस्या है। अचाह होने में कोई पराधीनता तथा श्रम नहीं है, किन्तु चाह-रहित होने के लिए प्राप्त वस्तु, व्यक्ति आदि से सम्बन्ध तोड़ना होगा। वस्तुओं का सदुपयोग तथा व्यक्तियों की सेवा भले ही विधिवत् की जाय, परन्तु उनकी ममता का अन्त करना अनिवार्य है। अप्राप्त वस्तु व्यक्ति आदि के चिन्तन को भी मिटाना होगा। यद्यपि ममतामात्र से ही वस्तु, व्यक्ति आदि सुरक्षित नहीं रह सकते, और न चिन्तनमात्र से किसी वस्तु, व्यक्ति आदि की प्राप्ति ही सम्भव है। ममता और चिन्तन से केवल वस्तु, व्यक्ति आदि में आसक्ति ही हो सकती है, और कुछ नहीं। वस्तु आदि की प्राप्ति कर्म-सापेक्ष है। जिसकी प्राप्ति कर्म-सापेक्ष है, उसका चिन्तन करना भूल है। यदि साधक प्राप्त वस्तु आदि से ममता

और अप्राप्त वस्तु आदि का चिन्तन न करे तो बड़ी ही सुगमता पूर्वक चित्त-शुद्ध हो सकता है, परन्तु यह तभी सम्भव होगा जब साधक जीवन ही में मृत्यु का अनुभव कर ले, क्योंकि मृत्यु और त्याग का स्वरूप एक है, और परिणाम में ही भेद है। मृत्यु का परिणाम जन्म है, और त्याग का परिणाम अमरत्व है। इतना ही नहीं, मृत्यु अनिच्छापूर्वक आती है और त्याग स्वेच्छापूर्वक किया जा सकता है। यद्यपि मृत्यु और त्याग दोनों ही में वस्तु, व्यक्ति आदि का वियोग है, परन्तु अन्तर यह है कि मृत्यु से सम्बन्ध तो बना रहता है पर वस्तु नष्ट हो जाती है, और त्याग से वस्तु तो बनी रहती है पर उससे सम्बन्ध नहीं रहता। वस्तु, व्यक्ति आदि का सम्बन्ध ही चित्त को अशुद्ध करता है; क्योंकि इससे लोभ, मोह आदि अनेक दोष उत्पन्न हो जाते हैं।

मृत्यु वस्तु का नाश करती है, और त्याग वस्तु के सम्बन्ध का नाश करता है। वस्तु न रहे और सम्बन्ध बना रहे, और वस्तु रहे और सम्बन्ध न रहे, इन दोनों के परिणाम में बड़ा भेद है। सम्बन्ध बना रहा और वस्तु न रही तो उसकी आसक्ति चित्त को अशुद्ध कर देती है। सम्बन्ध नहीं रहा, और वस्तु बनी रही तो चित्त अशुद्ध नहीं होता। इस दृष्टि से किसी वस्तु, व्यक्ति का होना न होना चित्त की शुद्धि में हेतु नहीं है, प्रत्युत वस्तुओं का सम्बन्धविच्छेद चित्त को शुद्ध करता है, और उनका सम्बन्ध चित्त को अशुद्ध करता है।

समस्त वस्तुओं से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाने पर वर्त्तमान में ही साधक अचाह पद को प्राप्त कर सकता है। अचाह में ही नित्य-योग, चिर शान्ति, अमरत्व और परम प्रेम निहित है।

वस्तुओं के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान हो जाने पर वस्तुओं से सम्बन्ध विच्छेद करने की सामर्थ्य स्वतः आ जाती है। परन्तु

इन्द्रियों के ज्ञान में सत्यता वस्तुओं के स्वरूप का बोध नहीं होने देती। साधक को जब तक इन्द्रियों के ज्ञान में सन्देह नहीं होता, तब तक जिज्ञासा की जागृति नहीं होती। जिज्ञासा की जागृति के बिना वस्तुओं की कामना का नाश नहीं होता, और कामना-नाश बिना हुए वस्तुओं के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान सम्भव नहीं है, कारण कि कामना-पूर्ति का प्रलोभन ही व्यक्ति को वस्तुओं में सत्यता एवं सुन्दरता का भास कराता है, जो चित्त को अशुद्ध करता है।

जिज्ञासा की जागृति आवश्यक कार्य में बाधक नहीं है, क्योंकि जो कार्य मिटाया नहीं जा सकता उसका पूरा होना अनिवार्य है। प्रत्येक कार्य समष्टि-शक्ति के सहयोग से पूरा होता है, पर उस कार्य के द्वारा सुख का भोग अथवा सुख की आशा व्यक्ति स्वयं अपने प्रमाद से करता है। जिज्ञासा सुख-भोग तथा सुख की आशा का नाश करती है, कार्य का नहीं। जब प्रत्येक कार्य सुख-भोग तथा सुख की आशा से रहित होने लगता है, तब कार्य के अन्त में जिज्ञासा की जागृति कामनाओं के नाश करने में समर्थ होती है, अर्थात् जिज्ञासा काम की नाशक है, कार्य की नहीं। कार्य तो प्राकृतिक विधान के अनुसार प्राप्त परिस्थिति के द्वारा स्वतः होता रहता है। आवश्यक कार्य के लिए प्राप्त वस्तु, सामर्थ्य, योग्यता आदि के सदुपयोग की अपेक्षा है, अप्राप्त वस्तु आदि के चिन्तन की नहीं। ज्यों-ज्यों जिज्ञासा सबल तथा स्थायी होती जाती है, त्यों-त्यों वस्तु, व्यक्ति आदि का चिन्तन स्वतः मिटता जाता है; अथवा यों कहो कि जिज्ञासा की पूर्ति तथा काम का नाश युगपद् है जो चित्त की शुद्धि में हेतु है।

प्राकृतिक नियम के अनुसार निवृत्ति कामनाओं की, पूर्ति

जिज्ञासा की तथा प्राप्ति प्रेम की होती है। कामनाओं की निवृत्ति में योग, जिज्ञासा की पूर्ति में बोध और प्रेम की प्राप्ति में अगाध अनन्त रस निहित है। अतः प्रत्येक प्रवृत्ति को योग, बोध तथा प्रेम पर दृष्टि रखते हुए ही करना चाहिये, तभी सुगमतापूर्वक चित्त-शुद्ध हो सकता है। प्रवृत्ति का सौन्दर्य्य प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग में और परिस्थिति का सदुपयोग विद्यमान राग की निवृत्ति में हेतु है। विद्यमान राग की निवृत्ति होने पर जिज्ञासा की पूर्ति तथा प्रेम की प्राप्ति की उत्कट लालसा स्वतः उत्पन्न होती है। जिज्ञासा की पूर्ति नवीन राग को उत्पन्न नहीं होने देती और प्रेम की प्राप्ति सब प्रकार की खिन्नता, नीरसता, भिन्नता आदि को खा लेती है। खिन्नता का अन्त होते ही प्रसन्नता, नीरसता का अन्त होते ही अगाध अनन्त रस और भिन्नता का अन्त होते ही भेद का नाश हो जाता है। इस दृष्टि से प्रेम की प्राप्ति में ही जीवन की सार्थकता निहित है। परन्तु प्रेम की प्राप्ति जिज्ञासा की पूर्ति में ही सम्भव है, क्योंकि प्रेम निस्सन्देहता की भूमि में ही उदय होता है और जिज्ञासा की पूर्ति कामनाओं की निवृत्ति से ही हो सकती है। अतः कामना-निवृत्ति के लिए ही अनावश्यक कामनाओं का त्याग और आवश्यक कामनाओं को पूरा करना है। आवश्यक कामनाएँ प्राकृतिक विधान के अनुसार स्वतः पूरी हो जाती हैं, परन्तु कामना-पूर्ति का उद्देश्य कामना-निवृत्ति न होने के कारण कामना पूर्ति श्रम-साध्य प्रतीत होती है। यदि साधक कामना-पूर्ति के प्रलोभन से रहित हो जाय तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक उसका चित्त शुद्ध हो सकता है।

कामना-पूर्ति के प्रलोभन ने ही, जो सम्भव है, अर्थात् जिज्ञासा की पूर्ति तथा प्रेम की प्राप्ति, उसे असम्भव सा बना दिया है और वस्तु व्यक्ति आदि का नित्य-संयोग सुरक्षित रखना जो

असम्भव है, उसमें सम्भवता का भास करा दिया है। सम्भव में असम्भव और असम्भव में सम्भव का दर्शन कामना-पूर्त्ति के प्रलोभन से ही प्रतीत होता है। यद्यपि जो असम्भव है, वह सम्भव हो नहीं सकता और जो सम्भव है, उससे निराश होना कुछ अर्थ नहीं रखता; परन्तु प्राणी इन्द्रिय-ज्ञान के प्रभाव में आवद्ध होने के कारण निराशा में आशा और आशा में निराशा मान बैठता है, जो सर्वथा त्याज्य है। प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग से कभी निराश नहीं होना चाहिये। परन्तु उसका उपयोग कामना-निवृत्ति, जिज्ञासा-पूर्त्ति एवं प्रेम की प्राप्ति के लिए ही करना चाहिये। असत्य को असत्य जान लेने पर सत्य की खोज तथा उसकी प्राप्ति हो सकती है। अतः सत्य की खोज एवं उसकी प्राप्ति से भी निराश नहीं होना चाहिये। वस्तुओं से अतीत जो है उस पर विश्वास हो सकता है। जिसपर विश्वास हो सकता है उससे नित्य-सम्वन्ध स्वतः सिद्ध है। जिससे नित्य सम्वन्ध है उसकी मधुर स्मृति अपने आप होती है। यह नियम है कि किसी की स्मृति किसी की विस्मृति करा देती है। अतः जिनसे नित्य-सम्वन्ध है उनकी मधुर स्मृति वस्तु आदि की विस्मृति करा देती है। जिसके होते ही प्रेमी प्रेमास्पद से अभिन्न हो जाता है; अथवा यों कहो कि प्रेमास्पद का प्रेम प्रेमी का जीवन हो जाता है। प्रेम के साम्राज्य में प्रेम का ही आदान-प्रदान है, जो रसरूप है।

प्रेम की प्राप्ति सम्भव है। उससे कभी निराश नहीं होना चाहियें और वस्तु व्यक्ति आदि का नित्य संयोग असम्भव है, उसकी आशा नहीं करनी चाहिये। व्यक्तियों की सेवा और वस्तुओं का सदुपयोग कर्त्तव्य है, उससे कभी विमुख नहीं होना चाहिये। कर्त्तव्यपरायणता और प्रेम की आशा दृढ होते ही चित्त स्वतः शुद्ध हो जाता है।

२८-५-५६

ॐ

: २७ :

मेरे निज स्वरूप परमप्रिय,

गुण-दोष युक्त अवस्था में आसक्त होने से ही चित्त अशुद्ध हो जाता है, कारण कि द्वन्द्वात्मक स्थिति में गुण का अभिमान और दोष की उत्पत्ति स्वतः होती है। यद्यपि गुण का अभिमान भी दोष ही है, परन्तु उसका वाह्य रूप दोष नहीं प्रतीत होता, अपितु गुण ही भासता है। यह नियम है कि प्रतीति का मूल सीमित अहम्‌भाव है जो स्वयं दोष है। जब प्राणी दोष के ऊपर गुण का लेप कर लेता है तब गुण-दोष-युक्त द्वन्द्व उत्पन्न हो जाता है, जो उसे अपराधी-भाव अथवा मिथ्या अभिमान में आवद्ध कर देता है। अपराधी-भाव-जनित दुःख को दवाने के लिए मिथ्या अभिमान की उत्पत्ति होती है और मिथ्या अभिमान दोष को जन्म देता है। दोष की उत्पत्ति प्राणी में अपराधी-भाव दृढ़ कर देती है। अपराधी-भाव के दृढ़ होते ही प्राणी अपनी दृष्टि में अपने को आदर के योग्य नहीं पाता। उसका परिणाम यह होता है कि उसके जीवन में उत्कृष्टता की ओर अग्रसर होने के लिए उत्कण्ठा तथा उत्साह नहीं रहता, जिसके न रहने से नीरसता उत्तरोत्तर वढ़ती रहती है, जो क्षोभ तथा क्रोध को उत्पन्न कर प्राणी को कर्त्तव्य से च्युत कर देती है।

यह नियम है कि आसक्ति उसी से होती है जिससे किसी-न-

किसी प्रकार की भिन्नता हो। जिससे स्वरूप की एकता होती है, उसकी आसक्ति नहीं होती, क्योंकि भेद से ही आसक्ति उत्पन्न होती है, अभेद से नहीं। जब साधक के जीवन में और गुणों में एकता नहीं होती तभी गुणों की आसक्ति तथा उनका अभिमान उत्पन्न होता है, जो समस्त दोषों का मूल है। दोष-जनित सुख भोग ही प्राणी में दोषों की आसक्ति उत्पन्न करता है। ऐसा कोई दोष है ही नहीं, जिससे प्राणी की वास्तविक एकता हो जाय। सभी दोष उत्पत्ति-विनाश-युक्त हैं। जो वस्तु उत्पत्ति-विनाश-युक्त होती है, उसकी स्वरूप से स्थिति नहीं होती। उत्पत्ति-विनाश का जो क्रम है वही स्थिति-जैसा प्रतीत होता है। इस दृष्टि से किसी भी दोष की स्थायी स्थिति सिद्ध नहीं है। इसी कारण ऐसा कोई दोषी है ही नहीं, जो सर्वदा दोषी हो और सभी के लिए दोषी हो। इतना ही नहीं, दोष में सत्ता सीमित गुण की होती है, दोष की नहीं। यदि दोष का स्वतंत्र अस्तित्त्व होता, तो उसकी निवृत्ति का प्रश्न ही उत्पन्न न होता। दोष-जनित सुख के प्रलोभन से भले ही दोष की पुनरावृत्ति हो, किन्तु दोष की निवृत्ति की लालसा किसी न किसी अंश में प्रत्येक दोषी में सदैव रहती है। परन्तु जब दोष-निवृत्ति की लालसा सर्वांश में जागृत हो जाती है, तब सभी दोष स्वतः निर्जीव हो जाते हैं, अथवा यों कहो कि निर्दोषता आ जाती है। इस दृष्टि से गुण-दोष-युक्त अवस्था वास्तविक नहीं है, प्रत्युत गुण का सीमित रूप ही दोष है; अथवा यों कहो कि गुण के विपरीत जो कुछ है, वह दोष है। गुण का सीमित होना, गुण का अभिमान और गुण के विपरीत होना दोष, इन दोनों का भास होना ही गुण-दोष-युक्त द्वन्द्व है, जो चित्त को अशुद्ध कर देता है। ज्यों-ज्यों गुण का अभिमान गलता जाता है, त्यों-त्यों दोष भी मिटते जाते हैं। सर्वांश में गुणों का अभिमान गल जाने पर दोष

स्वतः मिट जाते है, जिस प्रकार बिना भूमि के कोई भी पौधा न उगता ही है और न वृद्धि ही पाता है, उसी प्रकार गुणों के अभिमान के विना न किसी दोष की उत्पत्ति ही होती है और न वृद्धि ही। इस दृष्टि से गुणों का अभिमान ही वास्तविक दोष है। इतना ही नहीं, गुण का अभिमान दोष-जनित सुख की आसक्ति का नाश नहीं होने देता और न दोष की उत्पत्ति की वेदना ही जागृत होने देता है। यह नियम है कि दोषों की उत्पत्ति की वेदना दोष-जनित सुख की आसक्ति को खाकर निर्दोषता प्रदान करने में समर्थ है।

गुण और जीवन की भिन्नता ने ही गुणों का मिथ्या अभिमान उत्पन्न किया और गुणों के अभिमान से ही समस्त दोषों की उत्पत्ति हुई। यदि साधक गुण और जीवन का भेद मिटा दे, तो बड़ी सुगमतापूर्वक गुण-दोषयुक्त अवस्था का अन्त हो सकता है, जिसके होते ही चित्त शुद्ध हो जाता है।

समस्त गुण स्वाभाविक हैं, और समस्त दोष उत्पत्ति-विनाश-युक्त, अर्थात् अस्वाभाविक हैं। स्वाभाविकता में अस्वाभाविकता की स्थापना यदि न की जाय तो, अस्वाभाविकता स्वतः मिट जाती है, और फिर जीवन तथा गुणों में भेद नहीं रहता। इस दृष्टि से प्रत्येक दोष उसी समय तक जीवित है, जब तक उससे सम्बन्ध स्वीकार कर लिया है; अर्थात् भूतकाल की घटना का वर्त्तमान में स्वीकार करना ही दोष को जीवित रखना है, जो वास्तव में चित्त की अशुद्धि है। दोष का ज्ञान जिस ज्ञान में विद्यमान है, यदि उसका अनादर न किया जाय तो किसी भी दोष की उत्पत्ति ही सम्भव नहीं है। ज्ञान स्वाभाविक है और उसका आदर भी स्वाभाविक है। उस स्वाभाविकता में यदि अस्वाभाविकता की स्थापना न की जाय, तो दोष जैसी वस्तु सिद्ध ही नहीं हो सकती। अतः प्रत्येक दोष की सिद्धि दोष के ज्ञान में और दोष का ज्ञान

ज्ञान के अनादर में निहित हैं। ज्ञान का अनादर कब से हुआ है, इसका ज्ञान सम्भव नहीं है। पर उसका आदर वर्त्तमान में सम्भव है, जिसके करते ही ज्ञान का अनादर और उसका परिणाम—दोषों की उत्पत्ति अर्थात् दोष और उसका कारण सदा के लिए मिट जाता है। अतः जाने हुए के अनादर ने ही गुण और जीवन में भिन्नता उत्पन्न कर दी है, जो सभी दोषों का मूल है।

समस्त दोषों में आसक्ति दोषजनित सुख के भोग में निहित है। यदि दोषजनित सुख का भोग न किया जाय तो दोषों में अनासक्ति अपने आप हो जाती है, जिसके होते ही निर्दोषता स्वतः आ जाती है। अपने आप वही आती है जो वास्तव में है। उस 'है' को जब साधक असावधानी के कारण सीमित अहम्-में स्थापित कर लेता है, तब गुणों का अभिमान उत्पन्न हो जाता है, जिसके होते ही दोषों की पुनरावृत्ति होने लगती है। दोष की आसक्ति भोग में, अर्थात् इन्द्रिय और विषय में सम्बन्ध जोड़ती है, और गुण की आसक्ति सीमित अहम्भाव की पूजा में आबद्ध करती है। अहम्भाव की पूजा साधक के जीवन में दम्भ उत्पन्न करती है, और इन्द्रिय तथा विषयों का सम्बन्ध साधक को पराधीन बनाता है, जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है। भोग्य वस्तुओं की कामना और व्यक्तित्व के आदर की दासता गुण-दोष-युक्त अवस्था की आसक्ति में ही निहित हैं। यद्यपि व्यक्तित्व का आदर अधिकार-लालसा को त्याग दूसरों के अधिकार की रक्षा में निहित है और भोग्य वस्तुओं की प्राप्ति प्राकृतिक न्याय से होती है, परन्तु साधक असावधानी से भोग्य वस्तुएँ और व्यक्तित्व का आदर बलपूर्वक दूसरों को भय तथा प्रलोभन देकर प्राप्त करना चाहता है, जो वास्तव में सम्भव नहीं है। बल के सदुपयोग से निर्बलों में निर्भयता और सबल तथा निर्बल के बीच एकता आती

है। सवल और निर्वल के वीच भिन्नता और पारस्परिक भय वल के दुरुपयोग से ही होता है, जिसका कारण एकमात्र चित्त की अशुद्धि है।

जिस प्रकार प्रत्येक लहर में जल सागर का है, लहर का नहीं उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति में वल उस अनन्त का है, व्यक्ति का नहीं। जव व्यक्ति अनन्त के वल को अपना वल मान लेता है तव उसमें मिथ्या अभिमान उत्पन्न होता है, जो सवल और निर्वल के वीच भेद उत्पन्न कर देता है, जिससे अनेक प्रकार के संघर्ष उत्पन्न हो जाते हैं। उसका परिणाम यह होता है कि सवल निर्वल और निर्वल सवल होता रहता है। यह नियम है कि जिस वल का भास किसी की निर्वलता पर निर्भर है, वह वास्तव में वल के भेष में निर्वलता ही है, वल नहीं, क्योंकि यदि वह वल होता तो दूसरों की निर्वलता का अपहरण न करता। जिससे दूसरों में निर्वलता की वृद्धि होती है उसे वल मान लेना प्रमाद के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। वास्तविक वल वही है, जो सवल और निर्वल में एकता उत्पन्न कर दे। यह तभी सम्भव होगा जव प्राप्त वलको निर्वलों की धरोहर मान लिया जाय, अपनी भोग-सामग्री नहीं। वल को निर्वल के समर्पित करते ही वल का अभिमान गल जाता है, जिसके गलते ही चित्त शुद्ध हो जाता है।

प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक दशा में कर्त्तव्यनिष्ठ हो सकता है, क्योंकि कर्त्तव्य का ज्ञान और उसके पालन की सामर्थ्य प्राकृतिक विधान के अनुसार सव में विद्यमान है। विद्यमान ज्ञान तथा सामर्थ्य के सदुपयोग में ही कर्त्तव्यपरायणता की पराकाष्ठा है। इस दृष्टि से कर्त्तव्य-पालन में असमर्थता नहीं है। व्यक्ति किसी भी परिस्थिति में क्यों न हो, कर्त्तव्य से च्युत होना असावधानी है, वास्तविकता नहीं। परिस्थिति के अनुसार कर्त्तव्य-पालन से

किसी का अनादर नहीं होता, प्रत्युत उसका जीवन विधान बन जाता है। विधान और जीवन में जो एकता है, यही चित्त की शुद्धि है और विधान और जीवन में जो भेद है वही चित्त की अशुद्धि है। कर्त्तव्य का विधान कर्त्ता में मौजूद है, पर वह बेचारा असावधानी के कारण उसका आदर नहीं करता और जो नहीं जानता है उसको जानने के लिए और जो नहीं कर सकता है उसे करने के लिए व्यर्थ ही चिन्तित रहता है। उसका परिणाम यह होता है कि जो जानकारी थी, वह आच्छादित होने लगती है और जो सामर्थ्य था उसका ह्रास होने लगता है। अतः जो नहीं जानते हैं उसको जानने के लिए और जो नहीं कर सकते हैं उसको करने के लिए कभी चिन्तित नहीं होना चाहिए; प्रत्युत जो जानते हैं और जो कर सकते हैं उसे आलस्य तथा असावधानी से रहित होकर करने के लिए सतत उद्यत रहना चाहिए। अब यदि कोई यह कहे कि जो नहीं जानते हैं उसको जानने की चिन्ता न करने से तो जानकारी में वृद्धि न होगी। जानकारी में वृद्धि जानकारी के आदर से होती है, उसकी चिन्ता करने से नहीं। प्राकृतिक नियम के अनुसार ज्ञान और जीवन में एकता होने से आवश्यक ज्ञान और सामर्थ्य अपने आप स्वतः प्राप्त होता है, उसके लिए चिन्ता नहीं करनी पड़ती। अप्राप्त ज्ञान तथा सामर्थ्य के लिए वे ही प्राणी चिन्तित रहते हैं, जो प्राप्त ज्ञान तथा सामर्थ्य का सदुपयोग नहीं करते। प्राणी पर दायित्व अप्राप्त सामर्थ्य तथा ज्ञान के सम्पादन का नहीं है, अपितु प्राप्त सामर्थ्य तथा ज्ञान के सदुपयोग का है। कर्त्तव्य-पालन के लिए आवश्यक सामर्थ्य, योग्यता और वस्तु स्वतः प्राप्त होती है। प्राणी उस प्राप्त सामर्थ्य, योग्यता तथा वस्तु को अपनी मानकर व्यर्थ ही दीनता और अभिमान में आबद्ध हो जाता है।

प्राणी दीनता में आवद्ध होने पर अप्राप्त सामर्थ्य और ज्ञान के लिए चिन्ता करता है और अभिमान में आवद्ध होने से प्राप्त सामर्थ्य योग्यता तथा वस्तु का दुरुपयोग करता है। यद्यपि कर्त्तव्यनिष्ठ प्राणी के जीवन में दीनता तथा अभिमान का कोई स्थान ही नहीं है, क्योंकि अभिमान तो तव किया जाय जव सामर्थ्य, योग्यता, और वस्तु अपनी हो और दीन तव वना जाय जव वह करना पड़े जो नहीं कर सकते और उस ज्ञान की अपेक्षा हो जो प्राप्त नहीं है। किसी भी विधान के अनुसार वह कर्त्तव्य हो ही नहीं सकता जिसके पालन का सामर्थ्य तथा ज्ञान कर्त्ता में न हो। जैसे—जिसके पास किसी प्रकार का संग्रह नहीं है, उस पर किसी प्रकार का कर नहीं लगता और न उससे कोई किसी प्रकार की आशा करता है। सामर्थ्य योग्यता और वस्तुओं के संग्रह में ही कर्त्तव्य का प्रश्न है और संग्रह के अनुसार करने में कोई कठिनाई नहीं है। अतः कर्त्तव्य-पालन स्वाभाविक है, उसमें जो अस्वाभाविकता है अथवा जो कठिनाई प्रतीत होती है, वह केवल कर्त्ता की अपनी ही असावधानी है और कुछ नहीं।

गुण-दोष-युक्त अवस्था की आसक्ति कर्त्तव्यनिष्ठ होने से स्वतः मिट जाती है। पर कर्त्तव्य-पालन तभी सम्भव होता है कि जव व्यक्ति अपनी वास्तविकता को छिपाने का प्रयास न करे; प्रत्युत जो सत्य है उसको निर्भयतापूर्वक प्रकाशित करने में समर्थ हो और उस परिस्थिति के अनुसार जो कर्त्तव्य है उसके पालन में दृढ़ हो। सत्य के प्रकाशन से किसी का अहित नहीं है और परिस्थिति के अनुसार साधन करने से अनादर आदर में स्वतः वदल जाता है। परन्तु प्राणी वर्तमान के दुःख से भयभीत होकर कर्तव्य पालन में तत्पर नहीं होता और सत्य को छिपाकर मिथ्या आदर पाने के लिए व्यर्थ ही चेष्टा करता है। उसका परिणाम यह

होता है कि जो सामर्थ्य कर्त्तव्य पालन के लिये था उसका दुर्व्यय हो जाता है।

प्राकृतिक नियम के अनुसार जिसकी अवनति हुई है, उसकी उन्नति हो सकती है और जो अशुद्धि है वह शुद्धि में बदल सकती है। अकर्त्तव्य कर्त्तव्य से मिट सकता है। वर्तमान में कितनी ही असमर्थता तथा भय क्यों न हो, परन्तु उस स्थिति में जो करना चाहिए उसके करने से आवश्यक सामर्थ्य तथा निर्भयता अपने आप आ जाती है। निर्भयता आने पर सामर्थ्य का सद्व्यय होने लगता है। अतः प्राप्त सामर्थ्य के सद्व्यय से गुण दोष-युक्त अवस्था की आसक्ति मिट जाती है, जिसके मिटते ही चित्त शुद्ध हो जाता है। प्राकृतिक नियम के अनुसार चित्त की शुद्धि में ही समस्त विकास निहित हैं।

२१-५-५६

: १८ :

मेरे निज स्वरूप परमप्रिय,

सुख को सुरक्षित रखने के प्रलोभन और दुःख के भय ने चित्त को अशुद्ध कर दिया है। यद्यपि सुख के आदि और अन्त में दुःख स्वाभाविक है, परन्तु-प्राणी दुःख पर दृष्टि न रखकर सुख की दासता में अपने को आवद्ध कर लेता है। उसका परिणाम यह होता है कि सुख भी सुरक्षित नहीं रहता और दुःख से भी बच नहीं पाता; अर्थात् न तो सुख के भोग की ही सिद्धि होती है और न दुःख के भय से ही छुटकारा मिलता है, जिसके न मिलने से चित्त अशुद्ध हो जाता है।

सुख क्या है ? उसमें इतनी प्रियता क्यों है ? यदि इस पर विचार किया जाय तो यह स्पष्ट विदित होता है कि सुख संकल्प-पूर्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। संकल्प-निवृत्ति के वास्तविक महत्व को न जानने से और संकल्प-अपूर्ति के दुःख को सहन न करने से संकल्प-पूर्ति के सुख में प्रियता मालूम होती है। यद्यपि प्रत्येक संकल्प की पूर्ति नवीन संकल्प की जननी है, परन्तु असावधानी के कारण प्राणी इस तथ्य पर ध्यान नहीं देता और संकल्प पूर्ति-अपूर्ति के सुख-दुःख में ही जीवन बुद्धि स्वीकार कर चित्त को अशुद्ध कर लेता है।

प्राकृतिक नियमानुसार प्रत्येक परिस्थिति में संकल्प पूर्ति का

द्वन्द्व है। अतः किसी भी परिस्थिति से यह आशा करना कि संकल्प-अपूर्ति का चित्र अर्थात् दुःख नहीं आएगा और संकल्प पूर्ति के सुख का स्वप्न सुरक्षित वना रहेगा, असम्भव में सम्भव बुद्धि स्वीकार करना है, जो अविवेक सिद्ध है। इस दृष्टि से प्रत्येक परिस्थिति समान ही अर्थ रखती है तो फिर अप्राप्त परिस्थिति का संकल्प करना निरर्थक ही सिद्ध होता है और परिस्थिति को ही जीवन मानना सुख-दुःख में आवद्ध ही होना है और कुछ नहीं जो चित्त की अशुद्धि है।

सुख-दुःख अपने आप आने-जानेवाली वस्तु है। उनके सदुपयोग में ही प्राणी का पुरुषार्थ निहित है। सुख-दुःख का सदुपयोग सुख-दुःख से अतीत के जीवन से सम्बन्ध जोड़ने में अथवा उससे अभिन्न करने में समर्थ है। इतना ही नहीं, सुख-दुःख का सदुपयोग सुख दुःख में समानता का दर्शन कराता है, जिससे सुख की दासता और दुःख का भय मिट जाता है, जिसके मिटते ही चित्त शुद्ध हो जाता है। सुख-दुःख के सदुपयोग के महत्व को भली भाँति जान लेने पर किसी अप्राप्त परिस्थिति की कामना नहीं रहती और प्राप्त परिस्थिति साधन सामग्री के अतिरिक्त और कुछ नहीं प्रतीत होती; अथवा यों कहो कि परिस्थितियों में जीवन-बुद्धि नहीं रहती, जिसके न रहने पर संकल्प-पूर्ति की दासता मिट जाती है और संकल्प-निवृत्ति का महत्व चित्त में अङ्कित हो जाता है। ज्यों-ज्यों संकल्प-निवृत्ति का महत्व सवल एवं स्थायी होता जाता है त्यों-त्यों संकल्प अपूर्त्ति का दुःख और पूर्ति का सुख स्वतः मिटता जाता है।

कामना-पूर्ति का प्रलोभन प्राणी को सर्वांश में सत्य का अनुसरण नहीं करने देता। असत्य को असत्य जानकर उससे विमुख नहीं होने देता है और न असत्य को प्रकट करने का ही साहस

रहने देता है। उसका परिणाम यह होता है कि व्यक्ति सत्य की चर्चा करता है और असत्य में रमण करता है, जो वास्तव में चित्त की अशुद्धि है। कामना-पूर्ति की दासता प्राणी के मूल्य का अपहरण कर लेती है, जिसके होते ही साधक वस्तु, व्यक्ति आदि के आधीन हो जाता है। वस्तु के आधीन होने से लोभ और व्यक्ति के आधीन होने से मोह की उत्पत्ति होती है, जो चित्त को अशुद्ध कर देती है।

सर्वांश में सत्य का अनुसरण किए विना निज ज्ञान और जीवन में जो भिन्नता उत्पन्न हो गई है, उसका नाश नहीं हो सकता और उसके विना सत्य से अभिन्नता नहीं हो सकती, जो वास्तविक जीवन है। इस दृष्टि से कामना-पूर्ति के प्रलोभन को त्याग सत्य का अनुसरण करना अनिवार्य है।

कामना-पूर्त्ति ने ही असत् से सम्बन्ध स्थापित कर दिया है। यद्यपि असत्य को असत्य जानना स्वाभाविक है, परन्तु उससे विमुखता दुर्लभ हो गई है, क्योंकि असत् से सम्बन्ध स्वीकार करने पर ही कामना की उत्पत्ति और पूर्ति होती है। कामना की उत्पत्ति और पूर्त्ति का द्वन्द्व सत्य की जिज्ञासा जागृत नहीं होने देता। सत्य की जिज्ञासा के विना असत्य के त्याग का सामर्थ्य नहीं आता। यह नियम है कि सत् असत् का प्रकाशक है, नाशक नहीं; पर सत्यकी जिज्ञासा असत् को खाकर सत् से अभिन्न करने में समर्थ है। अतः सत्य की जिज्ञासा के विना असत् से विमुखता सम्भव नहीं और कामना पूर्त्ति के प्रलोभन का त्याग विना किए सत्यकी जिज्ञासा जागृत हो ही नहीं सकती। इस दृष्टि से सत्य से अभिन्न होनेके लिए कामनाओं का त्याग अनिवार्य है।

समस्त दोषों का मूल कामना पूर्त्ति का प्रलोभन है। अपने जाने हुए दोष को वनाए रखने की रुचि में भी कामना पूर्ति का

सुख ही हेतु है। यह नियम है कि जाने हुए दोष को अपना लेने पर व्यक्ति अपनी दृष्टि में भी अपने को आदर के योग्य नहीं पाता। जो अपनी दृष्टि में आदर के योग्य नहीं रह जाता, वही दूसरों से आदर पाने की मिथ्या आशा करता है और उसके लिए अपने दोष को छिपाता है। यद्यपि दोष रहते हुए दोष छिपाया नहीं जा सकता, परन्तु अनादर के भय से भयभीत होकर एक दोप को छिपाने के लिए अनेक दोष करने लगता है। ज्यों-ज्यों दोप करता जाता है, त्यों-त्यों अनादर का भय स्वतः बढ़ता जाता है ज्यों-ज्यों अनादर का भय बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों असत् को असत् जानकर भी उसे प्रकाशित नहीं कर पाता। उसका परिणाम यह होता है कि पारस्परिक अविश्वास उत्पन्न हो जाता है, जिससे एकता मिट जाती है, जिसके मिटते ही संघर्ष उत्पन्न होता है, जो विनाश का मूल है। यदि अपने दोष को स्पष्ट जान लिया जाय, उसे प्रकाशित कर दिया जाय तथा उसे न दोहराया जाय, तो वड़ी ही सुगमतापूर्वक अनादर तथा हानि का भय मिट सकता है। जिसके मिटते ही चित्त-शुद्ध होने लगता है। इतना ही नहीं, निर्दोषता आ जाती है, जिसके आते ही प्राणी अपनी तथा दूसरों की दृष्टि में आदर एवं प्यार पाने के योग्य हो जाता है। इस दृष्टि से अपनी भूल छिपाने के लिए असत्य का आश्रय लेना, अथवा यों कहो कि सत्य का प्रकाशन न करना सर्वथा त्याज्य है। सर्वांश में सत्य का अनुसरण और असत् से विमुखता एवं सत्य को प्रकट करने का साहस तभी सम्भव है, जव साधक कामनापूर्ति के प्रलोभन से रहित हो जावें, क्योंकि उसके विना सफलता सम्भव नहीं है।

वर्त्तमान वस्तुस्थिति का वास्तविक परिचय प्राप्त किए विना कोई भी साधक उत्कृष्टता की ओर अग्रसर नहीं हो सकता, क्योंकि

कहीं अधिक दोष है अपने को निर्दोष कहलाने की कामना में आबद्ध रखना। इतना ही नहीं, निर्दोष कहलाने की कामना तभी तक जीवित रहती है, जब तक साधक सर्वांश में निर्दोष नहीं हो जाता।

अब यदि कोई यह कहे कि क्या सर्वांश में निर्दोषता सम्भव है। आंशिक निर्दोषता तो प्रत्येक दोषी में रहती है, क्योंकि सर्वांश में कोई दोषी हो ही नहीं सकता, क्योंकि ऐसा कोई व्यक्ति है ही नहीं जो सभी का सर्वदा बुरा चाहे। बुरे से बुरे व्यक्ति में भी किसी-न-किसी अंश में किसी-न-किसी के प्रति भलाई की भावना अवश्य रहती है। यह नियम है कि भावना के अनुरूप ही प्रवृत्ति होती है। अतः यह निर्विवाद सत्य है कि सर्वांश में सभी के लिए कोई दोषी नहीं होता, किन्तु निर्दोषता सर्वांश में ही होती है। यदि सर्वांश में कोई दोषी होता तो किसी को भी अपने दोष का ज्ञान ही नहीं होता। दोष का ज्ञान यह सिद्ध करता है कि जीवन में किसी-न-किसी अंश में निर्दोषता है।

संकल्प-पूर्ति के सुख का प्रलोभन और अपूर्ति के दुःख का भय चित्त को अशुद्ध करता है। यदि संकल्प की उत्पत्ति ही न हो तो चित्त के अशुद्ध होने का प्रश्न ही नहीं उत्पन्न होता। इस दृष्टि से संकल्प-उत्पत्ति ही चित्त की अशुद्धि का मूल कारण है। अब विचार यह करना है कि संकल्प का स्वरूप क्या है और उसकी उत्पत्ति ही क्यों होती है? प्रत्येक संकल्प की उत्पत्ति का कारण एक मात्र अपने में देह-भाव स्वीकार करना है, जो अविवेक-सिद्ध है। अविवेक विवेक के आदर-मात्र से ही मिट सकता है। देह आदि वस्तुओं का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार करना ही संकल्प का स्वरूप है।

अब यदि कोई यह कहे कि जो वस्तुएँ प्रत्यक्ष प्रतीत हो रही

हैं, उनके अस्तित्व को क्यों न स्वीकार किया जाय। क्या कोई ऐसी वस्तु है कि जिसमें सतत परिवर्तन न हो रहा हो? अथवा जिसका अदर्शन न हो अथवा जिसका वियोग न हो? इन्द्रिय-ज्ञान से जो वस्तुएँ प्रत्यक्ष प्रतीत होती हैं, उन्हीं में बुद्धि-ज्ञान से सतत परिवर्तन भासित होता है; अथवा यों कहो कि कोई भी वस्तु, अवस्था, परिस्थिति ऐसी नहीं है जो उत्पत्ति-विनाश-युक्त न हो। इतना ही नहीं, उत्पत्ति-विनाश के क्रम में ही स्थिति भास-मात्र है, वास्तविक नहीं। जिसकी स्थिति ही सिद्ध नहीं है, जो केवल प्रतीति-मात्र है, उसके स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकार करना प्रमाद के अतिरिक्त और हो ही क्या सकता है।

वस्तुओं के अस्तित्व को स्वीकार करने-मात्र से बेचारा साधक संकल्प की उत्पत्ति और पूर्ति में आवद्ध हो गया है और जो सभी वस्तुओं से अतीत वास्तविक जीवन है उससे विमुख हो गया है। यद्यपि जो वस्तुएँ प्रतीत हो रही हैं, उनकी प्राप्तिकभी भी सम्भव नहीं है और जो वास्तविक जीवन प्रतीत नहीं हो रहा है उसकी ही प्राप्ति सम्भव है, परन्तु बेचारा साधक इस रहस्य को विना ही जाने प्रतीति-मात्र को प्राप्ति और जिसकी प्रतीति नहीं है प्रत्युत प्राप्त है उसकी अप्राप्ति मान लेता है। यह मान्यता वास्तविकता से वंचित करती है। प्रतीति प्राप्ति का चिह्न नहीं है, अपितु किसी न किसी प्रकार की दूरी तथा भेद सिद्ध करती है, अथवा यों कहो कि प्रतीति में अल्प ज्ञान का प्रभाव है। जिससे अप्राप्त भी प्राप्त के समान भासित होता है। यह नियम है कि भोग, मोह और आसक्ति की उत्पत्ति तभी होती है, जब प्रतीति में प्राप्त-बुद्धि स्वीकार कर ली जाय। इस स्वीकृति से ही चित्त अशुद्ध होता है, जिसकी प्रतीति इन्द्रिय और बुद्धि-ज्ञान से सम्भव नहीं है, प्रत्युत जिसके प्रकाश से इन्द्रिय तथा बुद्धि प्रकाशित हैं, उसकी अप्राप्ति तथा

उससे भेद एवं दूरी स्वीकार करना उसी प्रकार की भूल है, जिस प्रकार प्रतीति को प्राप्ति स्वीकार करना है। यदि साधक प्रतीति से विमुख होकर श्रमरहित हो जाय, तो जो नित्य प्राप्त है उसमें प्रीति, उससे नित्य योग एवं उसका बोध स्वतः हो सकता है, जिसके होते ही चित्त सदा के लिए शुद्ध हो जाता है। योग, बोध और प्रेम प्राप्त में और भोग, मोह और आसक्ति अप्राप्त में प्रवृत्त कराते हैं। अप्राप्त की प्रवृत्ति श्रम है और कुछ नहीं, जिससे प्राप्त शक्ति का ह्रास ही होता है, जो प्राणी को शक्तिहीनता, जड़ता और पराधीनता में आबद्ध करता है और जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है। जिस काल में जड़ता, पराधीनता और शक्तिहीनता की वेदना जागृत होती है, उसी काल में प्रतीति से विमुखता उदय होती है, जिसके होते ही प्राप्त से योग और उसका बोध एवं उससे प्रेम स्वतः हो जाता है जो वास्तविक जीवन है। अतः संकल्पपूर्ति-अपूर्ति के सुख-दुःख के प्रलोभन तथा भय से रहित होने में ही चित्त की शुद्धि निहित है। चित्त की शुद्धि में ही योग, बोध तथा प्रेम की प्राप्ति है, जो वास्तविक जीवन से अभिन्न कर देती है।

३०-५-५६

: १९ :

मेरे निज स्वरूप परमप्रिय,

प्राकृतिक नियमानुसार प्रत्येक साधक में कर्त्तव्य का ज्ञान तथा उसके पालन का सामर्थ्य विद्यमान है, क्योंकि वर्तमान जीवन साधननिष्ठ होने के लिए ही मिला है, परन्तु असावधानी के कारण अकर्त्तव्य को अकर्त्तव्य जानकर उसका त्याग न करना और कर्त्तव्य को कर्त्तव्य जानकर कर्त्तव्यनिष्ठ न होना चित्त को अशुद्ध करना है। कर्त्तव्य-पालन में ही चित्त की शुद्धि निहित है और अकर्त्तव्य के त्याग से ही कर्त्तव्य-पालन का सामर्थ्य उदित होता है। इस दृष्टि से चित्त-शुद्धि के लिए सर्वप्रथम अकर्त्तव्य का त्याग अनिवार्य है। साधन के दो अंग हैं। एक वह जो निषेधात्मक है अर्थात् न करनेवाली बात और दूसरा विधि-आत्मक है अर्थात् करनेवाली बात। निषेधात्मक साधन को अपना लेने में साधक असमर्थ नहीं है। यह नियम है कि निषेधात्मक साधना के सिद्ध होने पर विध्यात्मक साधना स्वतः होने लगती है, जिसके होते ही चित्त शुद्ध हो जाता है।

निषेधात्मक साधना की सिद्धि वर्तमान में ही हो सकती है, क्योंकि उसके लिए किसी परिस्थिति-विशेष की अपेक्षा नहीं है, और न वह श्रमसाध्य है। उसकी सिद्धि के लिए साधक को केवल दृढ़व्रती होना है; अथवा यों कहो कि अकर्त्तव्य-जनित सुख-

लोलुपता का त्याग करना है। यह नियम है कि सुख की आशा के त्याग से स्वार्थ-भाव स्वतः गल जाता है, जिसके गलते ही समस्त दिव्य गुण अपने आप उदित होते हैं, जो विध्यात्मक साधना को सिद्ध करने में समर्थ हैं। इस दृष्टि से प्रत्येक साधक सुगमतापूर्वक कर्त्तव्यनिष्ठ हो सकता है।

कर्त्तव्यपालन वर्तमान की वस्तु है। उसका सम्बन्ध प्राप्त परिस्थिति से है। उसके लिए आगे-पीछे का चिन्तन अपेक्षित नहीं है और न किसी अप्राप्त परिस्थिति की ही आवश्यकता है, अपितु प्राप्त परिस्थिति के द्वारा ही प्राणी कर्त्तव्यनिष्ठ हो सकता है, क्योंकि प्रत्येक परिस्थिति में व्यक्ति का कर्त्तव्य निहित है और उसी के पालन में उद्देश्य की पूर्ति है। कर्त्तव्य की सार्थकता दूसरों के अधिकार की रक्षा और अपने अधिकार के त्याग में है। इस कारण कर्त्तव्यनिष्ठ प्राणी से किसी का अहित नहीं होता और न उसमें पराधीनता रहती है। जिस प्रवृत्ति से किसी का अहित हो और कर्त्ता में पराधीनता का जन्म हो, वह प्रवृत्ति अकर्त्तव्य है, कर्त्तव्य नहीं।

अकर्त्तव्य का मूल मन्त्र है बल का सदुपयोग और विवेक का आदर। बल के सदुपयोग से दूसरों के अधिकार की रक्षा होती है और विवेक के आदर से अपने अधिकार के त्याग का सामर्थ्य आता है। दूसरों के अधिकार की रक्षा से परस्पर में एकता होती है और संघर्ष का नाश हो जाता है। जितनी भिन्नताएँ उत्पन्न होती हैं उनके मूल में बल का दुरुपयोग अर्थात् दूसरों के अधिकारों का अपहरण है। यह नियम है कि भिन्नता में ही समस्त दोषों की उत्पत्ति होती है। इस दृष्टि से कर्त्तव्यनिष्ठ प्राणी बल का दुरुपयोग नहीं करते। बल के सदुपयोग का सामर्थ्य विवेक के आदर में निहित है, क्योंकि विवेक का आदर किए बिना बल का

सदुपयोग सम्भव नहीं है। विवेक में ही कर्त्तव्य का ज्ञान और अकर्त्तव्य के त्याग का सामर्थ्य निहित है, क्योंकि विवेक के प्रकाश में ही कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का भेद स्पष्ट होता है। इतना ही नहीं, विवेक का आदर करने पर साधक बड़ी ही सुगमतापूर्वक कामरहित हो जाता है, क्योंकि विवेक सत् और असत् का विभाजन करने में समर्थ है। काम का अन्त होते ही चित्त स्वतः शुद्ध हो जाता है।

यदि कोई साधक अपने को बल और विवेक से रहित मानता हो, तो वह भी कर्त्तव्यनिष्ठ हो सकता है। प्राकृतिक नियम के अनुसार निर्बल में निर्भर होने की शक्ति आ जाती है और जो कुछ नहीं जानता उसमें विकल्परहित विश्वास उदित होता है। निर्भरता साधक को अभिमानरहित कर देती है, जिसके होते ही भिन्नता तथा भेद गल जाता है और निर्भयता आ जाती है। भिन्नता गलते ही प्रेम का उदय होता है और भेद के मिटते ही यथार्थ बोध हो जाता है। प्रेम में अगाध अनन्त रस तथा बोध में जीवन निहित है। इस दृष्टि से निर्बल से निर्बल साधक भी कर्त्तव्यनिष्ठ हो सकता है। बल के सदुपयोग से भी परस्पर में एकता आती है और निर्भर होने से भी भेद तथा भिन्नता का नाश हो जाता है। अतः निर्बल और सबल दोनों ही कर्त्तव्यनिष्ठ होकर एक ही लक्ष्य को प्राप्त कर सकते हैं और दोनों ही का चित्त शुद्ध हो सकता है।

चित्त की अशुद्धि तो एकमात्र बल के दुरुपयोग तथा विवेक के अनादर में निहित है, जो वास्तव में अकर्त्तव्य है। कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य से भिन्न कोई तीसरी स्थिति हो नहीं सकती। हाँ, यह अवश्य है कि आंशिक कर्त्तव्य और आंशिक अकर्त्तव्य अपना लेने के कारण कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का द्वन्द्व उत्पन्न हो जाय। कर्त्तव्य-

अकर्त्तव्य का द्वन्द्व अकर्त्तव्य से भी कहीं अधिक निन्दनीय है, क्योंकि केवल अकर्त्तव्य का अस्तित्व ही सिद्ध नहीं होता और कर्त्तव्यनिष्ठ होने पर द्वन्द्वातीत जीवन से अभिन्नता हो जाती है, जिसमें किसी प्रकार का वैषम्य तथा अभाव नहीं है। अतः जीवन में जो विषमता तथा अभाव का दर्शन होता है, उसका कारण एकमात्र कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का द्वन्द्व है। आंशिक कर्त्तव्य वास्तव में अकर्त्तव्य का ही एक रूप है, क्योंकि आंशिक कर्त्तव्य में अकर्त्तव्य का आश्रय रहता है। यह नियम है कि अकर्त्तव्य के आश्रित किया हुआ कर्त्तव्य चित्त को अशुद्ध ही करता है, क्योंकि अकर्त्तव्य के रहते हुए वास्तविक कर्त्तव्य-परायणता सम्भव नहीं है और उसके विना चित्त शुद्ध नहीं हो सकता। अतः अकर्त्तव्य को त्यागकर ही, कर्त्तव्यपरायणता से चित्त शुद्ध हो सकता है।

यद्यपि किसी न किसी अंश में वल तथा विवेक प्रत्येक साधक में विद्यमान है परन्तु यदि कोई अपने को विवेकरहित मानता है तो वह भी विकल्परहित विश्वास के आधार पर कर्त्तव्यनिष्ठ हो सकता है। विकल्परहित विश्वास किसी वस्तु आदि पर नहीं हो सकता, क्योंकि जिसके सम्बन्ध में अधूरी जानकारी होती है उसके सम्बन्ध में सन्देह होता है, विश्वास नहीं। विश्वास उसी पर होता है जिसके सम्बन्ध में कुछ नहीं जानते। जिसके सम्बन्ध में कुछ नहीं जानते वह सभी वस्तुओं से अतीत हो सकता है, क्योंकि वस्तुओं के सम्बन्ध में तो कुछ न कुछ जानते ही हैं। जो वस्तुओं से अतीत है उस पर विकल्परहित विश्वास होने से भी साधक कर्त्तव्यनिष्ठ हो सकता है, क्योंकि विश्वास में सम्बन्ध जोड़ने का सामर्थ्य स्वतःसिद्ध है। जिस पर विश्वास होता है उससे ममता हो ही जाती है। यह नियम है कि ममता प्रियता को जागृत करती

है। प्रियता आत्मीयता और आत्मीयता अभिन्नता प्रदान करती है। अभिन्नता भेद को खाकर अभय करने में समर्थ है। भय का अन्त होते ही चित्त स्वतः शुद्ध हो जाता है। विकल्परहित विश्वास के द्वारा साधक बड़ी ही सुगमतापूर्वक वस्तुओं से अतीत जो है, उससे नित्य सम्बन्ध स्वीकार कर उसके प्रेम को प्राप्त कर सकता है। इस दृष्टि से जो साधक यह मानता है कि मैं कुछ नहीं जानता, वह भी विकल्प-रहित विश्वास के आधार पर साधननिष्ठ अर्थात् कर्त्तव्यपरायण हो सकता है।

समस्त साधक दो श्रेणियों में ही विभाजित हो सकते हैं। एक तो वे, जो यह मानते हैं कि हम कुछ जानते हैं और कुछ नहीं जानते और दूसरे वे, जो मानते हैं और जानते नहीं। जो साधक अधूरी जानकारी को स्वीकार करते हैं, वे जिज्ञासु होकर कर्त्तव्य-निष्ठ हो जाते हैं, क्योंकि अधूरी जानकारी में ही सन्देह की उत्पत्ति होती है और सन्देह की भूमि में ही जिज्ञासा उदित होती है, जो जिज्ञासु को वास्तविकता से अभिन्न कर देती है। जो साधक केवल मानते हैं, जानते कुछ नहीं, वे अपनी मान्यता के अनुरूप जिसे मानते हैं, उस पर विश्वास कर उससे नित्य सम्बन्ध स्वीकार कर उसकी प्रीति होकर उससे अभिन्न हो जाते हैं। जिज्ञासु जिज्ञासा होकर वास्तविकता से अभिन्न होता है और विश्वासी अपने विश्वासपात्र की प्रीति होकर वास्तविकता से अभिन्न होते हैं। यह नियम है कि समस्त कामनाएँ जिज्ञासा की अग्नि में भस्मीभूत हो जाती हैं, जिनके होते ही जिज्ञासु, जिज्ञासा और वास्तविकता में कोई भेद नहीं रहता, अर्थात् त्रिपुटी मिट जाती है। विश्वासी, विश्वास और विश्वासपात्र इन तीनों में भी एकता हो जाती है, क्योंकि विश्वासी अपने विश्वासपात्र की प्रीति होकर उससे अभिन्न हो जाता है कारण कि प्रीति भेद तथा दूरी को रहने

नहीं देती। साधन का आरम्भ चाहे सन्देह से हो अथवा विश्वास से, साधक साधन होकर साध्य से अभिन्न हो ही जाता है, अथवा यों कहो कि प्रत्येक कर्त्ता कर्त्तव्य होकर अपने लक्ष्य से अभिन्न हो जाता है। कर्त्ता का अस्तित्व कर्त्तव्य से भिन्न कुछ नहीं रहता। समस्त कर्त्तव्य दो भागों में विभाजित हैं। एक तो कर्त्तव्य का वह भाग जो कर्त्ता के दोषों का अंत कर उसे निर्दोषता प्रदान करता है और दूसरा कर्त्तव्य का वह भाग जो कर्त्ता को प्रेम प्रदान कर प्रेमास्पद से अभिन्न करता है। निर्दोषता और प्रेम एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। प्रेम में निर्दोषता और निर्दोषता में प्रेम ओत-प्रोत है, अर्थात् प्रेम और निर्दोषता में विभाजन नहीं हो सकता। निर्दोषता किसी और में हो और प्रेम किसी और में यह सर्वदा असम्भव है। जिसमें वास्तविक निर्दोषता है, उसी में अविचल प्रेम है। इतना ही नहीं, निर्दोषता और प्रेम इन दोनों में स्वरूप की एकता है। निर्दोषता जीवन है, तो प्रेम रस। रसविहीन जीवन और जीवनरहित रस किसी को भी अभीष्ट नहीं है। अतः प्रेम और निर्दोषता यह दोनों किसी एक की ही विभूतियाँ हैं जो सभी का सब कुछ है।

निर्दोषता और प्रेम योग की भूमि में ही निहित हैं। योग कर्त्तव्यनिष्ठ प्राणी को स्वतः प्राप्त होता है, कारण कि कर्त्तव्यपालन कर्त्ता को रागरहित कर देता है। रागरहित होते ही भोग योग में स्वतः बदल जाता है, जो जीवन तथा प्रेम प्रदान करने में समर्थ है।

योग साधन का वह स्तर है, जिसमें किसी प्रकार का श्रम तथा अस्वाभाविकता नहीं है, अथवा यों कहो कि विश्राम तथा स्वाभाविकता से युक्त है। विश्राम तथा स्वाभाविकता में कर्तृत्व के अभिमान की गंध भी नहीं रहती। यह नियम है कि कर्तृत्व का अभिमान गल जाने पर सीमित अहमभाव शेष नहीं रहता, जिसके

मिटते ही निरभिमानता, अभेदता, अभिन्नता स्वतः आ जाती है, जिसमें योग, बोध तथा प्रेम स्वतःसिद्ध है।

सन्देह रहते हुए जिज्ञासा की जागृति का न होना और विश्वास होने पर विश्वासपात्र से विश्वासी के नित्य सम्बन्ध की स्वीकृति का दृढ़ न होना ही असाधन अथवा अकर्त्तव्य है। असाधन और अकर्त्तव्य के त्याग में ही साधन में निष्ठा और कर्त्तव्यपरायणता स्वतःसिद्ध है, क्योंकि असाधन और अकर्तव्य के त्यागमात्र से ही चित्त शुद्ध हो जाता है, जिसके होते ही साधन और जीवन में भेद नहीं रहता, अर्थात् साधन जीवन और जीवन साधन हो जाता है। साधन साध्य का स्वभाव और साधक का जीवन है।

प्राकृतिक नियम के अनुसार कर्त्तव्य भाव-रूप है और अकर्तव्य अभावरूप है। जो भावरूप है वह अविनाशी है और जो अभावरूप है, उसका नाश होता है। इसी कारण कर्तव्य की प्राप्ति और अकर्तव्य की निवृत्ति होती है। कर्तव्य-अकर्तव्य-युक्त जो द्वन्द्वात्मक स्थिति प्रतीत होती है, वही साधक को कर्तव्य-अकर्तव्य के अभिमान में आवद्ध करती है, जिसके होते ही चित्त अशुद्ध हो जाता है। जिस प्रकार अन्धकार की प्रतीति प्रकाश से सिद्ध है—कारण कि प्रकाश के अभाव में किसी ने अन्धकार को देखा नहीं—उसी प्रकार आंशिक-कर्तव्य में ही अकर्तव्य की स्थिति प्रतीत होती है। यदि साधक सर्वांश में कर्तव्य को अपना ले तो, अकर्त्तव्य-सदा के लिए स्वतः मिट जाता है, जिसके मिटते ही कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का द्वन्द्व नहीं रहता और चित्त शुद्ध हो जाता है। कर्त्तव्य-काल में अकर्त्तव्य और अकर्त्तव्य-काल में कर्त्तव्य प्रतीत नहीं होता, अर्थात् एक काल में एक ही का भास होता है, परन्तु कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य की स्मृति चित्त में अङ्कित हो जाती है, जिससे व्यक्ति कभी तो भूतकालिक घटनाओं के आधार पर अपनी महिमा

गाता है और कभी निन्दा करता है। तदनुसार अपने को दोषी और निर्दोष, ऊँचा और नीचा, भला और बुरा मानकर सुखी-दुःखी होता है। परिवर्तनशील जीवन की प्रत्येक घटना कुछ न कुछ अर्थ रखती है। कर्त्तव्यनिष्ठ प्राणी अर्थ को अपनाकर घटनाओं को भूल जाता है और घटनाओं से प्राप्त प्रकाश से वर्त्तमान में अपने को कर्त्तव्यनिष्ठ बनाने के लिए अथक प्रयत्नशील रहता है। घटनाओं का चिन्तन कर्त्तव्यनिष्ठ होने में विघ्न है और उनका वास्तविक अर्थ अपना लेना कर्त्तव्यपालन में सहायक है।

कर्त्तव्यपरायणता वर्त्तमान की वस्तु है जिसके अपनाते ही चित्त शुद्ध हो जाता है। चित्त शुद्ध होते ही चित्त में अङ्कित स्मृति स्वप्नवत् निर्जीव हो जाती है, अथवा मिट जाती है, जिसके मिटने गुण-दोष का अभिमान गल जाता है, जिसके गलते ही निर्दोषता तथा प्रेम स्वतः प्राप्त होता है, अतः प्राप्त परिस्थिति के अनुरूप कर्त्तव्यनिष्ठ होकर चित्त शुद्ध करना अनिवार्य है।

२१-५-५६

: ३० :

मेरे निज स्वरूप परमप्रिय,

जानने के सामर्थ्य का उपयोग प्राणी अपने व्यक्तिगत जीवन पर न करके जब दूसरों पर करने लगता है, तब उसका चित्त अशुद्ध हो जाता है, कारण कि जानने के सामर्थ्य से ही दोष का दर्शन होता है। यदि उसका उपयोग अपनी वस्तुस्थिति पर किया जाय तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक चित्त शुद्ध हो जाता है, क्योंकि अपने दोष का दर्शन अपने को निर्दोष बनाने में समर्थ है और परदोष-दर्शन अपने को दोषी बनाने में हेतु है।

प्राकृतिक नियम के अनुसार किसी भी दोष का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है, अथवा यों कहो कि प्रत्येक दोष उत्पत्ति-विनाशयुक्त है। जो वस्तु उत्पत्ति-विनाश-युक्त है, उसकी वास्तविक स्थिति सिद्ध नहीं होती, अपितु उत्पत्ति-विनाश का जो क्रम है, उसी में स्थिति भासित होती है। जिसकी स्थिति ही सिद्ध नहीं होती उसके अस्तित्व को स्वीकार करना चित्त को अशुद्ध करना है, और कुछ नहीं।

दोष की उत्पत्ति से पूर्व और दोष न दोहराने पर निर्दोषता स्वतःसिद्ध है। दोष की सत्ता तो केवल दोष के उत्पत्ति-काल में ही है। समस्त दोषों की भूमि गुण का अभिमान है। पर-दोष-दर्शन से उसमें नित-नव वृद्धि होती है और व्यक्तिगत दोष के दर्शन से गुण का अभिमान गल जाता है। इस दृष्टि से दोषदर्शन

के सामर्थ्य का सदुपयोग तभी हो सकता है, जब वह अपने व्यक्तिगत जीवन पर किया जाय। सामर्थ्य स्वयं न गुण होता है और न दोष। उसका यथावत् उपयोग साधन है और उसके विपरीत करना असाधन है। साधन से चित्त शुद्ध होता है और असाधन से अशुद्ध होता है। अतः जानने के सामर्थ्य का उपयोग व्यक्तिगत जीवन पर ही करना हितकर सिद्ध होता है। जिस प्रकार प्रकाश अन्धकार का नाशक है और वस्तुस्थिति का प्रकाशक है, अर्थात् प्रकाश में जो वस्तुएँ जैसी हैं, वे वैसी ही दिखाई देती हैं, पर जिस अन्धकार ने उन वस्तुओं को आच्छादित कर रखा था, वह अन्धकार प्रकाश होनेमात्र से मिट जाता है, उसी प्रकार जानने के सामर्थ्य से व्यक्तिगत जीवन की वस्तुस्थिति का ठीक-ठीक परिचय हो जाता है और जिस अज्ञान ने वस्तुस्थिति को ढक दिया था वह मिट जाता है।

वस्तुस्थिति के परिचय में क्रांति स्वतः सिद्ध है, क्योंकि जाना हुआ दोष असह्य हो जाता है। यह नियम है कि जिसका होना असह्य होता है, वह मिट जाता है और जिसका न होना असह्य होता है वह प्राप्त हो जाता है। अतः वस्तुस्थिति के ज्ञान में दोष की निवृत्ति और निर्दोषता की प्राप्ति स्वतः सिद्ध है। पर वह तभी सम्भव होगा जब जानने के सामर्थ्य का उपयोग दूसरों पर न करने का स्वभाव बना लिया जाय। जानने का सामर्थ्य किसी व्यक्ति की व्यक्तिगत वस्तु नहीं है और न उत्पत्ति-विनाश-युक्त है अपितु उसकी देन है, जिसमें अनन्त ज्ञान है। उस अनन्त ज्ञान से जो ज्ञान मिला है उसी में साधन-निर्माण का सामर्थ्य निहित है। पर उसकी अनुभूति तभी होती है जब प्राप्त-ज्ञान का अध्ययन किया जाय। जानने के सामर्थ्य का अध्ययन बड़े ही महत्त्व की वस्तु है, क्योंकि उस ज्ञान में ही अपने दोष का ज्ञान, उस दोष

को मिटाने का उपाय तथा निर्दोषता की भी ज्ञान है। जानने के सामर्थ्य से ही प्राणी अपनी वस्तु स्थिति को जानता है और उसी से अपने लक्ष्य को भी जानता है। लक्ष्यतक पहुँचने के लिए जिस साधन प्रणाली की अपेक्षा है उसका ज्ञान भी जानने को सामर्थ्य में निहित है। इस दृष्टि से न जानने का दोप किसी भी साधक के जीवन में स्वभाव से नहीं है।

जाने हुए के अनादर से ही न जानने का दोष साधक को अपने में भासित होने लगता है। यदि जानने के सामर्थ्य का यथेष्ट आदर किया जाय, तो न जानने का दोप प्रतीत न होगा। समस्त साधनों का निर्माण जानने के सामर्थ्य में ही निहित है। जानने के सामर्थ्य का प्रकाशन इन्द्रिय द्वारा भी होता है, बुद्धि के द्वारा भी होता है और इन दोनों से रहित भी जानने का सामर्थ्य अपने को प्रकाशित करता है।

इन्द्रियों के स्तर पर जानने का सामर्थ्य विपयों को प्रकाशित करता है, अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस गंध को। विपयों की प्रतीति में सत्यता, अर्थात् अपरिवर्तन स्वीकार करना इन्द्रियों के ज्ञान का प्रभाव है। परन्तु उन्हीं विषयों को यदि बुद्धि के स्तर से जानने का प्रयास किया जाय, तो किसी भी भोग्य वस्तु में अपरिवर्तन का दर्शन न होगा, अपितु सतत परिवर्तन की अनुभूति होगी। जब साधक बुद्धि के स्तर से प्रकाशित जानने के सामर्थ्य का आदर करने लगता है, तब विपयों से अरुचि स्वतः जागृत होती है, अथवा यों कहो कि भोग्य वस्तुओं पर सन्देह होने लगता है। उसी सन्देह की भूमि में जिज्ञासा जागृत होती है। इन्द्रियों के स्तर से प्रकाशित जानने के सामर्थ्य ने जिन कामनाओं को अर्थात् विपयासक्ति को जन्म दिया था, जिज्ञासा की जागृति उन कामनाओं का नाश करती है और विपयासक्ति विरक्ति में

बदल जाती है, जिसके बदलते ही साधक रागरहित हो जाता है। रागरहित होते ही भोग योग में स्वतः बदल जाता है और फिर बुद्धि के स्तर से अतीत जानने के सामर्थ्य में प्रवेश हो जाता है, जो निस्सन्देहता प्रदान करने में समर्थ है।

सन्देह में जो निस्सन्देहता की मान्यता है, इसी ने चित्त को अशुद्ध किया है और चित्त की अशुद्धि से ही सन्देह सहन होता रहता है, अर्थात् सन्देह की वेदना जागृत नहीं होती। सन्देह की वेदना का जागृत न होना चित्त की अशुद्धि को दृढ़ करना है। चित्त की शुद्धि के लिए यह अनिवार्य है कि सन्देह में जो निस्सन्देहता की स्थापना कर दी गई है उसका अभाव करना होगा, तभी सन्देह की वेदना का उदय होगा, अर्थात् इन्द्रिय-ज्ञान वास्तविक ज्ञान नहीं है, यह स्वीकार करना होगा। यह स्वीकृति ही सन्देह में जो निस्स देहता की स्थापना है, उसका अभाव कर देगी।

इन्द्रियों के स्तर में जानने का सामर्थ्य विधान नहीं है अपितु शक्ति है। यह नियम है कि शक्ति में स्वभाव से ही जड़ता होती है। जिसमें जड़ता होती है उसका उपयोग किसी विधान के अधीन होना चाहिए, तभी उसका सदुपयोग हो सकता है। विधान-शून्य शक्ति का उपयोग ह्रास का मूल है और उसी से चित्त अशुद्ध होता है। इन्द्रियों के स्तर के जानने का सामर्थ्य भोग की प्रवृत्ति में भले ही समर्थ हो, परन्तु भोग-सामग्री की वास्तविकता के जानने में सर्वथा असमर्थ है। सीमित सामर्थ्य को सर्वदा असमर्थता ही मानना चाहिए परन्तु सामर्थ्य का अभाव नहीं मानना चाहिए। अतः इन्द्रियों के स्तर के जानने के सामर्थ्य को जानने का अभाव न मानकर अल्पज्ञान मानना चाहिए। अधूरी जानकारी जिज्ञासा-जागृति में साधनरूप है। इस दृष्टि से प्रत्येक स्तर का ज्ञान आदरणीय है, परन्तु प्रत्येक स्तर का ज्ञान वास्तविक ज्ञान नहीं है।

वास्तविक ज्ञान तो सभी स्तरों के ज्ञान से अतीत है। प्रत्येक स्तर के ज्ञान का साधन-बुद्धि से उपयोग किया जा सकता है। इन्द्रियों के ज्ञान का उपयोग निर्बलों की सेवा में और बुद्धि के ज्ञान का उपयोग रागरहित होने में अथवा वस्तुओं की सत्यता और सुन्दरता के अपहरण में निहित है। ज्यों-ज्यों इन्द्रिय-ज्ञान का सदुपयोग होने लगता है, त्यों-त्यों चित्त पर बुद्धि के ज्ञान का प्रभाव स्थायी होने लगता है, जिसके होते ही भोग की रुचि योग की लालसा में बदल जाती है। जिस काल में योग की लालसा भोग की रुचि का अन्त कर देती है, उसी काल में योग स्वतः हो जाता है, जिसके होते ही बुद्धि के स्तर से अतीत जानने का जो सामर्थ्य है, उससे अभिन्नता हो जाती है।

बुद्धि के स्तर से अतीत जो ज्ञान है, उसमें कर्त्तव्य-विज्ञान, योग-विज्ञान, अध्यात्म-विज्ञान आदि सभी विद्यमान हैं। कर्त्तव्य-विज्ञान को अपना लेने पर साधक के चित्त से विद्यमान राग की निवृत्ति हो जाती है और उसका बाह्य परिणाम यह होता है कि व्यक्ति और समाज में एकता हो जाती है, अथवा यों कहो कि सुन्दर समाज का निर्माण हो जाता है, क्योंकि कर्त्तव्य-विज्ञान दूसरों के अधिकार की रक्षा की प्रेरणा देता है और उसमें प्रवृत्त करता है। कर्त्तव्य विज्ञान के अनुरूप जब साधक कर्त्तव्यनिष्ट हो जाता है, तब वह स्वतः योग विज्ञान का अधिकारी हो जाता है। योग विज्ञान नवीन राग को उत्पन्न नहीं होने देता, जिसके न होने से चित्त चिर शान्ति में निवास करने लगता है, जिससे जड़ता, पराधीनता और शक्तिहीनता अपने आप मिटने लगती है, अथवा यों कहो कि चिन्मयता और स्वाधीनता से अभिन्न होने का सामर्थ्य आ जाता है।

योग विज्ञान की परावधि में आध्यात्म विज्ञान का उदय होता

है, जिसके होते ही सब प्रकार के भेद मिट जाते हैं। भेद का अन्त होने पर सीमित अहम्-भाव गल जाता है, जिसके गलते ही अनंत से अभिन्नता हो जाती है, अर्थात् अनन्त के प्रेम की प्राप्ति होती है।

जानने का सामर्थ्य जो अनन्त की देन है, उसका सदुपयोग अपनी वर्तमान वस्तुस्थिति पर ही करना उचित है, क्योंकि अपने कर्त्तव्य को जानना है और दूसरों के अधिकार को जानना है, क्योंकि किसी के कर्त्तव्य में किसी का अधिकार निहित है, कारण कि ऐसा कोई कर्तव्य हो ही नहीं सकता, जिससे किसी के अधिकार की रक्षा न हो अथवा यों कहो कि दूसरों के अधिकार के ज्ञान में ही अपना कर्त्तव्य निहित है। कर्त्तव्य पालन पराधीनता का अन्त करता है और परस्पर में एकता की स्थापना करता है, परन्तु जब व्यक्ति जानने के सामर्थ्य का उपयोग अपने अधिकार और दूसरों के कर्त्तव्य में करने लगता है, तब बेचारा पराधीन हो जाता है, क्योंकि उसकी प्रसन्नता दूसरों की उदारता पर ही निर्भर हो जाती है। यदि अधिकार की पूर्त्ति हो गयी, तो राग में आबद्ध हो जाता है और पूर्त्ति न हुई तो क्षुभित तथा क्रोधित हो जाता है, जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है। अतः जानने के सामर्थ्य का उपयोग दूसरों के अधिकार और अपना कर्त्तव्य जानने में करना चाहिये।

अकर्त्तव्य का नाश कर्त्तव्य के जानने में है और कर्त्तव्य का ज्ञान दूसरों के अधिकार की पूर्ति में है। अकर्त्तव्य के नाश में कर्त्तव्यपरायणता और दूसरों के अधिकार की पूर्त्ति में वस्तु आदि से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। वस्तु आदि के सम्बन्ध-विच्छेद में चिरशान्ति, नित्य योग, निस्सन्देहता एवं प्रेम निहित है। वस्तु व्यक्ति आदि के सम्बन्ध से ही चित्त अशुद्ध हो गया है और वस्तु व्यक्ति आदि का सम्बन्ध कर्त्तव्य से च्युत होने पर ही दृढ़ होता है। इस दृष्टि से कर्त्तव्यपरायणता वस्तुओं से सम्बन्ध-विच्छेद

कराने में समर्थ है। अपने व्यक्तिगत जीवन पर जानने के सामर्थ्य का सदुपयोग करने में ही कर्त्तव्य का ज्ञान निहित है।

वस्तुस्थिति का परिचय होने पर साधक को अपने में अभाव का ज्ञान होता है, क्योंकि प्रत्येक परिस्थिति अपूर्ण है, परिवर्तनशील है, पर प्रकाश्य है। अभाव का ज्ञान अभाव का अभाव कराने की प्रेरणा देता है, अथवा यों कहो कि अभाव के ज्ञान में लक्ष्य का ज्ञान निहित है। अभाव के ज्ञान से प्राप्त परिस्थिति से असंगता की रुचि उदित होती है और परिस्थिति से असङ्ग होने पर अभाव का अभाव हो जाता है, पर कब? जब किसी अप्राप्त परिस्थिति का आवाहन हो। अप्राप्त परिस्थिति का आवाहन परिस्थिति के स्वरूप को न जानने से होता है। जब इन्द्रिय-ज्ञान का प्रभाव चित्त में अङ्कित नहीं रहता, तब परिस्थिति के स्वरूप का ज्ञान हो जाता है। इन्द्रियों के ज्ञान का प्रभाव उसी समय तक जीवित रहता है, जब तक बुद्धि के स्तर पर जानने की जो सामर्थ्य है, उसका आदर न किया जाय, अथवा उसका सदुपयोग न हो। बुद्धि के ज्ञान का सदुपयोग विधान है। उसके अनुरूप इन्द्रियों का व्यापार होने पर चित्त स्वतः शुद्ध हो जाता है। अतः जानने के सामर्थ्य का सदुपयोग अपने कर्त्तव्य तथा लक्ष्य के ज्ञान में है और कर्त्तव्यपरायणता में लक्ष्य की प्राप्ति स्वतः सिद्ध है। कर्त्तव्यपरायणता वर्तमान जीवन की वस्तु है। इस दृष्टि से वर्तमान के सदुपयोग मात्र से ही चित्त शुद्ध हो सकता है।

२-७-५६

वर्तमान के सदुपयोग से चित्त शुद्ध
होता है।

: ३१ :

मेरे निज स्वरूप परमप्रिय,

प्रत्येक व्यक्ति अपने सम्बन्ध में कुछ न कुछ मानता है और मान्यता के अनुरूप ही कुछ न कुछ करता है और करने के अनुसार ही परिस्थिति उत्पन्न होती है। परिस्थिति में जीवन-बुद्धि हो जाने से चित्त अशुद्ध हो जाता है। यद्यपि प्रत्येक परिस्थिति प्राकृतिक न्याय है, उसके सदुपयोग में प्राणी का हित है, परन्तु उसे जीवन मान लेने से तो चित्त अशुद्ध ही होता है।

वस्तु, अवस्था एवं परिस्थिति में अहम्-बुद्धि, मान्यता में जीवन-बुद्धि उत्पन्न करती है। यद्यपि समस्त मान्यताओं के मूल में जो है, उसे किसी मान्यता में आवद्ध नहीं किया जा सकता, परन्तु सभी मान्यताएँ उसी से सत्ता पाती हैं और उसी से प्रकाशित होती हैं। जिससे सभी मान्यताएँ प्रकाशित होती हैं अथवा सत्ता पाती हैं, उसकी जिज्ञासा तथा लालसा मात्र से चित्त शुद्ध होने लगता है, क्योंकि जो सभी मान्यताओं का प्रकाशक है, वह सब प्रकार से पूर्ण तथा अनन्त है। अनन्त की जिज्ञासा तथा लालसा कामनाओं का अन्त कर देती है, जिससे चित्त शुद्ध हो जाता है।

समस्त मान्यताएँ चार भागों में विभाजित हैं। भोगी, योगी, जिज्ञासु और प्रेमी। भोगी वही प्राणी है जो कामना-पूर्त्ति में ही

जीवन मानता है। कामना-पूर्त्ति प्राणी को वस्तु, व्यक्ति आदि में आबद्ध कर देती है जिसके होते ही लोभ-मोह आदि अनेक दोष उत्पन्न हो जाते हैं जो चित्त को अशुद्ध कर देते हैं। भोग, भोग की दृष्टि से भले ही उत्कृष्ट अथवा निकृष्ट हो किन्तु चित्त की अशुद्धि की दृष्टि से तो सभी भोगों का समान अर्थ है अर्थात् ऐसा कोई भोग है ही नहीं जिससे चित्त अशुद्ध न हो। इतना ही नहीं, भोग-प्रवृत्ति की तो कौन कहे उसकी रुचि-मात्र से ही चित्त अशुद्ध होता है। अतः भोग की रुचि का नाश हुए विना चित्त किसी भी तरह शुद्ध नहीं हो सकता।

जिसकी प्रसन्नता किसी और पर निर्भर है वही भोगी है; अथवा यों कहो कि जो देह-जनित व्यापार में ही जीवन-बुद्धि मानता है वही भोगी है। भोग का आरम्भ-काल सुखद प्रतीत होता है, परन्तु उसका परिणाम भयंकर दुःखद होता है। जो साधक भोग के परिणाम पर दृष्टि रखता है उसे भोग से अरुचि हो जाती है। भोग की अरुचि में योग की रुचि का उदय है। योग की रुचि सबल तथा स्थायी होने पर भोग की रुचि का नाश कर देती है। भोग की रुचि का नाश भोग-प्रवृत्ति के अन्त में स्वतः योग प्रदान करती है। इस दृष्टि से भोग की रुचि के नाश में ही योग की प्राप्ति निहित है।

कोई भी प्राणी अपने को भोगी मानकर चित्त को शुद्ध नहीं कर सकता क्योंकि मान्यता के अनुरूप रुचि और रुचि के अनुसार प्रवृत्ति होती है और प्रवृत्ति-जनित सुख की आसक्ति नित-नया राग उत्पन्न करती है जो चित्त को अशुद्ध कर देता है। जब साधक भोग के परिणाम को भली भाँति जान लेता है तब भोग-वासनाओं का अन्त करने के लिए अपनी मान्यता को

परिवर्त्तित करने का प्रयास करता है। किसी भी मान्यता की जो अस्वीकृति है वह किसी अन्य मान्यता की जननी भी है। इस नियम के अनुसार जब साधक अपने को भोगी नहीं मानता तब योगी, जिज्ञासु तथा प्रेमी इन में से किसी भी मान्यता को स्वीकार कर लेता है। प्राकृतिक नियम के अनुसार प्रत्येक मान्यता में उसके अनुरूप कर्त्तव्य का विधान निहित है। विधान के अनुसार जीवन होने पर मान्यता स्वतः बदल जाती है अथवा जो सभी मान्यताओं से अतीत है उसका योग, उसकी जिज्ञासा एवं उसका प्रेम उदित होता है। प्रत्येक मान्यता उसी समय तक जीवित रहती है जब तक मान्यता के अनुरूप जो विधान है उसमें और जीवन में एकता न हो। विधान और जीवन की एकता होने पर मान्यता स्वतः मिट जाती है जिसके मिटते ही साधक को अनन्त का योग, अनन्त की जिज्ञासा और अनन्त का प्रेम प्राप्त होता है क्योंकि मान्यता कर्त्तव्य का प्रतीक है। कर्त्तव्य-पालन राग-निवृत्ति का साधन है। राग-निवृत्ति होने पर सीमित अहम्-भाव गल जाता है जिसके गलते ही योग-बोध तथा प्रेम की प्राप्ति होती है। योग की पूर्णता में बोध तथा बोध में प्रेम निहित है। भोग प्राणी को इन्द्रिय-बुद्धि आदि वस्तुओं से तादात्म्य प्रदान करता है और योग सभी वस्तुओं से सम्बन्ध-विच्छेद करा देता है, क्योंकि भोग में कामना-पूर्ति और योग से कामना-निवृत्ति होती है। कामना निवृत्त होने पर जिज्ञासा की पूर्ति और प्रेम की प्राप्ति स्वतः हो जाती है। कामनाओं की निवृत्ति होने पर किसी भी वस्तु से तादात्म्य नहीं रहता। उसका परिणाम यह होता है कि जो सभी वस्तुओं से अतीत है उसमें सहज स्थिति स्वतः हो जाती है। यदि साधक स्थिति-जनित शान्ति में रमण न करे तो स्थिति का अभिमान गल जाता है, जिसके गलते ही योग स्वतः बोध में

विलीन हो जाता है जिसके होते ही निस्सन्देहता, स्वाधीनता, चिन्मयता एवं अमरत्व से अभिन्नता हो जाती है।

भोग की रुचि रहते हुए योग की उपलब्धि सम्भव नहीं है। यद्यपि योग भोग की अपेक्षा सहज तथा स्वाभाविक है और उसका परिणाम भी हितकर है, परन्तु भोग-वासना शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि से सम्बन्ध जोड़ देती है जिससे काम की उत्पत्ति होती है। काम की उत्पत्ति होते ही अनेक कामनाएँ उत्पन्न हो जाती हैं जिनकी पूर्ति-अपूर्ति के सुख-दुःख में प्राणी आबद्ध हो जाता है और सहज योग से विमुख हो जाता है। अतः भोग-वासनाओं के त्याग में ही योग की सिद्धि है। सुख की आशा तथा सुख का सम्पादन एवं उसका भोग प्राणी को मन के अधीन कर देता है जिसके होते ही मन इन्द्रियों के अधीन और इन्द्रियाँ विषयों के अधीन हो जाती हैं। इस कारण शान्ति, सामर्थ्य, निस्सन्देहता, अमरत्व आदि से प्राणी विमुख हो जाता है। अतः सुख की आशा से रहित होने से ही चित्त शुद्ध हो सकता है।

सुख की आशा का त्याग होते ही अपने आप होनेवाली प्रत्येक प्रवृत्ति का अन्त शान्ति में होता है। शान्ति सामर्थ्य, स्वाधीनता आदि की भूमि है और सुख की आशा रहते हुए प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त में किसी-न-किसी वस्तु व्यक्ति आदि का चिन्तन होने लगता है जो शान्ति में निवास नहीं होने देता। प्रत्येक प्रवृत्ति की उत्पत्ति से पूर्व जो शान्ति है वही शान्ति यदि प्रवृत्ति के अंत में हो तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक प्रवृत्ति का राग मिट सकता है, कारण कि प्रवृत्ति के चिन्तन में ही प्रवृत्ति का राग निहित है। प्रवृत्ति तो विद्यमान राग की निवृत्ति का साधन मात्र है। उससे कोई क्षति नहीं होती किन्तु प्रवृत्ति-जनित सुख की आसक्ति प्रवृत्ति का चिन्तन उत्पन्न कर प्रवृत्ति से तादात्म्य कर देती है, जिससे नवीन

राग की उत्पत्ति हो जाती है, जो चित्त को अशुद्ध कर देती है। प्रवृत्ति का अन्त नवीन राग की उत्पत्ति में न हो प्रत्युत विद्यमान राग की निवृत्ति में हो तभी चित्त शुद्ध हो सकता है। चित्त की शुद्धि अनावश्यक संकल्पों का अन्त कर देती है और आवश्यक संकल्पों की पूर्ति के सुख में आवद्ध नहीं होने देती। इतना ही नहीं, संकल्प-निवृत्ति की शान्ति में भी रमण नहीं करने देती। जब साधक सुख के भोग और शान्ति में रमण नहीं करता तब अपने आप उस जीवन से अभिन्न हो जाता है जो सभी वस्तु अवस्था आदि से अतीत है।

सभी अवस्थाओं से अतीत के जीवन में प्रवेश तभी सम्भव होगा जब साधनरूप मान्यता तथा प्रवृत्ति के द्वारा विद्यमान राग की निवृत्ति हो और नवीन राग की उत्पत्ति न हो, अर्थात् प्रवृत्ति के अंत में सहज निवृत्ति स्वतः आ जाय। किसी, वस्तु व्यक्ति आदि का प्रवृत्ति के अन्त में आवाहन न हो और जो वस्तु प्राप्त है उसमें लेशमात्र की ममता न रहे, अपितु सहज-निवृत्तिपूर्वक शांति, निस्सन्देहता एवं नित-नव रस की प्राप्ति हो। प्राप्त वस्तुओं की ममता का त्याग और अप्राप्त वस्तुओं के चिन्तन का अभाव विवेकसाध्य है जो वर्तमान में हो सकता है। जो वर्तमान में हो सकता है उसके लिए भविष्य की आशा करना असावधानी के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

वस्तुओं से अतीत के जीवन में स्थिति अथवा उसकी जिज्ञासा एवं उसका प्रेम चित्त को शुद्ध कर देता है। रागरहित होने से वस्तुओं से अतीत के जीवन में स्थिति अपने आप होती है। राग-रहित होने के लिए ही वर्तमान परिस्थिति का सदुपयोग करना है पर वह तभी सम्भव होगा जब देह में अहम्बुद्धि न हो और वस्तुओं में ममबुद्धि न हो। देह में अहम्बुद्धि का त्याग निज

विवेक के आदर में निहित है अर्थात् जिसे 'यह' करके सम्बोधित करते हैं उसमें अहम्भाव स्वीकार करना प्राप्त विवेक का अनादर है; अथवा यों कहो कि जो जानते हैं उसको न मानना है। जाने हुए को न मानने से ही देह में अहम्बुद्धि उत्पन्न हो गई है और उसी का परिणाम यह हुआ है कि प्राप्त वस्तुओं में ममता और अप्राप्त वस्तुओं की कामना उत्पन्न हो गई है, जिससे जिज्ञासा में शिथिलता आ गई है। यद्यपि जानने की लालसा नष्ट नहीं हुई परन्तु वह वर्तमान जीवन की वस्तु नहीं रह गई है। व्यक्ति को कामना-पूर्ति जैसे वर्तमान की वस्तु प्रतीत होती है वैसे ही जिज्ञासा की पूर्ति भी वर्तमान की वस्तु नहीं प्रतीत होती। इस प्रमाद ने ही जिज्ञासा में शिथिलता उत्पन्न कर दी है। यद्यपि कामना-पूर्ति वर्तमान की वस्तु नहीं है, उसके लिए श्रम तथा अप्राप्त वस्तु अपेक्षित रहती है किन्तु जिज्ञासा-पूर्ति तो किसी वस्तु-विशेष पर निर्भर नहीं है, इतना ही नहीं, प्राप्त वस्तुओं की भी जिज्ञासा-पूर्ति में अपेक्षा नहीं है। जिज्ञासा-पूर्ति तो एकमात्र सन्देह की वेदना असह्य हो जाने पर ही निर्भर है; अथवा यों कहो कि जब साधक वास्तविकता को बिना जाने किसी प्रकार भी नहीं रह सकता, बस उसी काल में जिज्ञासा स्वतः पूरी हो जाती है। सन्देह रहते हुए चैन से रहना प्रमाद है। सन्देह की निवृत्ति अवश्य हो सकती है। उससे निराश होना साधक की असावधानी है, जिसका उसके जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। जिज्ञासु ज्यों-ज्यों जाने हुए में दृढ़ होता जाता है त्यों-त्यों जिज्ञासा-पूर्ति की योग्यता स्वतः आती जाती है। इस दृष्टि से जाने हुए में दृढ़ रहना ही जिज्ञासा-पूर्ति की सहज साधना है। जाना हुआ दृढ़ तभी होता है जब उसका प्रभाव साधक पर हो जाय।

जो वस्तुएँ इन्द्रिय तथा बुद्धि-द्वारा प्रतीत होती हैं उन वस्तुओं के

वास्तविक स्वरूप को विना जाने उन पर विश्वास करना सन्देह को सहन करने का स्वभाव वना लेना है, जो जिज्ञासा-पूर्त्ति में सवसे भयंकर विघ्न है। जिस वस्तु को इन्द्रिय-द्वारा जानते हो उसी वस्तु को वुद्धि के द्वारा भी जानो। ऐसा करते ही वस्तुओं की स्थिति सुरक्षित न रहेगी, जिसके न रहने से प्राप्त वस्तुओं की ममता और अप्राप्त वस्तुओं की कामना मिट जायगी, जिसके मिटते ही जिज्ञासा की पूर्त्ति हो जायगी और फिर स्वतः निस्सन्देहता उदित होगी जो साधक को वस्तुओं से अतीत के जीवन से अभिन्न कर देगी। निस्सन्देहता के साम्राज्य में पराधीनता नहीं है। और न जड़ता है। इसी कारण सन्देहरहित होने में जो जीवन है वह जीवन वस्तुओं की दासता में नहीं है। वस्तुओं की दासता का अन्त होते ही चित्त स्वतः शुद्ध हो जाता है।

वस्तुओं के विश्वास ने उसके विश्वास का अपहरण कर लिया है जिससे समस्त वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं और जिसमें विलीन होती हैं एवं जिससे सभी वस्तुएँ सत्ता पाती हैं और प्रकाशित होती हैं। यदि साधक विवेकपूर्वक वस्तुओं की वास्तविकता को जानकर उनके विश्वास से मुक्त हो जाय तो वड़ी ही सुगमतापूर्वक उन पर विश्वास हो जाता है जिनसे सभी को सव कुछ मिला है; अथवा यों कहो कि जो सभी में हैं और सभी से अतीत हैं। यह नियम है कि जिस पर व्यक्ति विश्वास कर लेता है उससे सम्वन्ध हो जाता है। जिससे सम्वन्ध हो जाता है उसकी स्मृति उदित होती है जो प्रीति होकर उससे अभिन्न हो जाती है जिसकी वह प्रीति है, कारण कि प्रीति भेद तथा भिन्नता को खा लेती है।

वस्तुओं के विश्वास ने ही वस्तुओं से तद्रूपता तथा सम्वन्ध उत्पन्न कर दिया है जिससे वेचारा प्राणी प्राप्त वस्तुओं की दासता और अप्राप्त वस्तुओं की कामना में आवद्ध हो गया है, जिसके होने

से चित्त में अशुद्धि आ गई है। अतः वस्तुओं से अतीत के जीवन की जिज्ञासा तथा उसमें स्थिति एवं उसका प्रेम प्राप्त करने के लिए साधक को सर्वदा तत्पर रहना चाहिए, कारण कि उसके बिना चित्त शुद्ध नहीं हो सकता और चित्त की शुद्धि के बिना शान्ति, सामर्थ्य, स्वाधीनता एवं अगाध-अनन्त रस की उपलब्धि नहीं हो सकती।

२-६-५६

: ३१ :

मेरे निज स्वरूप परमप्रिय,

व्यक्ति अपने सम्बन्ध में क्या जानता है और क्या मानता है इसका विकल्प-रहित निर्णय न होने से ही चित्त अशुद्ध हो जाता है। अतः अपने सम्बन्ध में व्यक्ति को निस्सन्देह होने के लिए वर्तमान में ही तत्पर होना चाहिए, क्योंकि यह समस्या ऐसी नहीं है जिसके लिये भविष्य की आशा की जाय। इस समस्या के विना हल हुए कोई भी समस्या हल नहीं हो सकती; क्योंकि जो अपने ही सम्बन्ध में सन्देहयुक्त है वह किसी और के सम्बन्ध में क्या जान जकता है ?

यह नियम है कि अपने सम्बन्ध में निस्सन्देह होने पर ही साधक अपने कर्त्तव्य और लक्ष्य के सम्बन्ध में निस्सन्देह हो सकता है; क्योंकि अपने में ही अपना कर्त्तव्य तथा अपना लक्ष्य विद्यमान है। अपने को देह मानकर कोई भी संकल्प-अपूर्ति के दुःख और पूर्ति के सुख से मुक्त नहीं हो सकता, और अपने को देह से अलग जानकर बड़ी ही सुगमतापूर्वक चिरशान्ति में निवास कर सकता है। जिसे सुख और दुःख में ही आवद्ध रहना है, वह अपने को देह से अलग अनुभव नहीं कर सकता और जिसे सुख-दुःख से मुक्त होना है वह अपने को देह में आवद्ध नहीं रख सकता।

अपनी आवश्यकता के अनुसार व्यक्ति अपने को किसी मान्यता में बाँध लेता है। इस दृष्टि से आवश्यकता के ज्ञान में भी अपना ज्ञान निहित है। आवश्यकता उसे नहीं समझना चाहिए जिसकी निवृत्ति सम्भव हो। आवश्यकता वही है जिसकी पूर्ति अनिवार्य है। आवकश्यता की पुनरावृत्ति भी नहीं होती। इसी कारण आवश्कता का त्याग नहीं हो सकता। जिसका त्याग नहीं हो सकता उसकी प्राप्ति स्वाभाविक है। जिसकी प्राप्ति स्वाभाविक है उसी में वास्तविक जीवन है और वही अपना लक्ष्य है। यद्यपि आवश्यकता में सत्ता उसी की होती है जिसकी वह आवश्यता है परन्तु आवश्यकता के अपूर्ति-काल में यह रहस्य स्पष्ट नहीं होता, प्रत्युत ऐसा प्रतीत होता है कि जिसको आवश्यकता है, और जिसकी आवश्यकता है, इन दोनों में भिन्नता है। जिसमें आवश्यकता है, वह अपने में अभाव अनुभव करता है, और जिसकी आवश्यकता है उसमें पूर्णता स्वीकार करता है। इस दृष्टि से पूर्णता की आवश्यकता ही आवश्यकता का स्वरूप है। परन्तु जब पूर्णता की लालसा को वस्तुओं की कामनाओं से आच्छादित कर दिया जाता है तब व्यक्ति अपने में अनेक मान्यताओं को स्वीकार करता है और प्रत्येक मान्यता के अनुसार अपने कर्त्तव्य का निर्णय करता है।

व्यक्ति एक और मान्यताएँ अनेक हो जाने से अपने सम्बन्ध में बेचारा व्यक्ति विकल्प-रहित निर्णय नहीं कर पाता। उसका परिणाम यह होता है कि कामनाओं की पूर्ति-अपूर्ति के सुख-दुःख में आबद्ध रहता है, और वास्तविक आवश्यकता की पूर्ति का प्रश्न वर्तमान जीवन से सम्बन्धित नहीं रहता। जो समस्या वर्तमान जीवन से सम्बन्धित नहीं रहती उसके लिए व्यक्ति व्याकुल नहीं होता। जिसके लिए व्याकुलता नहीं होती उसके लिए अपना

सर्वस्व समर्पित नहीं होता; अथवा यों कहो कि व्यक्ति उसे सब कुछ देकर नहीं प्राप्त करता। समस्त मान्यताओं के मूल में अपना अस्तित्व क्या है, इसको जाने विना कामनाओं का अन्त नहीं हो सकता और कामना-निवृत्ति के विना आवश्यकता की पूर्ति नहीं हो सकती। आवश्यकता की पूर्ति के विना अभाव का अभाव नहीं हो सकता।

कामना-पूर्ति-अपूर्ति में जीवन-बुद्धि स्वीकार करना अपने को देह मान लेना है। अपने को देह मानकर कोई भी व्यक्ति स्वाधीन नहीं हो सकता और पराधीनता किसी भी व्यक्ति को स्वभाव से प्रिय नहीं है। स्वभाव से अप्रियता उसी में होती है, जिसमें स्वरूप से भिन्नता हो। इस दृष्टि से अपने को देह मानने में अपनी अनुभूति का विरोध है। जिस मान्यता के सम्बन्ध में निज अनुभूति का विरोध हो उस मान्यता को स्वीकार करना कभी भी विकल्प-रहित नहीं हो सकता। जो मान्यता विकल्प-रहित नहीं है उसका त्याग करना अनिवार्य है।

अपने को देह न मानने पर सभी कामनाएँ निवृत्त हो जाती हैं, जिनके निवृत्त होते ही सुख-दुःख का बन्धन टूट जाता है और चिर-शान्ति स्वतः प्राप्त हो जाती है। परन्तु जो साधक शान्ति में रमण करने लगता है उसकी शान्ति सुरक्षित नहीं रहती, जिसके न रहने से साधक उसी स्थिति में आ जाता है जो अभाव-रूप थी। इस दृष्टि से शान्ति में भी जीवन-बुद्धि स्वीकार करना विकल्प-रहित नहीं है।

शान्ति में जीवन-बुद्धि न रहने पर शान्ति में रमण रुचिकर नहीं रहता, क्योंकि प्राणी की स्वाभाविक आवश्यकता जीवन की है। शान्ति से अरुचि होते ही शान्ति से अतीत के जीवन में प्रवेश होता है, जिसमें पराधीनता नहीं है। अतः स्वाधीनता में जीवन-

बुद्धि स्वीकार कर पराधीनता का अंत करने के लिए सर्वदा तत्पर रहना चाहिए। सुख-दुःख तथा शान्ति से अतीत के जीवन की लालसा साधक को संकल्प की उत्पत्तिपूर्ति और निवृत्ति से असंग कर देती है।

स्वाधीनता की आवश्यकता मिटाई नहीं जा सकती, अतः उसकी पूर्त्ति अनिवार्य है। अब विचार यह करना है कि स्वाधीनता की आवश्यकता किसमें है। स्वाधीनता की आवश्यकता उसी में हो सकती है जो पराधीनता से दुखी है। पराधीनता से दुखी वही है जिसने देह से तादात्म्य-भाव स्वीकार किया है। जिसने देह से तादात्म्य-भाव स्वीकार किया है, वह किसी भी काल में देह नहीं हो सकता। अतः अपने को देह मानना युक्ति-युक्त नहीं है। देह से तादात्म्य-भाव न रहने पर अपना अस्तित्व क्या है, इस सम्बन्ध में कुछ भी कहना बनता नहीं, क्योंकि जो कुछ कहा जायगा वह देह के द्वारा ही कहा जायगा। देह के द्वारा जो कुछ कहा जायगा, उसमें किसी-न-किसी अंश में देह का प्रभाव आ जायगा। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि जिसका वर्णन नहीं हो सकता उसका अस्तित्व नहीं है। वर्णन भले ही न हो पर उसकी प्राप्ति हो सकती है।

देह से तादात्म्य कब किसने स्वीकार किया था, इसका ज्ञान सम्भव नहीं है, परन्तु देह से तादात्म्य मिटते ही वह जो पराधीनता से दुखी था, स्वाधीनता से अभिन्न हो जाता है; अथवा यों कहो कि वह उसका योग, बोध तथा प्रेम हो जाता है जो अनन्त है। इस दृष्टि से व्यक्ति का अस्तित्व अनन्त के योग, बोध, प्रेम की लालसा से भिन्न कुछ नहीं है।

योग, बोध तथा प्रेम की अप्राप्ति-काल में ही उनकी लालसा प्रतीत होती है और उस लालसा के आधार पर ही व्यक्तित्व का भास होता है। लालसा के पूर्त्ति-काल में व्यक्ति का स्वतंत्र अस्तित्व

शेष नहीं रहता, और न उसकी प्रतीति ही होती है। इस दृष्टि से अपने अस्तित्व के सम्बन्ध में वास्तविक जीवन की लालसा के अतिरिक्त कुछ नहीं कह सकते। परन्तु यह रहस्य तभी खुलता है जब लालसा की पूर्त्ति हो, और लालसा की पूर्त्ति तभी हो सकती है जब वस्तु-व्यक्ति आदि की कामनाओं की निवृत्ति हो। वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति आदि की कामना के आधार पर व्यक्ति अपने में देह-बुद्धि स्वीकार करता है। कामना-पूर्त्ति के प्रलोभन का नाश होते ही देह से स्वतः सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है; अथवा यों कहो कि समस्त कामनाएँ गलकर वास्तविक लालसा के स्व-रूप में परिवर्तित हो जाती हैं, जिसके होते ही भोग योग में और अविवेक बोध में तथा आसक्ति प्रेम में बदल जाती है; अथवा यों कहो कि योग, बोध एवं प्रेम की प्राप्ति हो जाती है। योग, बोध एवं प्रेम की प्राप्ति किसको होती है, इसके सम्बन्ध में यही कह सकते हैं कि भोग, अविवेक और आसक्ति में जो आबद्ध था उसी को योग, बोध तथा प्रेम की प्राप्ति हुई। भोक्ता में से भोग की रुचि और भोग की प्रवृत्ति का विभाजन करके भोक्ता के अस्तित्व का ज्ञान नहीं होता। उसी प्रकार अविवेकी में से अविवेक और आसक्त में से आसक्ति विभाजित करके उनके अस्तित्व का ज्ञान नहीं होता। इतना ही नहीं, जिसमें भोक्ता का आरोप है उसी में अविवेक और आसक्ति का आरोप है, अर्थात् भोक्ता को ही अविवेकी और आसक्त कह सकते हैं। भोक्ता कोई और हो, और अविवेकी तथा आसक्त कोई और हो ऐसा सम्भव नहीं है। जो भोक्ता है वही कर्त्ता भी है, क्योंकि भोक्तृत्व किसी और में हो और कर्तृत्व किसी और में हो, यह भी युक्ति-युक्त नहीं है। जो अपने को भोक्ता तथा कर्त्ता मानता है, उसी में भोग के दुःखद परिणाम के कारण जिज्ञासा तथा लालसा उत्पन्न होती है। इस दृष्टि से जो कर्त्ता, भोक्ता था वही अपने को जिज्ञासु

और योग, बोध तथा प्रेम का अभिलाषी मानता है। भोग की रुचि का नाश करने के लिए जो लालसा जागृत होती है, वही लालसा अविवेक तथा आसक्ति का भी नाश करती है क्योंकि भोग की रुचि का नाश होते ही अविवेक तथा आसक्ति का नाश स्वतः हो जाता है।

वस्तु, व्यक्ति आदि के द्वारा सुख की आशा से भोग की रुचि पुष्ट होती है। वस्तुओं के स्वरूप का ज्ञान ज्यों-ज्यों सबल तथा स्थायी होता जाता है त्यों-त्यों वस्तु, व्यक्ति आदि के द्वारा सुख की आशा का त्याग स्वतः होता जाता है, जिस काल में वस्तुओं की वास्तविकता का बोध हो जाता है। उसी काल में उनके द्वारा सुख की आशा का सर्वांश में नाश हो जाता है, जिसके होते ही समस्त वस्तुओं से स्वतः विमुखता हो जाती है। वस्तुओं की विमुखता में ही अनन्त की सम्मुखता निहित है।

समस्त सृष्टि को वस्तु के ही अर्थ में लेना चाहिए क्योंकि इन्द्रिय-ज्ञान से भले ही वस्तुएँ भिन्न-भिन्न प्रतीत होती हों पर बुद्धि के ज्ञान से समस्त वस्तुएँ एक हैं; और बुद्धि से अतीत के ज्ञान में वस्तुओं का अभाव है अथवा यों कहो कि इन्द्रिय-ज्ञान से अनेक वस्तुएँ सत्य प्रतीत होती हैं और बुद्धि-ज्ञान से अनेक वस्तुओं में एकता और परिवर्तन प्रतीत होता है। बुद्धि से अतीत के ज्ञान में समस्त वस्तुएँ अभाव रूप हैं।

संकल्प-पूर्ति में ही जीवन-बुद्धि स्वीकार करने पर कोई भी व्यक्ति जड़ता, पराधीनता, शक्तिहीनता आदि दुःखों से नहीं बच सकता और न अपने को देह से भिन्न अनुभव कर सकता है; अथवा यों कहो कि अपने में से देहभाव का त्याग नहीं कर सकता। संकल्प-पूर्ति के जीवन ने ही देह से तादात्म्य दृढ़ किया है। इसी कारण बेचारा साधक संकल्प-पूर्ति के सुख में आबद्ध अपने को देहाभिमान

से रहित नहीं कर पाता। इस जड़ता के जीवन से ऊपर उठने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि प्राप्त वस्तु, योग्यता और सामर्थ्य का सद्व्यय दुखियों की संकल्प-पूर्ति में हो। ऐसा करने से चित्त करुणित होगा। करुणित होने से जड़ता कोमलता में परिवर्तित हो जायगी और सुख-भोग की रुचि स्वतः मिट जाएगी, जिसके मिटते ही सभी का दुःख अपना और अपना सुख सभी का हो जायगा। ऐसा होते ही प्राप्त वस्तुओं की ममता और अप्राप्त वस्तुओं का चिन्तन मिट जाएगा, जिसके मिटते ही वस्तुओं से असंगता हो जायगी जो सभी दोषों का अन्त करने में समर्थ है। दोषों के अन्त में ही निर्दोषता की उपलब्धि स्वतः सिद्ध है। निर्दोषता की प्राप्ति में ही भोग योग में स्वतः बदल जाता है। योग शान्ति तथा सामर्थ्य का प्रतीक है। सामर्थ्य में ही स्वाधीनता और स्वाधीनता में ही नित्य जीवन तथा प्रेम निहित है। सुख के त्याग में शान्ति की प्राप्ति और शान्ति में ही सामर्थ्य का उदय होता है। सामर्थ्य के सद्व्यय में स्वाधीनता प्राप्त होती है; और स्वाधीनता में सन्तुष्ट न होने पर प्रेम की प्राप्ति होती है अथवा यों कहो कि संकल्प-पूर्ति की दासता से मुक्त होने पर शान्ति, शान्ति में रमण न करने से स्वाधीनता और स्वाधीनता के समर्पण में परम प्रेम का उदय है, जो नित नव रस प्रदान करने में समर्थ है। इस दृष्टि से अपने सम्बन्ध में विकल्परहित निर्णय यही हो सकता है कि व्यक्ति अपने को वास्तविकता का जिज्ञासु, अथवा अनन्त का प्रेमी स्वीकार करे अपने को जिज्ञासु तथा प्रेमी स्वीकार करते ही चित्त स्वतः शुद्ध हो जाता है क्योंकि जिज्ञासु तथा प्रेमी की मान्यता में देहाभिमान तथा वस्तु, व्यक्ति आदि की दासता शेष नहीं रहती, जो चित्त की शुद्धि में समर्थ है।

३-६-५६

: ३३ :

मेरे निज स्वरूप परमप्रिय,

जव व्यक्ति प्राप्त वस्तु, सामर्थ्य तथा योग्यता का उपयोग अपनी स्वाभाविक आवश्यकता की पूर्ति में न करके अस्वाभाविक इच्छाओं की प्रवृत्ति में करने लगता है तव चित्त अशुद्ध हो जाता है। स्वाभाविक आवश्यकता के रहते हुए अस्वाभाविक इच्छाओं की उत्पत्ति ही क्यों होती है? उसका एक-मात्र कारण यह है कि व्यक्ति प्राप्त वस्तु, सामर्थ्य तथा योग्यता में ही जीवन-वुद्धि स्वीकार कर लेता है। वस्तु, सामर्थ्य तथा योग्यता में ही जीवन-वुद्धि स्वीकार करते ही देहाभिमान उत्पन्न हो जाता है। देह में अहम्-वुद्धि दृढ़ होते ही अस्वाभाविक इच्छाएँ उत्पन्न होती हैं जो वेचारे प्राणी को वस्तु, अवस्था, परिस्थिति आदि में आवद्ध कर देती हैं। स्वाभाविक आवश्यकता अथवा अस्वाभाविक इच्छाओं में एक वड़ा अन्तर यह है कि अस्वाभाविक इच्छाओं के अनुरूप प्रवृत्ति होती है पर प्राप्ति कुछ नहीं होती, क्योंकि अनेक वार इच्छाओं की पूर्ति के लिए प्रवृत्त होने पर भी परिणाम में अभाव ही शेष रहता है। परन्तु स्वाभाविक आवश्यकता की पूर्ति होने पर सामर्थ्य, स्वाधीनता एवं रसरूप अनन्त नित्य जीवन की प्राप्ति होती है। इतना ही नहीं, अस्वाभाविक इच्छाओं की प्रवृत्ति के लिए किसी न किसी वस्तु, व्यक्ति आदि की अपेक्षा होती है, किन्तु

स्वाभाविक आवश्यकता-पूर्ति के लिए किसी भी वस्तु-व्यक्ति की अपेक्षा नहीं होती। अपितु प्राप्त वस्तु, सामर्थ्य तथा योग्यता का सद्व्यय केवल सर्वहितकारी प्रवृत्ति में ही होता है। इस दृष्टि से प्राप्त-अप्राप्त वस्तु, सामर्थ्य, योग्यता की अपेक्षा स्वाभाविक आवश्यकता की पूर्ति में नहीं है। हाँ, यह अवश्य है कि प्राप्त वस्तु, सामर्थ्य तथा योग्यता के अभिमान तथा संग्रह से रहित होने के लिए उनका सद्व्यय करना अनिवार्य होता है। यही प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग है। प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग साधन-रूप है। साधन में साध्य-बुद्धि स्वीकार करना प्रमाद है। साधन-सामग्री साधन के लिए अभीष्ट है पर उसमें जीवन-बुद्धि मान लेना साध्य से विमुख होना है; अथवा यों कहो कि स्वाभाविक आवश्यकता की पूर्ति से वंचित होना और अस्वाभाविक इच्छाओं में आबद्ध हो जाना है, जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है।

स्वाभाविक आवश्यकता की पूर्ति किसी परिस्थिति में निहित नहीं है। उसके लिए किसी परिस्थिति का चित्रण करना आवश्यकता को इच्छाओं का रूप देना है। आवश्यकता एक है और इच्छाएँ अनेक। आवश्यकता उसी की है जिसकी स्वतंत्र सत्ता है, और इच्छाएँ उसकी हैं जिसमें सतत परिवर्तन तथा अभाव है। स्वाभाविक आवश्यकता तथा इच्छाओं का भेद जान लेने पर इच्छाओं की निवृत्ति और आवश्यकता-पूर्ति की उत्कट लालसा जागृत होती है। आवश्यकता-पूर्ति की लालसा ज्यों-ज्यों सबल तथा स्थायी होती जाती है त्यों-त्यों अस्वाभाविक इच्छाएँ स्वतः निर्जीव होती जाती हैं; अथवा यों कहो कि स्वाभाविक आवश्यकताओं की जागृति अस्वाभाविक इच्छाओं को खा लेती है।

प्राकृतिक नियम के अनुसार जिन इच्छाओं में प्रवृत्त होना अनिवार्य है उनकी प्रवृत्ति के लिए परिस्थिति स्वतः प्राप्त होती है

और जिन इच्छाओं की प्रवृत्ति अनावश्यक है उनके लिए परिस्थिति प्राप्त नहीं होती। इस रहस्य को न जानने के कारण बेचारा प्राणी अप्राप्त परिस्थिति का चिन्तन करने लगता है।

यद्यपि चिन्तन मात्र से परिस्थिति प्राप्त तो नहीं हो जाती, परंतु अप्राप्त परिस्थिति की आसक्ति अथवा रुचि दृढ़ होती है। जिसकी प्राप्ति सम्भव न हो और उसकी रुचि उत्पन्न हो जाय, उसका परिणाम यह होता है कि बेचारा प्राणी विवशता में आवद्ध होकर कभी तो अप्राप्त परिस्थिति का चिन्तन करता है और कभी उसे निरर्थक मानकर झूठा सन्तोष करता है। इस द्वन्द्वात्मक स्थिति से चित्त अशुद्ध हो जाता है।

चित्त के अशुद्ध हो जाने पर जो जानना चाहिए उसकी जिज्ञासा सबल नहीं होती और जो मानना चाहिए उस पर विकल्प-रहित विश्वास नहीं होता। परिस्थितियों के स्वरूप को यथावत् जाने बिना परिस्थितियों की दासता नष्ट नहीं होती, और सभी परिस्थितियों से अतीत जो वास्तविक जीवन है, उसको माने बिना उस पर विश्वास तथा उससे नित्य सम्बन्ध नहीं होता। परिस्थितियों की दासता का अंत होने पर ही अप्राप्त परिस्थिति की रुचि का नाश होता है और परिस्थितियों से अतीत के जीवन में विकल्प-रहित विश्वास होने से ही उस जीवन की स्मृति का उदय होती है।

समस्त परिस्थतियों की अभिरुचि का नाश और परिस्थितियों से अतीत के जीवन की स्मृति समस्त अस्वाभाविक इच्छाओं को खा लेती है जिससे चित्त शुद्ध हो जाता है।

प्राप्त-अप्राप्त परिस्थितियों में निरर्थकता का दर्शन दो प्रकार से होता है, एक तो परिस्थितियों के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान होने से और दूसरा रुचिकर परिस्थिति की अप्राप्ति के क्षोभ से। रुचिकर परिस्थिति की अप्राप्ति के क्षोभ से परिस्थिति में जो निरर्थकता का

भास होता है, वह परिस्थितियों की दासता से मुक्त नहीं कर पाता, अपितु ऊपर से तो परिस्थिति की अरुचि का अपने में आरोप कर लेता है और भीतर परिस्थिति की दासता ज्यों की त्यों बनी रहती है। इस भयंकर स्थिति में बेचारे साधक के चित्त की बड़ी ही दीन दशा हो जाती है, जो मिथ्या अहंकार को जन्म देकर उस बेचारे को अस्त-व्यस्त कर देती है। उसका परिणाम यह होता है कि जो स्वतः होना चाहिए वह होता नहीं, और जो हो ही नहीं सकता उसके करने की सोचता रहता है, जिससे प्राप्त वस्तु, सामर्थ्य तथा योग्यता का ह्रास होता है, जिससे प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग नहीं कर पाता, जिसके बिना किए विद्यमान राग की निवृत्ति नहीं होती प्रत्युत अप्राप्त परिस्थिति के चिन्तन से नवीन राग की उत्पत्ति हो जाती है, जिससे चित्त अशुद्ध ही होता है।

यद्यपि प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग विद्यमान राग की निवृत्ति का साधन है, और अप्राप्त परिस्थिति के चिन्तन का त्याग होने पर नवीन राग की उत्पत्ति नहीं होती, परन्तु बेचारा साधक परिस्थिति के स्वरूप को जाने बिना राग-रहित नहीं हो पाता। राग-रहित हुए बिना परिस्थितियों से अतीत के जीवन की प्राप्ति नहीं होती।

परिस्थितियों के स्वरूप के यथार्थ ज्ञान से परिस्थितियों में जो निरर्थकता ज्ञात होती है उससे परिस्थितियों में जीवन-बुद्धि नहीं रहती, जिसके न रहने पर प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग का सामर्थ्य आ जाता है, और अप्राप्त परिस्थिति का आवाहन नहीं होता। प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग परिस्थिति से असंग करने में समर्थ है, और अप्राप्त परिस्थितियों के चिन्तन का त्याग किसी भी परिस्थिति से सम्बन्ध नहीं होने देता, अर्थात् परिस्थिति की

असंगता सुरक्षित रहती है, जिससे सभी परिस्थितियों से विमुखता दृढ़ हो जाती है, जो परिस्थितियों से अतीत के जीवन से अभिन्न कर देती है।

जिस ज्ञान से परिस्थितियों के स्वरूप का बोध होता है वह ज्ञान क्या किसी परिस्थिति का ही परिणाम है? अथवा परिस्थिति किसी ज्ञान की अभिव्यक्ति है? अथवा यों कहो कि क्या जड़ता से चेतन की उत्पत्ति हुई है? अथवा जड़ता चेतन की ही एक अभिव्यक्ति है? इन दोनों मान्यताओं में से जिस साधक को जो मान्यता मान्य हो वह उसी को भले ही माने पर यह तो दोनों ही को मान्य होगा कि साधक को जड़ता से चेतना की ओर अग्रसर होना है। यदि चेतना को जड़ता का परिणाम कोई माने तो भी यह तो मानना ही होगा कि चेतन को जड़ की ओर गतिशील नहीं होना चाहिए क्योंकि चेतन का जड़ की ओर गतिशील होना विकास से ह्रास की ओर जाना है, जो किसी को भी अभीष्ट नहीं है। यदि जड़ता को चेतन की ही अभिव्यक्ति मान लिया जाय तब भी जड़ता का अभाव स्वीकार कर चेतन से ही अभिन्न होना अभीष्ट होगा। उपर्युक्त दोनों मान्यताओं में से किसी भी मान्यता का यह मत नहीं हो सकता कि चेतनता से जड़ता की ओर जाना चाहिए। जड़ता से सम्बन्ध-विच्छेद करना अथवा जड़ता के अस्तित्व को ही स्वीकार न करना दार्शनिक भेद हो सकता है पर चिन्मय जीवन से अभिन्न होने में दोनों ही दार्शनिक दृष्टियाँ समर्थक हैं; विरोधी नहीं। प्रत्येक दार्शनिक दृष्टि का सद्व्यय जिस जीवन से अभिन्न करता है वह जीवन एक है। दर्शन में भेद होने से साधन में भेद हो सकता है, पर वास्तविक लक्ष्य में भेद नहीं हो सकता। इस दृष्टि से परिस्थितियों की अभिरुचि का त्याग प्रत्येक साधक को अभीष्ट होगा, क्योंकि सभी साधकों की स्वा-

भाविक आवश्यकता एक है। अप्राप्त परिस्थिति की अभिरुचि और परिस्थितियों में निरर्थकता के दर्शन का द्वन्द्व तभी मिट सकता है जब प्राप्त परिस्थिति का आदरपूर्वक सदुपयोग हो, और अप्राप्त परिस्थिति की रुचि का नाश हो तथा परिस्थितियों से अतीत के जीवन में विश्वास हो, क्योंकि परिस्थितियों से अतीत के जीवन का विश्वास परिस्थितियों की दासता से मुक्त करने में समर्थ है। प्रत्येक परिस्थिति उस अनन्त की देन तथा प्राकृतिक न्याय है। प्राकृतिक न्याय में प्राणी का हित निहित है। इस मान्यता से प्रत्येक परिस्थिति में समान बुद्धि हो जायगी जो परिस्थितियों के सदुपयोग की प्रेरणा देने में समर्थ है।

परिस्थिति का सदुपयोग बड़ी ही सावधानीपूर्वक, पवित्र भाव से, पूरी शक्ति लगाकर स्वाभाविक आवश्यकता पर दृष्टि रखकर, करना चाहिए। परिस्थिति-जन्य सुख-दुःख में आबद्ध नहीं होना चाहिए और परिस्थिति की अपूर्णता तथा परिवर्तन के ज्ञान का आदर करना चाहिए। प्राप्त परिस्थिति की ममता और अप्राप्त परिस्थिति की अभिरुचि के त्याग में ही चित्त की शुद्धि निहित है।

स्वाभाविक आवश्यकता किसी परिस्थिति की नहीं है, अपितु सभी परिस्थितियों से अतीत के जीवन की है; क्योंकि ऐसी कोई परिस्थिति है ही नहीं जिससे सामर्थ्य, स्वाधीनता एवं नित नूतन रस तथा अनन्त नित्य चिन्मय जीवन की प्राप्ति हो। परिस्थिति तो केवल राग-निवृत्ति का साधन-मात्र है। स्वाभाविक आवश्यकता वर्त्तमान जीवन की वस्तु है। उससे निराश होना साधक की भूल है। इस भूल का अन्त करना अनिवार्य है। स्वाभाविक आवश्यकता ज्यों-ज्यों सबल तथा स्थायी होती जाती है त्यों-त्यों परिस्थिति जनित खिन्नता स्वतः मिटती जाती है। खिन्नता का

अन्त होते ही अप्राप्त परिस्थिति की अभिरुचि स्वतः मिट जाती है, क्योंकि खिन्नता की भूमि में ही काम की उत्पत्ति होती है और काम की उत्पत्ति ही अस्वाभाविक इच्छाओं को जन्म देती है। स्वाभाविक आवश्यकता की शिथिलता में ही अस्वाभाविक इच्छाएँ स्वाभाविक प्रतीत होती हैं। इसी कारण इच्छाओं की पूर्ति-अपूर्ति के सुख-दुःख में प्राणी आबद्ध हो जाता है, जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है।

प्रत्येक परिस्थिति भौतिक दृष्टि से कर्म का परिणाम तथा प्राकृतिक न्याय, अध्यात्म-दृष्टि से माया-मात्र और आस्तिक दृष्टि से उस अनन्त की ही अभिव्यक्ति है। प्राकृकिक न्याय में प्राणी का हित निहित है। इस कारण उसका आदर किया जाय, किन्तु उसमें जीवन-बुद्धि की स्थापना न की जाय, क्योंकि न्याय उद्देश्य की पूर्ति में साधनरूप होता है, उसमें जीवन नहीं है। जो माया-मात्र है, उसमें मिथ्या बुद्धि होते ही उसकी सत्यता मिट जाती है, जिसके मिटते ही वास्तविकता का बोध हो जाता है। इस दृष्टि से भी परिस्थिति जीवन नहीं है।

अनन्त की अभिव्यक्ति अनन्त से भिन्न नहीं है। इस दृष्टि से भी परिस्थिति का कोई अपना स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं सिद्ध होता, प्रत्युत वह जिसकी अभिव्यक्ति है, उसमें उसी की सत्ता है अथवा वही है। उपर्युक्त तीनों दृष्टियों से परिस्थिति-मात्र में ही जीवन-बुद्धि रखना प्रमाद के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। चित्त की शुद्धि भौतिक दृष्टि से परिस्थिति के सदुपयोग में, अध्यात्म दृष्टि से परिस्थितियों के अभाव में, और आस्तिक दृष्टि से परिस्थितियों के द्वारा प्रेमास्पद की पूजा में निहित है।

४-६-५६

: ३४ :

मेरे निज स्वरूप परमप्रिय,

यदि व्यक्ति अपने दोष और दुःख से भली भाँति परिचित हो जाय, अर्थात् उसे अपने दोष और दुःख का यथावत् ज्ञान हो जाय, अथवा साधक को अपने साधन तथा साध्य में विकल्प-रहित विश्वास हो जाय तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक उसका चित्त शुद्ध हो जाता है, कारण कि चित्त की अशुद्धि एक मात्र अपने दुःख और दोष के सम्बन्ध में यथेष्ट ज्ञान तथा साधन और साध्य में विकल्प रहित विश्वास न होने में ही है। अतः निज विवेक के प्रकाश में अपने दुःख और दोष को जानना अनिवार्य है जिसे वह स्वयं जान सकता है। दुःख का स्पष्ट ज्ञान होने पर ही उसकी निवृत्ति की उत्कट अभिलाषा जागृत होती है, और दोष के ज्ञान में ही निर्दोषता की आवश्यकता निहित है। इस दृष्टि से दुःख तथा दोष का ज्ञान ही व्यक्ति के विकास का मूल है।

ऐसा कोई दोष है ही नहीं जिसके मूल में कामना-उत्पत्ति न हो, और ऐसा कोई दुःख है ही नहीं जिसके मूल में कामना-अपूर्ति न हो। कामना-उत्पत्ति और अपूर्ति ही दोष तथा दुःख है जो वास्तव में अविवेक-सिद्ध है। प्राप्त विवेक के आदर से अविवेक की निवृत्ति वर्तमान में हो सकती है, कारण कि विवेक के अनादर के अतिरिक्त अविवेक कोई वस्तु ही नहीं है। विवेक का

अनादर किसी और का बनाया हुआ दोष नहीं है, उसे व्यक्ति ने स्वयं ही अपनाया है। इस कारण उसके त्याग का दायित्व उसी पर है। अपने अपनाए हुए दोष के त्याग में ही व्यक्ति का पुरुषार्थ निहित है। यह नियम है कि पुरुषार्थ की पूर्णता में ही कर्त्तव्य की समाप्ति है, और कर्त्तव्य की समाप्ति में सफलता स्वतः सिद्ध है।

विवेक प्रत्येक साधक को स्वतः प्राप्त है। उसके उपयोग-मात्र में ही प्राणी का पुरुषार्थ है। विवेक किसी कर्म का फल नहीं है क्योंकि कर्म-अनुष्ठान से पूर्व कर्म की सामग्री विना किसी कर्म के ही प्राप्त होती है, यह प्राकृतिक नियम है। ऐसा कोई कर्म हो ही नहीं सकता जिसकी सिद्धि ज्ञान, सामर्थ्य तथा वस्तुओं के विना सम्भव हो। प्रत्येक परिवर्तनशील परिस्थिति भले ही कर्म का परिणाम हो, परन्तु कर्म की मूल सामग्री किसी कर्म का परिणाम नहीं हो सकती। वह तो किसी की देन है, अथवा यों कहो कि स्वतः प्राप्त है। इस दृष्टि से समस्त ज्ञान, सामर्थ्य और वस्तु व्यक्तिगत नहीं है। जिसको जितना प्राप्त है उसके सद्व्यय में ही व्यक्ति का अधिकार है और वही उसका साधन है।

ज्ञान, सामर्थ्य और वस्तुएँ असीम हैं, उनकी गणना तथा सीमा नहीं हो सकती। व्यक्ति उनकी खोज भले कर सके पर उन्हें उत्पन्न नहीं कर सकता। यह नियम है कि खोज उसी की होती है जो है। इस दृष्टि से विज्ञान विज्ञानवेत्ता की, दर्शन दर्शनकार की और कला कलाकार की खोज है, उपज नहीं। जिस प्रकार दाना भूमि से मिलकर अपने स्वभावानुसार विकास पाता है उसी प्रकार व्यक्ति अन्तर्मुख होकर अपनी रुचि के अनुसार विकास पाता है।

इस दृष्टि से जिस व्यक्ति को ज्ञान, सामर्थ्य तथा वस्तु प्राप्त है वह उस अनन्त की है, व्यक्ति की नहीं। व्यक्ति ने तो प्राप्त ज्ञान

तथा सामर्थ्य एवं वस्तु से केवल ममता कर ली है; अथवा यों कहो कि प्राप्त वस्तु,सामर्थ्य एवं ज्ञान का अभिमान कर लिया है। अनन्त की देन को अनन्त के समर्पित करना साधन है और उसी के नाते प्राप्त का सदुपयोग करना भी साधन है। इतना ही नहीं, जिससे सब कुछ मिला है उसको बिना प्राप्त किए सर्वांश में दुःख तथा दोष का अन्त नहीं हो सकता अतः उसको प्राप्त करना ही साध्य है। प्राप्ति से पूर्व साधन और साध्य के सम्बन्ध में विकल्प-रहित विश्वास ही हो सकता है, साध्य के स्वरूप का बोध नहीं। जिस प्रकार प्रत्येक बीज अपने स्वभाव का अन्त बिना किये उसके स्वरूप को नहीं जान पाता जिससे वह विकसित होता है, उसी प्रकार व्यक्ति अपने व्यक्तिगत स्वभाव का अन्त बिना किए उस अनन्त के वास्तविक स्वरूप को नहीं जान पाता जिससे वह सब प्रकार का विकास पाता है।

प्राकृतिक नियम के अनुसार प्रत्येक उत्पत्ति में सतत परिवर्तन तथा विनाश है। अतः प्राप्त वस्तु आदि से ममता करना, उनका अभिमान करना, उनमें रमण करना, उनके आश्रय को स्थायी बनाना अविवेक के अतिरिक्त और हो ही क्या सकता है?

वस्तुओं के सतत परिवर्तन तथा उनके अदर्शन की अनुभूति का अनादर ही अविवेक को पुष्ट करता है और उसकी पुष्टि से ही कामनाओं की उत्पत्ति होती है।

इस मूल दोष को स्पष्ट जान लेने से कामना-निवृत्ति तथा अविवेक का अन्त करने की लालसा जागृत होती है। वह लालसा ज्यों-ज्यों सबल तथा स्थायी होती जाती है त्यों-त्यों अनन्त की अहैतुकी कृपा-शक्ति स्वतः उस लालसा की पूर्ति का सामर्थ्य तथा योग्यता प्रदान करती है। इस दृष्टि से अविवेक का अंत करने की अभिलाषा ही अविवेक के नाश में समर्थ है। मूल दोष तथा दुःख के रहते हुए

समस्त दोषों और दुःखों का सदा के लिए अन्त नहीं हो सकता और उनका अन्त हुए विना साधन तथा साध्य में विकल्प-रहित विश्वास नहीं हो सकता।

अविवेक तथा कामना-उत्पत्ति ही मूल भूल अर्थात् दोष है। इस दोष की निवृत्ति विवेक तथा कामना-निवृत्ति से ही सम्भव है। उसके लिए प्राप्त विवेक का आदर करना होगा। कामना-अपूर्ति ही मूल दुःख है। उसकी निवृत्ति कामना-पूर्ति द्वारा सम्भव नहीं है। हाँ, जो कामनाएँ किसी प्रकार मिटाई नहीं जा सकती उनकी पूर्ति प्राकृतिक नियम के अनुसार स्वतः हो जाती है, परन्तु उन कामनाओं की पूर्तिका जो सुख है साधक को उसका त्याग करना होगा। कामना-पूर्ति के सुख-भोग से रहित होने पर नवीन कामनाएँ उत्पन्न न होंगी। इस दृष्टि से जो कामनाएँ मिटाई नहीं जा सकतीं वे पूरी हो-होकर स्वतः मिट जाएँगी। कामना-पूर्ति के सुख के प्रलोभन से ही नवीन कामनाओं का जन्म होता है। जिन कामनाओं की पूर्ति किसी भी कारण से सम्भव नहीं है, उन कामनाओं का त्याग करना ही अनिवार्य है। कामनाओं के त्याग में साधक सर्वदा स्वाधीन है। पराधीनता कामना-पूर्ति में है, निवृत्ति में नहीं। कामना-निवृत्ति का महत्त्व जान लेने पर पराधीनता सदा के लिए मिट जाती है और उसके मिटते ही चित्त शुद्ध हो जाता है।

कामना-पूर्ति का प्रलोभन वस्तु, व्यक्ति आदि से सुख की आशा उत्पन्न करता है और कामना-अपूर्ति के दुःख से भयभीत होने पर कामना-पूर्ति का प्रलोभन उत्पन्न होता है। प्राकृतिक नियम के अनुसार कामना-अपूर्ति का दुःख कामना-पूर्ति के सुख की दासता से मुक्त करने के लिए आता है, पर प्राणी असावधानी के कारण उस दुःख से भयभीत हो जाता है, जिसके होते ही चित्त में नीरसता तथा खिन्नता उत्पन्न होती है। नीरसता तथा खिन्नता की

भूमि में ही काम का जन्म होता है जो समस्त कामनाओं की भूमि है। इस दृष्टि से काम का अंत विना हुए कामनाओं की निवृत्ति सम्भव नहीं है। नीरसता के रहते हुए काम का नाश हो नहीं सकता और प्रीति के विना नीरसता मिट नहीं सकती। वस्तुओं के द्वारा सुख की आशा ने ही प्राणी को जड़ता में आवद्ध कर दिया है। जड़ता में आवद्ध होने से ही प्रीति आच्छादित हो गई है। वस्तुओं के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान होने पर ही जड़ता का नाश हो सकता है। वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप को जानने के लिए साधक को सर्वप्रथम शरीररूपी वस्तु के स्वरूप को जानना होगा। शरीर का यथार्थ ज्ञान होने पर सारे विश्व का ज्ञान हो जाता है, कारण कि शरीर विश्वरूपी सागर की ही एक लहर है।

शरीर की सत्यता तथा सुन्दरता में ही समस्त विश्व की सत्यता तथा सुन्दरता निहित है, अथवा यों कहो कि शरीर की आसक्ति ने ही समस्त वस्तुओं में आसक्ति उत्पन्न कर दी है। शरीर के वास्तविक स्वरूप को जान लेने पर इसकी सत्यता तथा सुन्दरता स्वतः मिट जाती है, अतः जो ज्ञान प्राप्त है उससे शरीर की वास्तविकता को जानकर साधक वड़ी सुगमता से काम-रहित हो सकता है। जिस साधक को अपने शरीर में सत्यता तथा सुन्दरता का दर्शन नहीं होता उसे किसी भी वस्तु तथा व्यक्ति में सत्यता तथा सुन्दरता का दर्शन नहीं होता। वस्तुओं की सत्यता तथा सुन्दरता का नाश होते ही वस्तुओं की ममता अपने आप मिट जाती है, जिसके मिटते-ही चित्त शुद्ध होने लगता है और सर्वांश में वस्तुओं का सम्वन्ध विच्छेद होने पर चित्त स्वतः-शुद्ध हो जाता है।

जिस ज्ञान से वस्तुओं की वास्तविकता का वोध होता है उसी ज्ञान में वस्तुओं से सम्वन्ध-विच्छेद करने का सामर्थ्य विद्यमान

है और वह ज्ञान प्रत्येक साधक को प्राप्त है। अतः जो ज्ञान प्राप्त है, उसी के द्वारा साधक को प्रत्येक वस्तु के स्वरूप को जान लेना चाहिए जिससे वस्तुओं की सत्यता तथा सुन्दरता का नाश हो जाय और वस्तुओं से अतीत के जीवन में विकल्प-रहित विश्वास हो जाय। वस्तुओं से अतीत का जीवन ही वास्तविक साध्य है और जिस ज्ञान से वस्तुओं के स्वरूप का बोध होता है वह ज्ञान ही वास्तविक साधन है।

वस्तुओं से तद्रूपता स्वीकार करना ही मूल दोष है; जिसकी निवृत्ति उसी ज्ञान से हो सकती है जिस ज्ञान से वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हो सकता है। मूल दोष की निवृत्ति में ही साधन की पूर्णता है, और साधन की पूर्णता में सिद्धि निहित है।

निज ज्ञान के द्वारा वस्तुओं के स्वरूप को जानने का प्रयास न करना ही साधक की असावधानी है, और अनन्त की देन का अनादर है। अनन्त की देन का अनादर तथा असावधानी को अपनाना ही असाधन है। असाधन का त्याग बिना किए साधन में श्रद्धा तथा तत्परता उत्पन्न नहीं होती, जिसके उत्पन्न हुए बिना साधन-परायणता नहीं होती और साधन-परायणता के बिना सिद्धि नहीं होती। इस दृष्टि से असाधन का त्याग ही मूल साधन है। इस मूल साधन में विकल्प-रहित विश्वास करना अनिवार्य है। निज ज्ञान का आदर करने पर बड़ी ही सुगमता से असाधन का अन्त हो सकता है जो मूल साधन है। निज ज्ञान का आदर करने पर कोई भी साधक अपने को देह नहीं मान सकता। अपने में से देहभाव का त्याग होते ही किसी भी कामना की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। इस दृष्टि से मूल दोष की निवृत्ति का साधन एक मात्र निज ज्ञान के द्वारा अपने में से देह-भाव का त्याग करना है। अपने में से देह-भाव का त्याग वर्तमान में हो सकता है। अतः मूल

दोष की निवृत्ति वर्तमान जीवन की वस्तु है। उसके लिए भविष्य की आशा करना भूल है।

जो वर्तमान जीवन की वस्तु है उसे वर्तमान में ही पूरा करना है, और जिसे वर्तमान में पूरा करना है उसके करने में साधक सर्वदा स्वाधीन है परन्तु मूल साधन में विकल्प-रहित विश्वास न होने के कारण बेचारा साधक साधन-निष्ठ होने में अपने को असमर्थ मान बैठता है, जो वास्तविकता नहीं है। निज विवेक के द्वारा अपने में से देह-भाव का त्याग मूल साधन है। सभी वस्तुओं से अतीत का जीवन ही साध्य है। इन दोनों में विकल्प-रहित विश्वास होने पर कामना-उत्पत्ति और अपूर्ति (जो मूल दोष तथा दुख है) की निवृत्ति हो सकती है। मूल दोष तथा दुःख के ज्ञान से साधन और साध्य में विकल्प-रहित विश्वास स्वतः होता है और साधन और साध्य में विकल्प-रहित विश्वास होने से दोष और दुःख की निवृत्ति होती है। अतः मूल दोष और दुःख के वास्तविक ज्ञान से तथा साधन और साध्य में विकल्प-रहित विश्वास होने से चित्त शुद्ध होता है।

५-६-५६

: ३५ :

मेरे निज स्वरूप परमप्रिय,

आए हुए दुःख को सुख तथा सुख की आशा से दबाने के प्रयास में, और जाने हुए दोष को बनाए रखने से चित्त अशुद्ध हो जाता है। जाने हुए दोष को बनाए रखने में प्रधान कारण सुख-लोलुपता ही है, क्योंकि दोष-जनित सुख से अरुचि होने पर दोष मिटाने का सामर्थ्य स्वतः आ जाता है; अथवा यों कहो कि दोष स्वतः मिट जाते हैं। कामना-पूर्ति के अतिरिक्त सुख का और कोई स्वरूप नहीं है। कामना-पूर्ति में पराधीनता का दोष सदैव रहता है। इस दृष्टि से समस्त सुख दोष-जनित ही हैं, क्योंकि पराधीनता समस्त दोषों की केन्द्र है। अतः आए हुए दुःख को सुख तथा सुख की आशा से दबाने तथा मिटाने का प्रयास सर्वदा निरर्थक एवं अहितकर ही सिद्ध होता है, क्योंकि सुख नवीन दुःख को जन्म देता है, और प्रत्येक सुख के आरम्भ में भी किसी न किसी प्रकार के दुःख को अपनाना ही पड़ता है। प्राकृतिक नियम के अनुसार दुःख, सुख की दासता से मुक्त करने के लिए अथवा सुख की वास्तविकता का अनुभव कराने के लिए आता है। इस दृष्टि से दुःख जीवन का आवश्यक अङ्ग है। उससे भयभीत होना भूल है। दुःख का सदुपयोग सुख तथा सुख की दासता से मुक्त कर सुख-दुःख से अतीत के जीवन से अभिन्न करने में समर्थ है। इतना

ही नहीं, सुख के सदुपयोग के लिए भी दुःख ही अपेक्षित है, क्योंकि पर-दुःख से दुःखी विना हुए कोई भी उदार तथा करुण नहीं हो सकता और करुणा तथा उदारता में ही सुख का सद्व्यय सम्भव है, अथवा यों कहो कि सुख का महत्त्व तभी प्रतीत होता है जब किसी दुखी से सम्बन्ध स्थापित किया जाय। यदि दुःख तथा दुखी का दर्शन न हो तो सुख की प्रतीति ही सम्भव नहीं है। दुःख का अत्यन्त अभाव होने पर कभी सुख का दर्शन ही नहीं होता क्योंकि दुःख के अभाव में तो आनन्द है, जीवन है, नितनूतन अगाध अनन्त रस है। इतना ही नहीं, सुख प्राणी को जड़ता तथा पराधीनता में आवद्ध करता है और आनन्द चिन्मयता तथा स्वाधीनता से अभिन्न करता है। सुख का भास कामना-पूर्त्ति में और आनन्द में प्रवेश कामना-निवृत्ति से होता है। सुख अनेक प्रकार के भेद उत्पन्न करता है और आनन्द सब प्रकार के भेदों का अन्त करता है। सुख भोग और भोक्ता को जन्म देता है और आनन्दस्वरूप में प्रतिष्ठित करता है। सुख सीमित और परिवर्तन-शील है और आनन्द असीम तथा अपरिवर्तनशील है। इस दृष्टि से सुख और आनन्द में वड़ा भेद है। पर इस रहस्य को बिना जाने बेचारा प्राणी सुख का दास हो जाता है और आनन्द से निराश हो जाता है, जो चित्त की अशुद्धि में हेतु है।

अपने आप आए हुए दुःख को सुख के द्वारा दवाने की रुचि क्यों होती है, और जाने हुए दोष को वनाए रखने का स्वभाव क्यों वन गया है? सुखभोग की आसक्ति के कारण ही प्राणी आए हुए दुःख को सुख से दबाने का प्रयास करता है, और सुख को सुरक्षित वनाए रखने के लिए ही जाने हुए दोष को अपनाता है। सुख-भोग की आसक्ति का मूल कारण इन्द्रियों के ज्ञान का प्रभाव अपने में अङ्कित होता है। जिसमें इन्द्रिय-ज्ञान का प्रभाव अङ्कित

है वह क्या है, इसका स्पष्टीकरण सम्भव नहीं। परन्तु उसका भास अपने में ही प्रतीत होता है। अपने का स्पष्ट अर्थ भी ज्ञात नहीं है; तभी इन्द्रियों का ज्ञान अंकित होता है। परन्तु जब बुद्धि-ज्ञान का प्रभाव अङ्कित होने लगता है तब इन्द्रिय-ज्ञान का प्रभाव स्वतः मिट जाता है क्योंकि ज्ञान में ज्ञान अङ्कित नहीं हो सकता अपितु अल्प-ज्ञान विशेष ज्ञान में विलीन हो जाता है; अथवा यों कहो कि अल्प-ज्ञान विशेप ज्ञान से अभिन्न हो जाता है; अथवा यों कहो कि अल्प-ज्ञान मिट जाता है। जिस प्रकार अल्प प्रकाश विशेष प्रकाश में विलीन हो जाता है; अथवा यों कहो कि जैसे विशेष प्रकाश अल्प प्रकाश को खा लेता है उसी प्रकार विशेष ज्ञान अल्प ज्ञान का नाशक है।

इन्द्रिय-ज्ञान का प्रभाव जिसमें अंकित होता है वह अपने को भोगी अथवा कामी मान लेता है। पर जब बुद्धि का ज्ञान इन्द्रियों के ज्ञान में सन्देह उत्पन्न करता है तब वही कामी अपने को जिज्ञासु मान लेता है। अपने को कामी स्वीकार करते ही कामनाएँ उत्पन्न होती हैं जिनकी पूर्ति-अपूर्ति में सुख-दुःख का भास होता है। परन्तु ज्यों-ज्यों इन्द्रिय-ज्ञान में सन्देह होता जाता है त्यों-त्यों जिज्ञासा जागृत होती जाती है। जिज्ञासा की जागृति कामनाओं का नाश करने लगती है। जिस काल में इन्द्रिय-ज्ञान का प्रभाव मिट जाता है उसी काल में जिज्ञासा की पूर्ण जागृति हो जाती है, और जिज्ञासा की पूर्ण जागृति में कामनाओं की निवृत्ति हो जाती है। कामनाओं की निवृत्ति होते ही जिसने अपने को कामी स्वीकार किया था, उसका कोई स्वतंत्र अस्तित्व प्रतीत नहीं होता, अपितु जिज्ञासा उससे अभिन्न हो जाती है, जिसकी वह जिज्ञासा थी। जिज्ञासा जिससे अभिन्न होती है, वह कोई वस्तु नहीं है, अपितु समस्त वस्तुओं से अतीत, अनुपम, विलक्षण

तत्त्व है। उसकी प्राप्ति सम्भव है, पर उसका वर्णन सम्भव नहीं है, कारण कि इन्द्रिय-ज्ञान का प्रभाव मिटते ही बुद्धि का ज्ञान उसी प्रकार मिट जाता है जिस प्रकार औषध रोग को खाकर स्वतः मिट जाती है, और फिर इन्द्रिय तथा बुद्धि के ज्ञान का भेद शेष नहीं रहता; अथवा यों कहो कि बुद्धि तथा उसके ज्ञान का महत्त्व भी नहीं रहता क्योंकि महत्त्व उसी का रहता है जिसकी आवश्यकता हो। बुद्धि के ज्ञान की आवश्यकता उसी समय तक रहती है जिस समय तक इन्द्रियों के ज्ञान का प्रभाव अङ्कित है। अथवा यों कहो कि जिस प्रकार बुद्धि का ज्ञान इन्द्रियों के ज्ञान के प्रभाव को खा लेता है उसी प्रकार अनन्त नित्य ज्ञान बुद्धि के ज्ञान के प्रभाव को खा लेता है। जिस प्रकार सूर्य्य का प्रकाश होते ही समस्त ताराओं का प्रकाश उसी में विलीन हो जाता है उसी प्रकार इन्द्रिय तथा बुद्धि के ज्ञान का प्रभाव अनन्त ज्ञान में विलीन हो जाता है।

परन्तु जब तक इंद्रिय-ज्ञान का प्रभाव सर्वांश में नाश नहीं होता तब तक बुद्धि के ज्ञान का महत्त्व तथा उसका अस्तित्त्व भासित होता है। जिस प्रकार काष्ट से उत्पन्न हुई अग्नि काष्ट को भस्मकर स्वयं शान्त हो जाती है, उसी प्रकार अपने में उत्पन्न हुआ बुद्धि-ज्ञान इन्द्रिय-ज्ञान के प्रभाव को खाकर स्वयं सम हो जाता है, जिसके होते ही वही ज्ञान अपने आप में ज्यों-का-त्यों स्थित हो अपने आपको प्रकाशित करता है।

इन्द्रिय-ज्ञान तथा बुद्धि-ज्ञान का द्वन्द जब तक रहता है तब तक चित्त शुद्ध नहीं होता। इन्द्रिय-ज्ञान के प्रभाव से बुद्धि-ज्ञान में शिथिलता भले ही आ जाय पर बुद्धि-ज्ञान का नाश नहीं होता और बुद्धि-ज्ञान के प्रभाव से इन्द्रिय-ज्ञान का प्रभाव नाश हो जाता है। इस दृष्टि से इन्द्रिय और बुद्धि के ज्ञान का द्वन्द बुद्धि-ज्ञान के प्रभाव से ही मिट सकता है, इन्द्रिय-ज्ञान से नहीं।

इन्द्रिय-ज्ञान के आधार पर की हुई प्रवृत्ति दुराचारयुक्त और बुद्धि-ज्ञान के आधार पर की हुई प्रवृत्ति सदाचारयुक्त होती है। यद्यपि अपने प्रति किसी को भी दुराचारयुक्त प्रवृत्ति अभीष्ट नहीं परन्तु इन्द्रिय-ज्ञान के प्रभाव में आसक्त प्राणी दूसरों के प्रति दुराचारयुक्त प्रवृत्ति करता है, जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है। जो अपने को अभीष्ट है वही दूसरों के प्रति करने से बुद्धि-ज्ञान का प्रभाव इन्द्रिय-ज्ञान के प्रभाव को खा लेता है और फिर इन्द्रिय-ज्ञान तथा बुद्धि-ज्ञान का द्वन्द्व मिट जाता है, जिसके मिटते ही चित्त शुद्ध हो जाता है।

इन्द्रिय-ज्ञान के प्रभाव में आसक्त प्राणी सुख का दास हो जाता है और दुःख से भयभीत होने लगता है। सुख की दासता और दुःख का भय चित्त को शुद्ध नहीं होने देता। यद्यपि बुद्धि का ज्ञान इन्द्रिय-ज्ञान की अपेक्षा कहीं सबल तथा स्थायी है, परन्तु सुख-लोलुपता के कारण प्राणी बुद्धि-ज्ञान का अनादर करता है। उसका परिणाम यह होता है कि वह अल्प सुख के लिए घोर दुःख भोगता है, क्योंकि तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाय तो सुख की अवधि दुख की अपेक्षा कहीं अल्प है अर्थात् दुःख सुख की अपेक्षा सबल भी है और चिरायु भी। सुख-दुःख के इस रहस्य को जान लेने पर सुख का महत्त्व घट जाता है, जिसके घटते ही इन्द्रिय-जन्य ज्ञान का प्रभाव स्वतः मिट जाता है; अथवा यों कहो कि बुद्धि-ज्ञान का प्रभाव दृढ़ हो जाता है, जिसके होते ही जीवन संयम, सदाचार और सेवायुक्त हो जाता है।

बुद्धि-ज्ञान के प्रभाव में कर्त्तव्य का ज्ञान निहित है। ज्यों-ज्यों कर्त्तव्य-परायणता दृढ़ तथा स्वाभाविक होती जाती है त्यों-त्यों अकर्त्तव्य का अन्त स्वतः होता जाता है। अकर्त्तव्य का अन्त होने पर स्वार्थ-भाव, दुराचार और असंयम का अन्त हो जाता

है; अथवा यों कहो कि सर्वांश में संयम, सदाचार, सेवा स्वतः होने लगती है। संयम, सदाचार, सेवा की पूर्णता में सीमित अहम्भाव स्वतः गल जाता है, जिसके गलते ही भेद का नाश हो जाता है और फिर किसी प्रकार का भय तथा अभाव शेष नहीं रहता; अथवा यों कहो कि अनंत नित्य चिन्मय जीवन से अभिन्नता हो जाती है।

संयम, सदाचार, सेवा की अपूर्णता में ही अहम्भाव प्रतीत होता है जिससे भेद की उत्पत्ति होती है क्योंकि गुणों के अभिमान के बिना भेद की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। गुण का अभिमान गुणों की अपूर्णता में ही जीवित रहता है जो वास्तव में चित्त की अशुद्धि है। जो गुण देहाभिमान को पुष्ट करता है वह गुणों के भेष में वास्तव में दोष है, क्योंकि देहाभिमान के रहते हुए सर्वांश में निर्दोषता सम्भव नहीं है। इतना ही नहीं, जो दोष दोष के स्वरूप में प्रतीत होता है उसकी निवृत्ति सुगमतापूर्वक हो सकती है, किन्तु जो दोष गुण का भेष धारण करके आता है उसका अन्त करना बड़ा ही दुष्कर होता है। इस दृष्टि से गुणों का अभिमान महान् दोष है। समस्त गुण स्वरूप से उस अनन्त का स्वभाव हैं जिससे सभी को सब कुछ प्राप्त होता है और जो सभी का सब कुछ है। संयम, सदाचार और सेवा की पूर्णता में संयमी, सदाचारी और सेवकपन का भाव प्रतीत नहीं होता क्योंकि जिसे अपने में संयम, सदाचार तथा सेवा प्रतीत होती है वह वास्तव में संयमी, सदाचारी तथा सेवक है नहीं। सर्वांश में असंयम का अन्त संयम के अभिमान को खा लेता है और फिर सदाचार तथा सेवा तो रहती है पर सदाचारी तथा सेवक नहीं रहता। सेवक से रहित जो सेवा और सदाचारी से रहित जो सदाचार है वही वास्तव में संयम, सदाचार तथा सेवा है। संयम की पराकाष्ठा निर्वासना, सदा-

चार की पराकाष्ठा एकता और सेवा की पराकाष्ठा में अहिंसा स्वतः आ जाती है। अहिंसा करुणा और प्रेम की, एकता निर्वैरता की और निर्वासना स्वाधीनता की जननी है। स्वाधीनता, निर्वैरता, करुणा और प्रेम में ही संयम-सदाचार तथा सेवा की पूर्णता है। करुणा तथा प्रेम में अगाध अनन्त रस निहित है। निर्वैरता तथा स्वाधीनता में सब प्रकार के भय, भिन्नता एवं असमर्थता का अत्यन्त अभाव है। इन्द्रिय-ज्ञान का प्रभाव काम उत्पन्न करता है जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है, और बुद्धिजन्य ज्ञान का प्रभाव जिज्ञासा जागृत कर कामनाओं का अन्त करने में समर्थ है। कामनाओं का अन्त होते ही जिज्ञासा की पूर्ति तथा प्रेम की प्राप्ति स्वतः हो जाती है, जिससे चित्त शुद्ध हो जाता है। इस दृष्टि से बुद्धि-ज्ञान का आदर चित्तशुद्धि का सुगम उपाय है। बुद्धि-ज्ञान का अनादर ही जाना हुआ दोष है जिसका अन्त बिना किए सुख तथा सुख की आशा मिट नहीं सकती, और उसके बिना दुःखों की अत्यन्त-निवृत्ति सम्भव नहीं है। दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति में ही स्वाधीनता, निर्भयता एवं अगाध अनन्त रस की प्राप्ति हो सकती है जो वास्तविक जीवन है। इस दृष्टि से चित्त-शुद्धि के लिए साधक को इन्द्रिय-ज्ञान के प्रभाव का अन्त बुद्धि-ज्ञान के आदरपूर्वक करने के लिए सर्वदा तत्पर रहना चाहिये जो वर्तमान जीवन की वस्तु है। उसके लिए भविष्य की आशा करना अथवा उससे निराश होना प्रमाद के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

६–६–५६

: ३६ :

मेरे निज स्वरूप परमप्रिय,

जो नित्य प्राप्त नहीं है उसमें आसक्ति होने पर और जो नित्य प्राप्त है उसमें प्रेम न होने से चित्त अशुद्ध हो जाता है। प्राकृतिक नियम के अनुसार आसक्ति उसी में होती है जो नित्य प्राप्त नहीं है, अर्थात् जो सदैव नहीं रहता। परन्तु यह आसक्ति की विलक्षणता है कि जो वस्तु नित्य प्राप्त नहीं है उसे प्राप्त-जैसा भासित कराती है और नित्य प्राप्त के प्रेम को आच्छादित कर देती है। उसका परिणाम यह होता है कि जिससे देश-काल की दूरी नहीं है वह अप्राप्त प्रतीत होता है और जिससे जातीय तथा स्वरूप की भिन्नता है वह प्राप्त-जैसा प्रतीत होता है। उस प्रतीति-मात्र को ही बेचारा प्राणी प्राप्ति मान लेता है। यद्यपि प्रतीति में सतत परिवर्तन है, परन्तु परिवर्तन पर दृष्टि ही नहीं रहती। इतना ही नहीं, प्रत्येक संयोग सतत वियोग में बदल रहा है, किन्तु संयोग की दासता सबल तथा स्थायी होती जा रही है। जिसका वियोग अनिवार्य है उसके संयोग की रुचि बनाए रखना चित्त को अशुद्ध ही करना है।

आसक्ति उसी में होती है जिसकी वास्तविक सत्ता न होने पर भी प्रतिति हो अर्थात् जो वस्तु है नहीं पर प्रतीत होती है, उसी में प्राणी आसक्त हो जाता है। जो है नहीं और उसकी प्रतीति होती

है उसका कारण क्या है ? इस प्रश्न की उत्पत्ति जिसमें है वह स्वयं अपने को क्या मानता है ? अथवा यों कहो कि इस प्रश्न का उद्गम स्थान क्या है ? कोई भी प्रश्नकर्ता उस समय तक प्रश्न कर ही नहीं सकता जिस समय तक अपने सम्बन्ध में निस्सन्देह न हो जाय। जिसे अपने सम्बन्ध में ही सन्देह है उसे किसी पर भी सन्देह हो सकता है। अथवा जो अपने को किसी मान्यता में आवद्ध कर सकता है वह किसी में भी किसी भी मान्यता की स्थापना कर सकता है, अर्थात् जिसे अपने सम्बन्ध में सन्देह होता है उसे ही दूसरों के सम्बन्ध में सन्देह होता है। जो अपने को कुछ मान लेता है वही दूसरे को भी कुछ मान लेता है। इस दृष्टि से जब तक प्रश्नकर्ता अपने सम्बन्ध में निस्सन्देह नहीं हो जायगा तब तक किसी की भी वास्तविकता को नहीं जान सकता। जो प्रतीत हो रहा है यदि वह है तो उसकी प्राप्ति क्यों नहीं होती ? अर्थात् उससे एकता क्यों नहीं होती ? यह नियम है कि प्राप्ति-कालमें प्रयत्न नहीं रहता, किन्तु जो प्रतीत हो रहा है उसकी ओर सतत प्रवृत्ति होती है। परिणाम में अभाव के अतिरिक्त कुछ प्राप्त नहीं होता। यदि प्रतीति का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व होता तो उसकी प्राप्ति अवश्य होती। प्रवृत्ति-जनित सुख-दुःख को ही यदि प्राप्ति मान लिया जाय तो फिर अप्राप्ति किसे मानेंगे ? प्रवृत्ति में सुख का भास भी तब होता है जब प्रवृत्ति की रुचि हो और परिणाम में सुख की आशा हो; अर्थात् रुचि और आशा के आधार पर प्रवृत्ति सुखद भासती है, और रुचि और आशा का जन्म प्रतीति को सत्य मान लेने से होता है। जिसकी सत्यता प्राप्ति से पूर्व स्वीकार कर ली उसकी रुचि तथा उससे सुख की आशा उत्पन्न हो जाती है जो प्रतीति से सम्बन्ध जोड़ देती है। उसका परिणाम यह होता है कि प्रतीति में ममता हो

जाती है, ममता से प्रियता उत्पन्न होती है और प्रियता आसक्ति को जन्म देती है जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है।

इन्द्रियों से विषयों की, मन से इन्द्रियों की, बुद्धि से मन की और निज ज्ञान से बुद्धि की प्रतीति होती है। जिस ज्ञान से बुद्धि की प्रतीति होती है क्या उस ज्ञान को बुद्धि की आवश्यकता है? कदापि नहीं, क्योंकि जो नित्य ज्ञान है उसे बुद्धि के परिवर्त्तन-शील ज्ञान की क्या आवश्यकता होगी?

जो बुद्धि का ज्ञाता है क्या उसे अपनी पूर्ति के लिए शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि किसी भी वस्तु की अपेक्षा है? यदि नहीं है तो उसने बुद्धि मन आदि से सम्बन्ध क्यों स्थापित किया? और यदि है तो क्यों है? क्या प्रश्नकर्त्ता स्वयं अपने को बुद्धि का ज्ञाता स्वीकार करता है? अथवा शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि को अपने को मानता है? अथवा ज्ञाता और शरीर से विलक्षण कुछ और अपने को मानता है? प्रश्नकर्त्ता को अपने सम्बन्ध में भी कोई न कोई निर्णय देना होगा। शरीर को मैं मान नहीं सकता और अपने को ज्ञाता मानकर शरीर से सम्बन्ध जोड़ नहीं सकता। शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि से सम्बन्ध बिना जोड़े प्रतीति की चर्चा कर नहीं सकता। यदि प्रतीति की चर्चा करता है तो स्वयं प्रतीति से तद्रूप हो जाता है। जो नहीं है, उससे तद्रूप होकर उसको जान नहीं सकता और जो है उससे भिन्न होकर उसको जान नहीं सकता अर्थात् 'है' से अभिन्न होकर 'है' को प्राप्त करता है और जो नहीं है उससे असंग होकर उसकी वास्तविकता को जान सकता है। अतः प्रतीति की वास्तविकता को जानने के लिए प्रतीति से असंग होना अनिवार्य है। प्रतीति से असंग होते ही प्रतीति का अभाव स्वतः हो जाता है और फिर यह प्रश्न ही शेष नहीं रहता कि न होने पर प्रतीति क्यों होती है।

बुद्धि और ज्ञाता के मध्य में जो अपने आप की स्वीकृति है, जिस स्वीकृति को अनेक मान्यताओं में आबद्ध कर लिया है वह न प्रतीति है और न ज्ञाता; अथवा यों कहो कि स्वीकृति में सत्यता उसी समय तक रहती है जिस समय तक उसको स्वीकार किया है। इस दृष्टि से अपने-अपने सम्बन्ध में जिस-जिसने जो-जो स्वीकृति विकल्प-रहित स्वीकार कर ली है वह स्वीकृति स्वयं अपना एक अस्तित्व मान लेती है, और स्वीकृति के अनुसार ही कोई न कोई कामना उत्पन्न हो जाती है। कामना की पूर्ति के लिए ही शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि से सम्बन्ध दृढ़ हो जाता है और कामना-निवृत्ति के लिए ही प्रतीति से अतीत किसी नित्य प्राप्त की सत्ता सिद्ध होती है। इस दृष्टि से यह स्पष्ट विदित होता है कि कामना-पूर्ति का रोग जब तक है, तब तक प्रतीति की ओर गति है। परिणाम में भले ही अभाव हो पर कामना-पूर्ति का प्रलोभन प्रतीति की ओर गतिशील करता रहता है। कामना-पूर्ति का प्रलोभन सर्व के ज्ञाता में हो नहीं सकता क्योंकि जो सर्व का ज्ञाता है उसमें काम है ही नहीं और जिन साधनों से कामना की पूर्ति होती है उन साधनों में भी कामना-पूर्ति का प्रलोभन नहीं हो सकता। कामना-पूर्ति का प्रलोभन जिसमें है, वह न ज्ञाता है और न शरीर, इन्द्रिय, मन; बुद्धि आदि कोई वस्तु। वस्तु से सम्बन्ध जोड़कर भले ही वस्तु जैसा प्रतीत हो और कामना-अपूर्ति के दुख से दुःखी होकर भले ही उसमें कामना-निवृत्ति की जिज्ञासा जागृत हो।

जो कामना पूर्ति-अपूर्ति से सुखी-दुःखी होता है और जिसमें कामना-निवृत्ति की जिज्ञासा होती है उसी में समस्त प्रश्न उत्पन्न होते हैं। कामना-निवृत्ति तथा जिज्ञासा की पूर्ति होने पर समस्त आसक्तियाँ स्वतः गल जाती हैं, जिनके गलते ही, जो नित्य प्राप्त

है उससे प्रेम स्वतः हो जाता है, जिससे चित्त की अशुद्धि मिट जाती है।

जो अपने को कामी मानता है वही अपने को जिज्ञासु तथा प्रेमी भी मानता है। परन्तु जब तक कामना-पूर्ति का प्रलोभन है तभी तक वह कामी है, और जब तक कामी है तभी तक आसक्तियों में आबद्ध है। बेचारा आसक्त प्राणी जिस वस्तु में आसक्त हो जाता है उसके दोष नहीं जान पाता। जिसके दोष का ज्ञान नहीं होता, उससे निवृत्ति नहीं होती। इस कारण आसक्ति रहते हुए दोषयुक्त वस्तुओं से सम्बन्ध बना ही रहता है जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है।

अपने में देह-भाव की स्वीकृति दृढ़ होने पर ही काम की उत्पत्ति होती है और काम की उत्पत्ति होने पर ही कामनाएँ उत्पन्न होती हैं। कामना-पूर्ति में पराधीनता, जड़ता आदि अनेक दोष उत्पन्न हो जाते हैं और कामना-उत्पत्ति का प्रवाह चलने लगता है जिससे कामना-अपूर्ति-काल में दुःख और पूर्ति-काल में पराधीनता की वेदना उत्पन्न होती है। जब उत्पन्न हुई वेदना सहन नहीं होती तब साधक में कामना-निवृत्ति की लालसा उदित होती है जो कामना-पूर्ति के सुख की दासता से मुक्त कर कामना-निवृत्ति के साम्राज्य में प्रवेश करा देती है, जिसके होते ही जो अपने को कामी अर्थात् भोगी मानता था वही अपने को योगी मान लेता है, क्योंकि कामना निवृत्त होने पर देह से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, जिसके होते ही कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व मिट जाता है और फिर वह अपने को भोगी नहीं मानता। ज्यों-ज्यों साधक कामना-पूर्ति के प्रलोभन से मुक्त होता जाता है त्यों-त्यों कामना-निवृत्ति की सामर्थ्य स्वतः आता जाता है। क्योंकि कामना-पूर्ति के सुख की दासता ही नवीन कामना को उत्पन्न

करती है। कामना-पूर्ति के सुख की दासता का अत्यन्त अभाव होते ही नवीन कामनाओं की उत्पत्ति नहीं होती और कामना-पूर्ति के सुख की आसक्ति भी नहीं रहती, जिसके मिटते ही कामना-निवृत्ति की शान्ति स्वतः प्राप्त होती है। यदि साधक कामना-निवृत्ति की शान्ति में रमण न करे तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक शांति से अतीत जो चिन्मय, स्वाधीन साम्राज्य है उससे अभिन्नता हो जाती है, जिसके होते ही योग की पूर्णता हो जाती है। योग की पूर्णता से ही ज्ञान तथा प्रेम के साम्राज्य में प्रवेश हो जाता है; अथवा यों कहो कि कामनाओं की निवृत्ति में ही जिज्ञासा की पूर्ति तथा प्रेम की प्राप्ति निहित है। इस दृष्टि से कामना-निवृत्ति योग से और योग ज्ञान तथा प्रेम से अभिन्न कर देता है। परन्तु जो अप्राप्त है उसमें प्राप्त-बुद्धि और जो प्राप्त है उसमें अप्राप्त-बुद्धि होने से भोग का अन्त और योग, ज्ञान तथा प्रेम से एकता हो नहीं पाती। देह-भाव की स्वीकृति है उससे एकता नहीं है, परन्तु स्वीकृति में ही अहम्-बुद्धि होने से भिन्नता होने पर भी एकता प्रतीत होने लगती है। उसी का परिणाम यह होता है कि जिस देहातीत अनन्त, नित्य, चिन्मय जीवन से एकता है अर्थात् जो प्राप्त है उससे अप्राप्ति प्रतीत होती है। जिससे एकता नहीं है उसमें आसक्ति हो गई, और जिसकी प्राप्ति है उससे प्रेम नहीं हुआ। यद्यपि प्राकृतिक नियम के अनुसार जिससे भिन्नता है उससे अनासक्ति होनी चाहिए और जो नित्य प्राप्त है उससे प्रेम होना चाहिए, परन्तु अप्राप्त को प्राप्त मान लेने से और नित्य-प्राप्त को अप्राप्त मानने से जो होना चाहिए वह नहीं हुआ, जिससे चित्त अशुद्ध हो गया। जो होना चाहिए उसके न होने का एक मात्र कारण स्वीकृति में अहम्-बुद्धि के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। स्वीकृति केवल अस्वीकृति से ही मिट सकती है, वह किसी और प्रकार से

नहीं मिटाई जा सकती। अतः 'देह मैं नहीं हूँ' इतने मात्र से ही देह से सम्बन्ध-विच्छेद हो सकता है, जिसके होते ही काम का अन्त हो जायगा और नित्य प्राप्त का प्रेम स्वतः जागृत होगा।

देह की प्राप्ति की स्वीकृति मात्र में ही जो देह से अतीत है, उसकी अप्राप्ति प्रतीत होती है, अथवा यों कहो कि विश्व की प्राप्ति की स्वीकृति मात्र से ही, जो विश्व का आधार है, एवं जिससे समस्त विश्व प्रकाशित है, उसकी अप्राप्ति प्रतीत होती है। जिसके किसी अंश मात्र में समस्त विश्व प्रतीत हो रहा है उस अनन्त की अप्राप्ति का भास केवल विश्व की प्राप्ति की स्वीकृति में ही है।

शरीर की ममता की प्रतीति भी अपने को शरीर मानने पर ही होती है। बुद्धि द्वारा जानते हैं, मन के द्वारा विश्वास करते हैं और वाणी के द्वारा वर्णन करते हैं कि शरीर मेरा है। बुद्धि, मन, वाणी भी तो शरीर ही हैं। शरीर से भिन्न वाणी, बुद्धि आदि का कोई अस्तित्व नहीं है, क्योंकि स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण शरीर भी तो शरीर ही हैं। तीनों शरीरों से असंग होकर किसी ने भी शरीर की ममता को नहीं जाना। इतना ही नहीं, शरीर और विश्व में विभाजन किसी प्रकार भी सम्भव नहीं है। इस दृष्टि से शरीर और विश्व में स्वरूप की एकता है, अर्थात् जिस धातु से विश्व निर्मित है उसी धातु से शरीर भी निर्मित है, जो विश्व का प्रकाशक तथा आधार है वही शरीर का भी प्रकाशक है। विश्व किसी और की सम्पत्ति हो और शरीर किसी और की, यह युक्ति युक्त सिद्ध नहीं है, अर्थात् असम्भव है, शरीर और विश्व किसी एक ही की वस्तु हैं। इस दृष्टि से किसी भी वस्तु को अपना मानना अथवा अपने को कोई वस्तु मानना सर्वदा विवेक-विहीन है। समस्त वस्तुओं की ममता से रहित हो जाने पर और सभी वस्तुओं से असंग हो जाने पर अहम् और मम का सदा के लिए अंत हो जाता

है जिसके होते ही सब प्रकार के भेद स्वतः मिट जाते हैं, जिनके मिटते ही चित्त स्वतः शुद्ध हो जाता है।

अपने को देह आदि किसी न किसी स्वीकृति में आवद्ध कर लेने से ही समस्त प्रवृत्तियों का आरम्भ होता है। प्रवृत्ति साधन भी है और असाधन भी। अपने को व्यक्ति मान लेने पर समाज की सेवा करना साधनरूप प्रवृत्ति है, और समाज से स्वार्थ सिद्ध करना असाधनरूप प्रवृत्ति है। अपने को प्रेमी मानकर प्रेमास्पद को रस प्रदान करना साधन, और प्रेमास्पद से कुछ भी माँगना असाधन है। समस्त आसक्तियाँ स्वार्थभाव से उत्पन्न होती हैं। सेवाभाव स्वार्थभाव का अंत कर अनासक्ति प्रदान करता है, अथवा यों कहो कि साधन-रूप प्रवृत्ति अनासक्ति प्रदान करती है, और असाधनरूप प्रवृत्ति आसक्ति उत्पन्न करती है। अनासक्ति आसक्ति को खाकर स्वतः मिट जाती है जिसके मिटते ही प्रेम का उदय होता है। समस्त स्वीकृतियों को अस्वीकार करने पर निर्वासना अपने आप आ जाती है, जिसके आते ही जो है नहीं उसकी निवृत्ति हो जाती है और जो है उसकी प्राप्ति हो जाती है; अथवा यों कहो कि जो है नहीं उसकी आसक्ति मिट जाती है और जो है उससे प्रेम हो जाता है।

आसक्ति, अनासक्ति और प्रेम इन तीनों में भेद है। आसक्ति वस्तुओं की दासता में आबद्ध करती है जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है। अनासक्ति वस्तुओं की दासता से मुक्त कर स्वाधीनता तथा उदासीनता प्रदान करती है। इस दृष्टि से अनासक्ति आसक्ति की अपेक्षा बड़े ही महत्त्व की वस्तु है, परन्तु प्रेम आसक्ति-अनासक्ति दोनों से ही विलक्षण है। प्रेम पूर्ति-निवृत्ति, स्वाधीनता तथा पराधीनता से रहित अलौकिक चिन्मय तत्त्व है। प्रेम के साम्राज्य में प्रेम का ही आदान-प्रदान है जो रसरूप है।

प्रवृत्ति निवृत्ति में, भोग योग में, स्वार्थ सेवा में परिवर्तित हो जाने पर आसक्ति मिट जाती है और जिसके मिटते ही जो नित्य प्राप्त है, उससे प्रेम स्वतः हो जाता है। प्रेम श्रम-रहित, स्वाभाविक स्वतः-सिद्ध तत्त्व है।

निवृत्ति स्वाधीनता, योग सामर्थ्य और सेवा करुणा तथा उदारता प्रदान करती है। आसक्ति का अभाव तथा प्रेम का उदय हो जाने पर निवृत्ति, योग तथा सेवा तीनों में एकता हो जाती है, अथवा यों कहो कि स्वाधीनता, सामर्थ्य, करुणा और उदारता सभी दिव्य गुण प्रेम में विलीन हो जाते हैं, क्योंकि प्रेम की प्राप्ति में ही जीवन की पूर्णता तथा लक्ष्य की प्राप्ति निहित है। स्वीकृतियों में अहम्‌बुद्धि का अंत होते ही सभी दोष स्वतः मिट जाते हैं और फिर साधनरूप स्वीकृति के अनुरूप कर्त्तव्य-निष्ठ होकर प्राणी आसक्ति-रहित हो जाता है। आसक्ति रहित होते ही प्रत्येक प्रवृत्ति अभिनय के रूप में, कर्तृत्व के अभिमान तथा फल की आशा से रहित, प्रेमास्पद की प्रसन्नतार्थ, स्वतः होने लगती है; अथवा यों कहो कि प्रत्येक प्रवृत्ति प्रीति होकर प्रीतम को रस प्रदान करती है। चित्त की अशुद्धि से ही प्राणी प्रेम से विमुख हुआ है अतः 'अहम्' और 'मम' का अंत कर चित्त शुद्ध कर प्रेम को प्राप्त कर लेना चाहिए।

७-६-५६

: ३७ :

मेरे निज स्वरूप परमप्रिय,

प्राणी जिसकी सत्ता स्वीकार कर लेता है, उससे सुख की आशा करने से उसका चित्त अशुद्ध हो जाता है। चित्त में अशुद्धि किसी वस्तु, व्यक्ति आदि से नहीं होती, अपितु अशुद्धि होती है जब प्राणी वस्तु, व्यक्ति आदि से सुख की आशा करने लगता है, अथवा वस्तुओं का भोग करने लगता है। इस दृष्टि से सुख की आशा तथा सुख के भोग में ही चित्त की अशुद्धि निहित है।

जिन वस्तुओं से सुख की आशा करते हैं क्या उनसे प्राणी का नित्य-सम्बन्ध है? अथवा जिन व्यक्तियों से सुख की आशा करते हैं क्या वे स्वयं दुःखी नहीं हैं? अथवा जिस परिस्थिति को सुखद मानते हैं क्या उसमें किसी प्रकार का अभाव नहीं है? अथवा जिस अवस्था में सुख का भास होता है क्या उसमें परिवर्तन नहीं है? किसी भी वस्तु से नित्य-सम्बन्ध सम्भव नहीं है। कोई भी व्यक्ति दुःख से रहित नहीं है। प्रत्येक परिस्थिति अभाव-युक्त है और प्रत्येक अवस्था में परिवर्तन है। तो फिर उनसे सुख की आशा करना प्रमाद के अतिरिक्त और हो ही क्या सकता है? प्रमाद उसे नहीं कहते जिसे प्राणी जानता नहीं। जाने हुए को भूल जाना अथवा उसका आदर न करना ही प्रमाद है, जो स्वयं प्राणी ने बनाया है। इस बनाए हुए दोष से ही चित्त अशुद्ध हो गया है।

उसका परिणाम यह हुआ है कि जो वस्तुएँ उत्पत्ति-विनाश-युक्त हैं, पर-प्रकाश्य हैं, उनमें सत्यता और सुन्दरता प्रतीत होने लगी है, और बेचारा प्राणी उनकी दासता में आबद्ध हो गया है। वस्तुओं की दासता ने प्राणी में लोभ जैसे भयंकर दोष की उत्पत्ति कर दी है। प्राकृतिक नियम के अनुसार लोभ ही दरिद्रता का मूल है। इतना ही नहीं, लोभ से ही प्राणी जड़ता में आबद्ध हो चिन्मय जीवन से विमुख हो जाता है।

व्यक्तियों से सुख की आशा करने का परिणाम यह हुआ है कि बेचारा प्राणी संयोग की दासता और वियोग के भय में आबद्ध हो गया है। यद्यपि प्रत्येक संयोग निरन्तर वियोग में बदल रहा है परन्तु सुख की आशा संयोग-काल में वियोग का दर्शन नहीं करने देती, जिससे बेचारा प्राणी मोह में आबद्ध होकर असरत्व से विमुख हो गया है। इतना ही नहीं, जिन व्यक्तियों से प्राणी सुख की आशा करता है वे व्यक्ति भी स्वयं उससे सुख की आशा करने लगते हैं, अथवा यों कहो कि दो दुःखी परस्पर में एक दूसरे के मोह में आबद्ध हो जाते हैं।

प्रत्येक परिस्थिति स्वभाव से ही अपूर्ण है। जो अपूर्ण है उसे सुखद स्वीकार करना अपूर्णता में आबद्ध हो जाना है। जिससे बेचारा प्राणी परिस्थितियों से अतीत जो वास्तविक पूर्ण जीवन है, उससे विमुख हो जाता है।

प्रत्येक अवस्था स्वभाव से ही सीमित तथा परिवर्तनशील है। उससे सुख की आशा करते ही प्राणी परिच्छिन्नता में आबद्ध हो जाता है; अथवा यों कहो कि अनन्त से विमुख हो जाता है। इस दृष्टि से वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति किसी से भी सुख की आशा करना, अथवा उनमें जीवन-बुद्धि स्वीकार करना, अथवा उनके आधार पर अपना महत्त्व आँकना अपने को वास्तविकता

से दूर करना है और अनेक प्रकार के अभाव में आबद्ध हो जाना है जिससे चित्त-अशुद्ध हो जाता है।

सुख-भोग तथा सुख की आशा में आबद्ध प्राणी का चित्त न तो स्वस्थ ही हो सकता है और न शान्त एवं शुद्ध ही। चित्त के स्वस्थ विना हुए कभी प्राणी प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग नहीं कर सकता, चित्त की शान्ति के विना आवश्यक सामर्थ्य का विकास नहीं हो सकता और चित्त की शुद्धि के विना पवित्र भाव का प्रादुर्भाव नहीं होता। प्राप्त परिस्थितिका सदुपयोग किए विना न तो उत्कृष्ट परिस्थिति ही प्राप्त होती है और न परिस्थितियों से अतीत के जीवन में प्रवेश ही हो सकता है। आवश्यक सामर्थ्य के विना न तो स्वाधीनता ही प्राप्त होती है और न प्राणी सीमित सामर्थ्य के मिथ्या अभिमान से ही मुक्त हो पाता है। पवित्र भाव के विना न तो कर्म में शुद्धि ही आती है और न हृदय में सरसता एवं प्रीति का ही संचार होता है।

शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि वस्तुओं की सत्ता स्वीकार करने पर उनसे ममता हो जाती है; अथवा यों कहो कि उनमें ही अहम्-बुद्धि बन जाती है जिससे काम की उत्पत्ति होती है और काम की भूमि में ही अनेक कामनाओं का जन्म होता है, जिनकी पूर्ति के लिए वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति, अवस्था आदि से सम्बन्ध हो जाता है। सम्बन्ध होते ही समस्त दोष स्वतः उत्पन्न होने लगते हैं जो चित्त को अशुद्ध कर देते हैं। यह नियम है कि जिन वस्तुओं, व्यक्तियों आदि से केवल मानी हुई एकता है, जातीय तथा स्वरूप की नहीं, उनसे नित्य-सम्बन्ध हो नहीं सकता। जिनसे नित्य सम्बन्ध हो नहीं सकता उनकी स्वतंत्र सत्ता सिद्ध नहीं होती। जिनकी स्वतंत्र सत्ता नहीं है उनसे सम्बन्ध स्वीकार करना केवल चित्त को अशुद्ध ही करना है। अतः वस्तुओं के सदुपयोग तथा

व्यक्तियों की सेवा के द्वारा उनसे सम्बन्ध विच्छेद करना अनिवार्य है; क्योंकि उसके बिना लोभ-मोह आदि दोषों की निवृत्ति सम्भव नहीं है। लोभ-मोह आदि दोषों का अन्त बिना हुए न तो वस्तुओं का सदुपयोग ही हो सकता है, और न व्यक्तियों की सेवा ही हो सकती है। वस्तुओं के सदुपयोग के बिना प्राणी उनकी दासता से मुक्त नहीं हो सकता और न जड़ता से ही ऊपर उठ सकता है। व्यक्तियों की सेवा के बिना परस्पर में स्नेह की एकता सम्भव नहीं है, स्नेह की एकता के बिना पारस्परिक संघर्ष नहीं मिट सकते, संघर्षों का अन्त हुए बिना निर्वैरता, निर्भयता, समता, मुदिता आदि दिव्य गुणों की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती और दिव्य गुणों की अभिव्यक्ति हुए बिना चित्त शुद्ध, शांत तथा स्वस्थ नहीं हो सकता।

यद्यपि शरीर का अस्तित्व सृष्टि से भिन्न नहीं है। जिस प्रकार समुद्र की कोई भी लहर समुद्र से भिन्न नहीं होती उसी प्रकार प्रत्येक वस्तु सृष्टि से अभिन्न है, अथवा यों कहो कि शरीर और संसार में भेद और भिन्नता केवल प्रतीति-मात्र है, वास्तविक नहीं। इस दृष्टि से किसी भी वस्तु की स्वीकृति समस्त सृष्टि की स्वीकृति है, और सृष्टि की स्वीकृति में ही वस्तु की स्वीकृति है। वस्तु और सृष्टि का विभाजन नहीं हो सकता अतः वस्तु के ज्ञान में ही सृष्टि का ज्ञान निहित है। भिन्न-भिन्न वस्तुओं के गुणों में भले ही भेद हो, पर सारी सृष्टि किसी एक ही धातु से निर्मित है।

प्राकृतिक नियम के अनुसार प्रत्येक उत्पत्ति के मूल में किसी अनुत्पन्न तत्त्व का होना अनिवार्य है क्योंकि उत्पत्ति किसी से होगी। बिना आधार के उत्पत्ति हो ही नहीं सकती। इस दृष्टि से उत्पत्ति-विनाश के ज्ञान में अनुत्पन्न तत्त्व की स्वीकृति स्वतः

सिद्ध है। यद्यपि जिससे जिसकी उत्पत्ति होती है उसमें सत्ता उसी की होती है जिससे उसकी उत्पत्ति हुई है, परन्तु प्रतीति उसकी होती है जो उत्पन्न हुआ है और जो अनुत्पन्न तत्त्व है उसकी प्रतीति नहीं होती। उत्पन्न हुई वस्तु अपने को अपने आप प्रकाशित नहीं करती, अपितु उसी से प्रकाशित होती है जिससे वह उत्पन्न हुई है। इस दृष्टि से समस्त सृष्टि का जो प्रकाशक है उसी से सृष्टि की उत्पत्ति हुई है, अथवा यों कहो कि सृष्टि में सत्ता उसी की है जिससे वह प्रकाशित है, क्योंकि पर-प्रकाश्य वस्तु का स्वतंत्र अस्तित्व हो ही नहीं सकता। जिसका स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है उसकी स्वतंत्र सत्ता स्वीकार करना, उससे सुख की आशा करना और उसमें जीवन-बुद्धि स्वीकार करना अथवा उससे ममता करना चित्त को अशुद्ध करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

जिसकी स्वतंत्र सत्ता नहीं है उसकी सेवा की जा सकती है, उससे ममता करना अथवा उससे सुख की आशा करना भूल है। सेवा-भाव ज्यों-ज्यों सबल तथा स्थायी होता जाता है त्यों-त्यों स्वार्थ-भाव स्वतः मिटता जाता है। स्वार्थ-भाव का अंत होते ही सुख-भोग तथा सुख की आशा सदा के लिए मिट जाती है और फिर चित्त शुद्ध हो जाता है। सेवा भाव है, कर्म नहीं। इस दृष्टि से छोटी बड़ी सेवा समान अर्थ रखती है। सेवा का स्वरूप है प्राप्त सुख किसी दुखी की भेंट कर देना, और उसके बदले में सेवक कहलाने तक की भी आशा न करना। सेवक कहलाने की लालसा भी स्वार्थ ही है। स्वार्थ-भाव के रहते हुए बड़ी से बड़ी सेवा भी सेवा नहीं है। स्वार्थभाव गलने पर ही सेवा सम्भव है। सेवा सुख-भोग की आसक्ति को खाकर सेवक के हृदय को करुणा तथा उदारता से भरपूर कर देती है। उदारता संग्रह को और करुणा शुष्कता एवं कटुता को खाकर सेवक को अपरिग्रही तथा द्रवीभूत बना देती है

जिसके होते ही सेवा पूजा तथा प्रेम में परिवर्तित हो जाती है।

सेवा उसी अंश में हो सकती है जिस अंश में सेवक सुखी है, क्योंकि सेवा सुखी का साधन है, अथवा यों कहो कि जिसका हृदय पराए दुःख से भरा रहे वह सेवा कर सकता है, क्योंकि सेवा सुख देकर दुःख लेने का पाठ पढ़ाती है। पराया दुःख अपना हो जाने पर प्राणी दुखी नहीं रहता, क्योंकि पर-दुख से दुःखी होने में जिस रस की निष्पत्ति होती है उसकी समानता किसी भी सुख-भोग में नहीं है। सुख-भोग से तो चित्त अशुद्ध ही होता है, पर उस रस से चित्त शुद्ध हो जाता है।

सेवा की पूर्णता में पूजा का उदय अपने आप होता है। कारण कि सुखासक्ति का अत्यन्त अभाव होने पर राग-द्वेष मिट जाता है, जिसके मिटते ही त्याग तथा प्रेम स्वतः आ जाता है। त्याग के आते ही निरभिमानता एवं समर्पण-भाव स्वतः जागृत होता है। निरभिमानता तथा समर्पण भाव ही वास्तविक पूजा है। पूजा की पूर्णता में प्रेम का उदय है।

प्रेम के साम्राज्य में प्रेम तथा प्रेमास्पद से भिन्न की सत्ता ही शेष नहीं रहती। इतना ही नहीं, प्रेमी और प्रेमास्पद का भेद भी स्वतः गल जाता है, क्योंकि प्रेम में प्रेम का ही आदान-प्रदान है। इस कारण प्रेमी प्रेमास्पद और प्रेमास्पद प्रेमी हो जाता है; अथवा यों कहो कि कौन प्रेमी है और कौन प्रेमास्पद इसका भास ही नहीं रहता। प्रेम क्षति, पूर्ति तथा निवृत्ति से रहित है। निवृत्ति काम की होती है प्रेम की नहीं, पूर्ति जिज्ञासा की होती है प्रेम की नहीं; और क्षति सुखभोग की होती है प्रेम की नहीं। प्रेम की तो उत्तरोत्तर वृद्धि ही होती है। प्रेम स्वभाव से ही रसरूप है तथा अगाध और अनन्त है; इस कारण अनिर्वचनीय तत्त्व है।

विश्व की सेवा प्राप्त सामर्थ्य, योग्यता तथा वस्तुओं के द्वारा

सुख-भोग तथा सुख की आशा का अंत करने के लिए अनिवार्य है, क्योंकि उसका अंत हुए विना चित्त शुद्ध नहीं हो सकता। चित्त की शुद्धि में ही उसका स्वस्थ तथा शान्त होना भी निहित है। यदि कोई साधक अपने को सेवा करने में असमर्थ मानता है तो उसे त्याग को अपना लेना चाहिए। त्याग के अपना लेने पर सेवा-पूजा तथा प्रेम का सामर्थ्य स्वतः आ जाता है। शरीर आदि किसी भी वस्तु को अपना न मानना और किसी से भी किसी प्रकार भी सुख की आशा न करना, अर्थात् चाह-रहित होना, अथवा यों कहो कि 'अहम्' और 'मम' का अंत करना ही त्याग का वास्तविक स्वरूप है।

यह नियम है कि सब प्रकार की चाह का अन्त होते ही जिसकी स्वतंत्र सत्ता नहीं है, अर्थात् जो केवल प्रतीति मात्र है, उसकी निवृत्ति हो जाती है और जिसकी स्वतंत्र सत्ता है उस अनन्त की प्राप्ति हो जाती है। चाह-रहित होने में निर्बल से निर्बल व्यक्ति भी सर्वदा स्वाधीन है, परन्तु उसके लिए प्राणी को जीवन में ही मृत्यु का अनुभव करना होगा। संसार से सच्ची निराशा जीवन ही में मृत्यु का अनुभव है।

चाह की उत्पत्ति, जिसकी स्वतंत्र सत्ता नहीं है, उससे सम्बन्ध जोड़ देती है और जो सर्वत्र सर्वदा ज्यों का त्यों है उससे दूरी उत्पन्न कर देती है। इस दृष्टि से चाह-रहित होना परम अनिवार्य है। चाह-रहित होने के लिए, जो प्रतीति-मात्र है उसकी सत्ता को अस्वीकार न करना अपितु उसमें उसी का दर्शन करना, जिसके प्रकाश से वह प्रकाशित है, आवश्यक है; अथवा यों कहो कि असत् का त्याग और सत् को अपना लेना ही चाह-रहित होने का सुगम उपाय है। यह नियम है कि असत् के त्याग में ही सत् की

प्राप्ति निहित है। असत् को असत् जान लेने पर उसके त्याग का सामर्थ्य स्वतः आ जाता है।

असत् के त्याग तथा सेवा, पूजा और प्रेम से चित्त शुद्ध, शान्त तथा स्वस्थ हो जाता है।

८-६-५६

: ३८ :

मेरे निज स्वरूप परमप्रिय,

जब प्राणी अपने को जाने बिना किसी मान्यता को स्वीकार कर मिथ्या अभिमान में आबद्ध हो जाता है तब उसका चित्त अशुद्ध हो जाता है। कारण कि मिथ्याभिमान से भेद की उत्पत्ति होती है, जिसके होते ही काम उत्पन्न होता है। काम की भूमि में ही कामनाएँ जन्म पाती हैं जिनकी पूर्ति-अपूर्ति के सुख-दुःख में आबद्ध होने से प्राणी का चित्त अशुद्ध हो जाता है।

चित्त के अशुद्ध होते ही बेचारा प्राणी दीनता तथा अभिमान की अग्नि में जलने लगता है। इतना ही नहीं, अनेक प्रकार के अभावों में ग्रसित होने से उसे वर्तमान वस्तुस्थिति में सन्देह की व्यथा उदय होती है।

यदि वह व्यथा वर्तमान जीवन की वस्तु बन जाय तो वास्तविक जीवन की जिज्ञासा जागृत कर देती है। परन्तु यदि किसी कारण उस व्यथा में शिथिलता आ जाय तो प्राणी इन्द्रिय-जन्य ज्ञान के आधार पर कोई न कोई काल्पनिक चित्र की स्थापना कर उसे अपने जीवन का उद्देश्य बनाकर किसी अप्राप्त परिस्थिति की प्राप्ति के लिए कार्य-क्रम बना लेता है। यदि वह कार्य-क्रम सफल हो गया तो कुछ काल जीवन के मूल प्रश्न को भूल जाता है, और परिस्थिति-जन्य, परिवर्तनशील सुख में सन्तोष कर बैठता है, पर

यह स्थिति उसके मूल प्रश्न को हल नहीं कर पाती, अथवा यों कहो कि मूल प्रश्न कुछ काल के लिए दब सा जाता है, मिटता नहीं। और यदि अपनी काल्पनिक परिस्थिति को प्राप्त करने में असफल हो गया तो भयभीत होकर मिथ्या अहङ्कार को जागृत कर परिस्थिति से संघर्ष करने लगता है; अथवा यों कहो कि काल्पनिक आशाओं में विचरने लगता है। उसका परिणाम यह होता है कि जो जीवन का मूल प्रश्न था, जिसका हल होना वर्तमान जीवन की वस्तु है, उसे कालान्तर की वस्तु मानकर उसकी ओर से उदासीन हो जाता है और जो न तो वर्तमान में ही प्राप्त हो सकता है और न कालान्तर में ही निश्चित रूप से जिसकी प्राप्ति सम्भव है, इतना ही नहीं यदि,प्राप्त भी हो जाय तो भी उससे नित्य सम्बन्ध नहीं रह सकता, यह जानते हुए भी उसके लिए प्रयास करता रहता है जिससे चित्त उत्तरोत्तर अशुद्ध ही होता जाता है।

प्राकृतिक नियम के अनुसार सभी कार्य-क्रम उसकी प्राप्ति के लिए बनाए जाते हैं जो उत्पत्ति-विनाश-युक्त है, अर्थात् किसी अप्राप्त परिस्थिति के लिए ही कार्य-क्रम बनता है, यद्यपि प्रत्येक परिस्थिति अभाव-रूप है, परिवर्तनशील है क्योंकि जो उत्पत्ति से पूर्व नहीं है वह प्राप्त होने पर भी न रहेगी। इस कारण सभी परिस्थितियों में जीवन का मूल प्रश्न ज्यों का त्यों रहता है। परिस्थितियों के आधार पर बेचारा प्राणी अपने को सफल-असफल मानकर सुखी-दुखी होता रहता है।

सुख-दुःख का द्वन्द्व उसे विश्राम नहीं लेने देता, जिसके बिना न तो प्राप्त सामर्थ्य का सदुपयोग ही हो पाता है और न आवश्यक सामर्थ्य का विकास ही होता है। प्राप्त सामर्थ्य के सदुपयोग से ही जीवन का मूल प्रश्न हल हो सकता है, पर कब? जब परिस्थितियों में जीवन-बुद्धि न हो। परिस्थितियों में जीवन-बुद्धि न रहने

से प्रतिकूलता का भय, अनुकूलता की दासता स्वतः मिट जाती है और किसी अप्राप्त परिस्थिति का आवाहन नहीं होता। प्रतिकूलता का भय मिटते ही प्राप्त बल का सदुपयोग होने लगता है, और अनुकूलता की दासता मिटते ही प्राप्त विवेक का आदर होने लगता है। प्राप्त बल के सदुपयोग से निर्बलता मिट जाती है, अर्थात् आवश्यक बल स्वतः प्राप्त होता है और प्राप्त विवेक के आदर से दूसरों के अधिकार और अपने कर्त्तव्य का ज्ञान हो जाता है और परिस्थितियों से अतीत के जीवन की उत्कट लालसा जागृत होती है। आवश्यक बल की प्राप्ति तथा कर्त्तव्य के ज्ञान से कर्त्तव्य-परायणता आती है। कर्त्तव्यनिष्ठ होते ही प्राणी विद्यमान राग से रहित हो जाता है और परिस्थितियों से अतीत के जीवन की उत्कट लालसा नवीन राग की उत्पत्ति नहीं होने देती। जब विद्यमान राग की निवृत्ति हो जाती है और नवीन राग की उत्पत्ति नहीं होती, तब चित्त स्वतः शुद्ध हो जाता है।

परिस्थिति में जीवन-बुद्धि स्वीकार करने का एक मात्र कारण यह है कि प्राणी अपने सम्बन्ध में निस्सन्देह नहीं होता। अपने सम्बन्ध में निस्सन्देह न होने से अपने लक्ष्य के सम्बन्ध में भी सन्देह-रहित नहीं होता और लक्ष्य के सम्बन्ध में सन्देह युक्त होने के कारण अपने साधन के सम्बन्ध में भी निस्सन्देह नहीं होता। अपने सम्बन्ध में सन्देह-रहित होने से साधन और साध्य के सम्बन्ध में भी सन्देह नहीं रहता। अपने सम्बन्ध में निस्सन्देह होने के लिए यह अनिवार्य है कि प्राणी अपने को उन सभी स्वीकृतियों से मुक्त कर ले जिन मान्यताओं में उसने अपने को आबद्ध कर लिया है। यदि किसी कारण प्राणी सभी मान्यताओं का अन्त करने में अपने को असमर्थ पाता हो तो उसे अपने सम्बन्ध में किसी एक ऐसी मान्यता को विकल्प-रहित विश्वास

के आधार पर स्वीकार कर लेना चाहिए जिस मान्यता का परिवर्त्तन न हो, अर्थात् जो नित्य हो। सभी मान्यताओं का अन्त करने से जिस वास्तविकता का बोध होता है, किसी एक नित्य मान्यता की स्वीकृति द्वारा भी उसी वास्तविकता से अभिन्नता होती है। इस दृष्टि से चाहे विचारपूर्वक सभी मान्यताओं का अन्त कर दिया जाय अथवा विश्वासपूर्वक किसी नित्य मान्यता को स्वीकार कर लिया जाय तो प्राणी अपने सम्बन्ध में सन्देह-रहित हो सकता है।

समस्त मान्यताओं का नाश वही प्राणी कर सकता है जो विषयों को इन्द्रियों के, इन्द्रियों को मन के और मन को बुद्धि के अधीन करने में समर्थ हो, अर्थात् जिसमें मन और बुद्धि का द्वंद्व शेष न रहे। जिसके न रहने पर बुद्धि समता में स्थित हो जाती है, जिसके होते ही स्वतः विचार उदय होता है, जो सभी मान्यताओं को खाकर मान्यताओं से अतीत के जीवन से अभिन्न कर देता है।

समस्त मान्यताओं का नाश होते ही निर्वासना आ जाती है और निर्वासना आते ही मिथ्या अभिमान स्वतः गल जाता है फिर किसी प्रकार का भेद शेष नहीं रहता। भेद के नाश में ही काम का अन्त है और काम का अंत होते ही चित्त स्वतः शुद्ध शांत तथा स्वस्थ हो जाता है जिसके होते ही जीवन प्रेम से ओत-प्रोत हो जाता है। प्रेम की प्राप्ति में ही जीवन की पूर्णता है। कामनाओं की निवृत्ति और जिज्ञासा की पूर्ति होने पर ही प्रेम की प्राप्ति होती है। चित्त शुद्ध होने पर कामनाओं का नाश और जिज्ञासा की पूर्ति स्वतः हो जाती है।

मिथ्या अभिमान से भेद और भेद से काम की उत्पत्ति होती है जो वासनाओं की भूमि है। वासनाओं का अन्त विचार से

और विचार का उदय बुद्धि के सम होने पर स्वतः होता है। बुद्धि की समता मन की निर्विकल्पता में निहित है और मन की निर्विकल्पता इन्द्रिय-ज्ञान का प्रभाव नष्ट होने पर सुरक्षित रहती है। इन्द्रिय-ज्ञान में सन्देह होने पर जिज्ञासा जागृत होती है। जिज्ञासा की जागृति इन्द्रिय-ज्ञान के प्रभाव को खा लेती है।

मिथ्या अभिमान के रहते हुए प्राणी अपने को भोगासक्ति में आबद्ध कर लेता है। भोग की क्षण-भंगुरता का ज्ञान भोगासक्ति से मुक्त करने में समर्थ है, क्योंकि उस ज्ञान से ही सन्देह की व्यथा जागृति होती है। यदि प्राणी उस व्यथा को सुख की आशा से न दबाए तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक जिज्ञासा की जागृति भोगासक्ति का नाश कर मिथ्या अभिमान का अन्त कर देती है।

मिथ्या अभिमान में अनेक मान्यताएँ उत्पन्न होती हैं परन्तु प्रत्येक मान्यता के मूल में किसी की कामना, जिज्ञासा तथा लालसा रहती है। कामना-पूर्ति का प्रलोभन जिज्ञासा तथा लालसा को सबल तथा स्थायी नहीं होने देता, परन्तु लालसा तथा जिज्ञासा का अन्त भी नहीं होता। कामना भोग्य वस्तु की प्रियता और जिज्ञासा निस्सन्देहता की प्रियता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। भोग्य वस्तु की असारता का ज्ञान उसकी भोग की आसक्ति का नाश करने में समर्थ है। भोगासक्ति का नाश भोग की प्रियता को जिज्ञासा में परिवर्त्तित कर देता है। जिस काल में जिज्ञासा की पूर्ण जागृति होती है उसी काल में उसकी पूर्ति हो जाती है जिज्ञासा की पूर्ति जिस अनन्त से अभिन्न करती है, प्रियता उसी अनन्त का प्रेम हो जाती है। इस दृष्टि से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राणी में एक स्वाभाविक प्रियता है। जब उसका सम्बन्ध देहाभिमान से होता है तब वह अनेक कामनाओं के रूप में प्रतीत होती है और जब उस प्रियता का सम्बन्ध सन्देह

की वेदना से हो जाता है तब वह जिज्ञासा का रूप धारण कर निस्सन्देहता प्रदान करती है। निस्सन्देहता जिसका बोध कराती है, प्रियता उसी का प्रेम है। इस दृष्टि से यदि प्राणी अपने संबंध में यह स्वीकार करे कि मैं केवल प्रीति हूँ तो अनेक मान्यताएँ प्रीति में विलीन हो सकती हैं, और इस मान्यता का परिवर्तन नहीं हो सकता और न अभाव हो सकता है, अर्थात् अपने को प्रीति स्वीकार करना ही वास्तविक एक नित्य मान्यता है।

प्रीति स्वभाव से ही दिव्य, चिन्मय तथा विभु है। कारण कि प्रीति सुख की आशा को खा लेती है और नित-नूतन रस प्रदान करती है। जो सुख की आशा से रहित है वह दिव्य है। जो दिव्य है वह चिन्मय है और जो चिन्मय है वह विभु है। प्रीति का उद्गम-स्थान अचाह में है, क्योंकि चाहरहित हुए बिना प्रीति का उदय होता ही नहीं। इस दृष्टि से प्रीति की भूमि बन्धन से रहित है; अथवा यों कहो कि मुक्ति ही प्रीति का उद्गम स्थान है। प्रीति स्वभाव से ही दूरी तथा भेद का नाशक है। इस कारण प्रीति देश-काल की परिधि से अतीत है। प्रीति क्षति-पूर्त्ति एवं निवृत्ति से रहित होने से नित-नूतन है और रसरूप होने से आनन्दामृत-वर्षिणी है, अथवा यों कहो कि प्रीति आनन्द को भी आनन्दित करती है। प्रीति में ही समस्त साधनों की समाप्ति है। प्रीति के बिना कभी किसी को रस की उपलब्धि हो ही नहीं सकती। उसके बिना खिन्नता, क्षोभ, क्रोध, राग आदि विकारों का अन्त हो ही नहीं सकता। प्रीति से अभिन्नता होने पर ही काम का नाश हो सकता है; अथवा यों कहो कि अपने को प्रीति स्वीकार करने पर प्राणी काम-रहित हो जाता है। काम का अन्त होते ही कामनाएँ स्वतः मिट जाती हैं और फिर मिथ्या-अभिमान अपने आप गल जाता है। इस दृष्टि से प्रीति और विचार दोनों ही का

परिणाम एक है। विचार असत् को असत् जानकर असत् से असंगता और सत् से अभिन्नता प्रदान करता है, और प्रीति प्रीतम को रस प्रदान कर प्रीतम से अभिन्न हो जाती है। अथवा यों कहो कि प्रीति प्रीतम का ही स्वभाव है, और कुछ नहीं। इतना ही नहीं, प्रीति और प्रीतम से भिन्न कभी किसी को किसी और का अनुभव ही नहीं है। प्रीति देहाभिमानियों में आसक्ति के रूप में भासित होती है। आसक्त प्राणी अपनी आसक्त वस्तुओं में आबद्ध रहता है। इस दृष्टि से आसक्ति भी किसी की प्रीति ही है, परन्तु अविवेक के कारण उसमें निर्मलता नहीं है। इसीलिए आसक्ति त्याज्य है, परन्तु आसक्ति में जो मिठास है वह भी स्वार्थपरायण प्रीति ही है। जिज्ञासा और तत्त्व-ज्ञान में एकता प्रदान करने में भी प्रीति का ही चमत्कार है, कारण कि निस्सन्देहता की प्रीति ही जिज्ञासा का स्वरूप है। सभी स्तरों में जहाँ कहीं रस की निष्पत्ति है, वहाँ किसी-न-किसी रूप में प्रीति का ही चमत्कार है, परन्तु जब प्रीति अपने को सभी काल्पनिक मान्यताओं से मुक्त कर लेती है तब वह अपने निर्मल स्वरूप से अभिन्न हो जाती है। जिसके होते ही उस अनन्त को जो सब प्रकार से पूर्ण है, रस प्रदान करती है, अथवा यों कहो कि उसके प्रेम को पाकर सर्वदा नित-नूतन बनी रहती है। प्रीति का उदय होता है, पर अन्त नहीं, और न कभी पूर्ति ही होती है, क्योंकि अनन्त की प्रीति अनन्त ही है। पूर्ति-निवृत्ति न होने से नित-नूतन रस की निष्पत्ति कराने में प्रीति ही समर्थ है। प्रीति में प्रीतम से भिन्न और किसी की सत्ता नहीं है।

सभी मान्यताओं से अतीत जो है, वही प्रीति का आश्रय भी है। उन दोनों में स्वरूप की एकता है। प्रीति सभी में, और सभी से अतीत में निवास करती है। परन्तु किसी सीमित वस्तु, अवस्था, परिस्थिति में आबद्ध नहीं होती। यही प्रीति और

आसक्ति में भेद है। जिज्ञासा कामनाओं को खाकर स्वतः पूरी हो जाती है पर प्रीति की कभी पूर्ति नहीं होती, यही जिज्ञासा और प्रीति में भेद है। प्रीति प्रियतम में, और प्रियतम प्रीति में निवास करते हैं, और वे दोनों ही अनन्त हैं, अथवा यों कहो कि प्रीति एक में दो और दो में एकता का विलक्षण दर्शन कराती है। प्रीति की अभिन्नता सर्वदा रस रूप है। सभी मान्यताओं का अन्त होने पर और अपने को प्रीति स्वीकार करने पर मिथ्या अभिमान गल जाता है जिसके गलते ही चित्त शुद्ध हो जाता है।

९-६-५६

: ३९ :

मेरे निज स्वरूप परमप्रिय,

व्यक्तिगत दुःख से भयभीत प्राणी सुख की दासता में आबद्ध होकर चित्त को अशुद्ध कर लेता है। यद्यपि दुःख प्राकृतिक विधान है, परन्तु उससे भयभीत होना असावधानी के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। प्राणी का व्यक्तिगत दुःख उसे सामूहिक दुःख का बोध कराने में साधन-मात्र है। सामूहिक दुःख की अनुभूति प्राणी को सुख की दासता में आबद्ध नहीं करती; अपितु दुःख से अतीत के जीवन की लालसा जागृत करती है। इस दृष्टि से सामूहिक दुःख की अनुभूति में प्राणी का विकास निहित है। अतः व्यक्तिगत दुःख से भयभीत न होकर उसके द्वारा सामूहिक दुःख का अनुभव करना अनिवार्य है। ऐसा करते ही व्यक्तिगत दुःख भी दुःख से अतीत के जीवन की प्राप्ति में साधन हो सकता है।

दुःख सुख से चित्त अशुद्ध नहीं होता प्रत्युत दुःख के भय एवं सुख की दासता से चित्त अशुद्ध होता है। दुःख का प्रभाव जीवन में जागृति लाता है और दुःख का भय प्राप्त सामर्थ्य का ह्रास करता है। सुख का सद्व्यय प्राणी को उदार बनाने में समर्थ है, और उसकी दासता जड़ता में आबद्ध करती है। दुःख का भय तथा सुख की दासता प्राणी को शक्तिहीनता तथा जड़ता में आबद्ध करती है, जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है। दुःख के प्रभाव से प्राप्त

जागृति और सुख के सद्व्यय से प्राप्त उदारता चित्त को शुद्ध कर देती है।

जागृति परिस्थितियों से असङ्गता प्रदान करती है। उदारता सुख भोग की आसक्ति का अन्त करती है। असङ्गता से सभी कामनाओं का नाश हो जाता है, और सुख भोग की आसक्ति का अन्त होते ही दुःख का भय तथा सुख की लोलुपता मिट जाती है। सुख-लोलुपता तथा दुःख का भय मिटते ही स्वाधीनता तथा निर्भयता और कामनाओं का नाश होते ही निस्सन्देहता स्वतः आजाती है। स्वाधीनता, निर्भयता एवं निस्सन्देहता में चित्त की शुद्धि निहित है।

परिस्थितिजन्य दुःख-सुख की दासता में और विवेक-जन्य दुःख सत्य की खोज में प्रवृत्त करता है क्योंकि विवेकजन्य दुःख में संसार के स्वरूप का ज्ञान होता है, अथवा यों कहो कि संसार के स्वरूप के ज्ञान से विवेक-जनित दुःख उदित होता है। विवेक-जनित दुःख सजीव है और घटना-जनित दुःख निर्जीव है। सजीव दुःख सामर्थ्य प्रदान करता है और निर्जीव दुःख-सुख-लोलुपता उत्पन्न करता है। सुखलोलुपता उत्तरोत्तर प्राणी को शक्तिहीन बनाती है एवं जड़ता की ओर गतिशील करती है और सजीव दुःख से प्राप्त सामर्थ्य साधक को असत् से सत् की ओर, पराधीनता से स्वाधीनता की ओर, और जड़ता से चिन्मयता की ओर गतिशील करती है। इस दृष्टि से सजीव दुःख बड़े ही महत्त्व की वस्तु है और निर्जीव दुःख में आवद्ध रहना सर्वथा निन्दनीय है। प्राकृतिक नियम के अनुसार प्रत्येक परिस्थिति में दुःख है, पर सुख का प्रलोभन उस दुःख का भास नहीं होने देता। सुख के प्रलोभन से दबाया हुआ दुःख सर्वदा नवीन दुःख को जन्म देता रहता है। इतना ही नहीं ज्यों-ज्यों सुख का प्रलोभन बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों

उत्तरोत्तर परिस्थिति जनित दुःख उत्पन्न होता रहता है। परिस्थिति-जनित दुःख से कोई भी प्राणी बच नहीं सकता। जिससे बच नहीं सकते, उससे भयभीत होना कुछ अर्थ नहीं रखता। अतः परिस्थिति-जनित दुःख से भी भयभीत न होकर सुख के प्रलोभन का त्याग करना चाहिए। जिसके होते ही परिस्थिति-जनित दुःख भी सजीव हो जावेगा, जो साधन रूप है।

दुःख को सजीव बनाने के लिए सर्वदा तत्पर रहना चाहिए, क्योंकि सजीव दुःख से ही दुःख की निवृत्ति तथा आनन्द की उपलब्धि एवं असत्य का त्याग और सत्य की प्राप्ति हो सकती है।

सामूहिक दुःख की विमुखता व्यक्तिगत दुःख से भयभीत करती है। इस कारण सामूहिक दुःख पर दृष्टि रखना अनिवार्य है; क्योंकि उसके बिना न तो प्राणी सत्य की खोज ही कर सकता है और न असत् को असत् जानकर भी उसके त्याग में समर्थ होता है। असत् के त्याग के बिना सत् से अभिन्नता हो नहीं सकती और सामूहिक दुःख से दुखी हुए बिना असत् के त्याग की योग्यता नहीं आती। अतः सामूहिक दुःख को अपना लेने में ही प्राणी का हित है। सामूहिक दुःख चित्त को करुणित तथा द्रवीभूत बनाता है जिससे चित्त में अंकित सुख का राग मिट जाता है और अनुराग का उदय होता है जिसके होते ही काम का अन्त हो जाता है जिससे चित्त शुद्ध, शान्त तथा स्वस्थ हो जाता है।

व्यक्तिगत दुख के भय से भयभीत प्राणी असत् को असत् जान लेने पर भी उसका त्याग नहीं करता, प्रत्युत असत् के द्वारा सुख सम्पादन में लगा रहता है। यद्यपि उसका परिणाम अहितकर ही सिद्ध होता है, परन्तु व्यक्तिगत दुःख का भय उसे प्रमादी बना देता है। इस भयंकर स्थिति से मुक्त होने के लिए यह

अनिवार्य है कि असत् को असत् जानकर उसका त्याग किया जाय। असत् से सुख सम्पादन की आशा न की जाय।

असत् का त्याग वर्त्तमान की वस्तु है और उसके त्याग से ही सत् से अभिन्नता होती है। असत् के त्याग में प्राणी पराधीन नहीं है, अपितु सर्वदा स्वाधीन है; कारण कि असत् स्वयं ही उसका त्याग कर देता है जो उसे अपनाना चाहता है। अर्थात् जो स्वयं अलग हो रहा है उससे सम्बन्ध-विच्छेद करना ही असत का त्याग है। असत् का त्याग और असत् से अभिन्नता युग पद है। अथवा यों कहो कि असत् के त्याग में ही सत् का प्रेम निहित है क्योंकि किसी का त्याग ही किसी का प्रेम होता है। त्याग अभ्यास नहीं है; अपितु श्रमरहित सहज साधन है और विवेक सिद्ध है। इसी कारण त्याग वर्तमान में ही फल देता है। त्याग असत् से मुक्त करता है और प्रेम असत् से अभिन्न करता है। त्याग और प्रेम दोनों ही स्वाभाविक सहज साधन हैं। त्याग और प्रेम को अपना लेने पर चित्त स्वतः शुद्ध हो जाता है।

चित्त की अशुद्धि से ही प्राणी सुख की दासता तथा दुःख के भय में आबद्ध होता है; अथवा यों कहो कि सुख की दासता तथा दुःख के भय से चित्त अशुद्ध होता है। इन दोनों के मूल में अविवेक ही हेतु है। क्योंकि अविवेक से ही देहाभिमान दृढ़ होता है और उससे ही अनेक प्रकार के सुख-दुःख उत्पन्न होते हैं। देहाभिमान के कारण ही आदर, अनादर, लाभ, हानि, संयोग, वियोग का सुख-दुःख होता है। यदि चित्त से लोभ, मोह की अशुद्धि निवृत्त हो जाय तो आदर-अनादर, हानि-लाभ तथा संयोग वियोग का सुख-दुःख स्वतः मिट जाता है। क्योंकि लोभ के दोष में ही हानि-लाभ का सुख-दुःख निहित है और मोह के दोष में ही संयोग वियोग, आदर, अनादर का सुख-दुःख निहित है। लोभ और

मोह का दोष अपने को देह मान लेने पर उत्पन्न होता है। अपने को देह मान लेना केवल अविवेकसिद्ध है।

वियोग, हानि, अनादर का भय मिटने पर लाभ, संयोग, आदर का प्रलोभन स्वतः मिट जाता है। निर्लोभता के बिना हानि का भय और निर्मोहता के बिना अनादर तथा वियोग का भय मिट नहीं सकता। अपने को देह से अलग अनुभव बिना किए निर्मोहता प्राप्त नहीं हो सकती और वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप को बिना जाने निर्लोभता आ नहीं सकती। इस दृष्टि से अपने को देह से अलग अनुभव करना और वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप को जानना अनिवार्य है, जो विवेकसिद्ध है। विवेक प्रत्येक साधक को स्वतः प्राप्त है, अथवा यों कहो कि अनन्त की देन है। इतना ही नहीं, विवेक ही आदि गुरु-तत्त्व है। उसी में कर्त्तव्य तथा लक्ष्य का ज्ञान विद्यमान है। उसके अनादर से ही चित्त अशुद्ध हो गया है, पर यह रहस्य चित्त शुद्ध होने पर ही स्पष्ट होता है। उससे पूर्व तो व्यक्तिगत दुःख का भय और सुख का प्रलोभन ही जीवन प्रतीत होता है, जो वास्तव में अविवेकसिद्ध है।

वस्तु, सामर्थ्य तथा योग्यता के द्वारा व्यक्तियों की सेवा चित्त को शुद्ध करती है और व्यक्तियों के द्वारा सुख का भोग तथा सुख की आशा चित्त को अशुद्ध करती है। यद्यपि वस्तु की अपेक्षा व्यक्ति अधिक महत्त्व की वस्तु है, परन्तु वास्तविक दृष्टि से तो व्यक्ति भी वस्तु ही है। इतना ही नहीं, अपनी देह भी एक वस्तु ही है और समस्त सृष्टि भी एक वस्तु ही है। ऐसी कोई वस्तु है ही नहीं, जो उत्पत्ति-विनाशयुक्त तथा पर-प्रकाश्य न हो। तो फिर वस्तुओं के द्वारा सुख की आशा करना और उनके अभाव में भय-भीत होना क्या युक्तियुक्त है? कदापि नहीं।

वस्तुओं की निरर्थकता का ज्ञान वस्तुओं की दासता से मुक्त

कर उनके सदुपयोग की प्रेरणा देता है, क्योंकि वस्तुओं के स्वरूप को जान लेने पर वस्तुओं से सम्बन्धविच्छेद हो जाता है, जिसके होते ही सभी वस्तुओं से अतीत के जीवन से अभिन्नता हो जाती है, जिसके होते ही चित्त शुद्ध हो जाता है। चित्त शुद्ध होने पर अनादर का भय और आदर की आशा मिट जाती है, क्योंकि देह-रूपी वस्तु से ममता नहीं रहती और न किसी से भिन्नता ही रहती है, अपितु स्नेह की एकता जीवन हो जाती है।

स्नेह की एकता प्राप्त होते ही सभी का आदर होने लगता है और अपने आदर की कामना शेष नहीं रहती। कामनाओं का अंत होते ही चित्त शुद्ध हो जाता है।

आदर की कामना प्राणी में तभी तक रहती है, जब तक वह आदर के योग्य नहीं है। आदर के योग्य कब तक नहीं है? जब तक उसकी प्रसन्नता किसी वस्तु, व्यक्ति आदि पर निर्भर है, कारण कि वस्तु, व्यक्ति आदि की दासता में ही अनादर निहित है। आदर के योग्य वही है, जिसकी प्रत्येक प्रवृत्ति में दूसरे का हित निहित है, अर्थात् सर्वहितकारी प्रवृत्ति से ही आदर मिलता है। स्वार्थभाव का अत्यन्त अभाव एवं सर्वात्मभाव की स्वीकृति में ही सर्वहितकारी प्रवृत्ति सम्भव है।

सर्वहितकारी प्रवृत्ति के अंत में निर्वासना स्वतः आ जाती है, जिसके आते ही निर्वैरता, निर्भयता, समता, मुदिता आदि दिव्य गुणों की अभिव्यक्ति स्वतः हो जाती है, जिसके होते ही चित्त शुद्ध हो जाता है।

स्वार्थ-भाव के अभाव में सर्वहितकारी भाव और सर्वहितकारी भाव में निष्कामता स्वतः सिद्ध है। निष्कामता राग को अनुराग में और भोग को योग में परिणत कर देती है। योग की पूर्णता में शांति, सामर्थ्य तथा स्वाधीनता निहित है और स्वाधीनता में निस्स-

न्देहता अर्थात् वास्तविकता का बोध स्वतः सिद्ध है, अथवा यों कहो कि निष्कामता की भूमि में योगरूपी वृक्ष स्वतः उगता है और उस पर तत्त्वज्ञानरूपी फल लगता है जो प्रेमरस से परिपूर्ण है। प्रेमरस से पूर्ण तत्त्वज्ञानरूपी फल प्राप्त होने पर ही निस्सन्देहता, अमरत्व तथा अगाध अनन्त रस की प्राप्ति होती है, जिसकी मांग प्राणी को स्वाभाविक है, परन्तु चित्त की अशुद्धि के कारण प्राणी उससे विमुख हो गया है। अतः व्यक्तिगत सुख की दासता तथा दुःख के भय का अंत कर सामूहिक दुःख को अपनाकर चित्त को शान्त, शुद्ध तथा स्वस्थ करने के लिए अथक प्रयत्नशील रहना चाहिये। यह तभी सम्भव होगा, जब चित्त-शुद्धि वर्तमान जीवन की वस्तु मान ली जाय। यह नियम है कि जो वर्तमान जीवन की वस्तु नहीं होती उसके लिए प्राणी उत्कण्ठा तथा उत्साहपूर्वक कर्त्तव्यपरायण नहीं होता और न उसके लिए परम व्याकुलता ही जागृत होती है। कर्त्तव्यपरायणता तथा परम व्याकुलता में ही सिद्धि निहित है। इस दृष्टि से चित्तशुद्धि वर्तमान जीवन की वस्तु है।

१०-६-५६

: ४० :

मेरे निज स्वरूप परमप्रिय,

की हुई भूल के आधार पर अपने में दोषी-भाव अङ्कित हो जाने से और अपने प्रति होनेवाले अन्याय तथा अत्याचार के आधार पर दूसरों को दोषी मान लेने से चित्त में अशुद्धि आ जाती है। उसकी निवृत्ति के लिए यह अनिवार्य है कि की हुई भूल को न दुहराने का व्रत लेकर व्यथित हृदय से क्षमा-याचना की जाय और जिन्होंने अपने प्रति बुराई की है, उनके बिना ही माँगे स्वयं अपनी ओर से सदा के लिए क्षमा कर दिया जाय तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक चित्त की अशुद्धि मिट जाती है। परन्तु क्षमा माँगने का बल उन्हीं प्राणियों में होता है जो एक क्षण भी दोषी नहीं रहना चाहते, अपनी भूल को बड़ी ही ईमानदारी से स्वीकार कर लेते हैं, अर्थात् जो वर्त्तमान में निर्दोष होना चाहते हैं, वे ही क्षमा-प्रार्थी हो सकते हैं। दोष-जनित सुख में आसक्त प्राणी दुःख से बचने के लिए भले ही क्षमा की बात कहे, पर वह वास्तव में क्षमा-प्रार्थी नहीं हो सकता, कारण कि दोष-जनित सुख की आसक्ति दोष न दुहराने का व्रत नहीं लेने देती। दुःख से बचने के लिए तो सर्व-साधारण अर्थात् बड़े से बड़ा अपराधी भी क्षमा माँगने लगता है, पर सच्चाईपूर्वक क्षमा वही माँग सकता है, जो दोषी होने से घोर दुखी है। दोष का होना उतनी भूल नहीं है, जितनी भूल

किए हुए दोष को स्वीकार न करना और दोष-जनित प्रवृत्ति से घोर दुखी न होना है। यद्यपि प्रत्येक दोषी में दोष की स्वीकृति स्वतः होती है, परन्तु अनादर के भय से जानते तथा मानते हुए भी अपने से और दूसरों से उसे छिपाना चाहता है, क्योंकि स्वभाव से प्राणी अपनी तथा दूसरों की दृष्टि में दोषी होकर रहने में क्षुभित होता है और क्षोभ के दुःख से बचने के लिए मिथ्या प्रयास करता है।

यह नियम है कि जो अपने को धोखा नहीं देता, वह दूसरों को धोखा दे ही नहीं सकता, अर्थात् जो बुराई प्राणी अपने प्रति करता है, वही दूसरों के प्रति भी करता है। इतना ही नहीं, यदि हम अपने प्रति कोई बुराई न करें, तो दूसरों की की हुई बुराई का प्रभाव हम पर हो ही नहीं सकता। तात्पर्य्य यह कि प्राणी प्रथम स्वयं अपने प्रति बुराई करता है; तब दूसरों की की हुई बुराई उसे क्षुभित करती है। प्राकृतिक नियम के अनुसार जो स्वयं बुरा हो नहीं जाता, वह दूसरों के साथ बुराई कर ही नहीं सकता, क्योंकि दोषी होने पर ही दोषयुक्त प्रवृत्ति का जन्म होता है। इस दृष्टि से प्राणी के निर्दोष होने पर ही उसके द्वारा निर्दोष प्रवृत्ति हो सकती है। दोषयुक्त प्रवृत्ति से पूर्व प्राणी अपने अहम्भाव में दोष की स्थापना कर लेता है तभी दोषयुक्त प्रवृत्ति उत्पन्न होती है, जैसे अपने में लोभ तथा मोह की स्थापना करने पर ही लोभ तथा मोह-युक्त प्रवृत्ति होती है, क्योंकि कर्त्ता जैसा अपने को मान लेता है, उसके अनुरूप ही कर्म होता है, किन्तु उस किए हुए कर्म का संस्कार कर्त्ता की रुचि के अनुसार न होकर कर्म के अनुसार अंकित होता है। इस कारण दोषयुक्त प्रवृत्ति से दोषी-भाव की स्थापना स्वतः हो जाती है। यद्यपि किसी की रुचि अपने को दोषी स्वीकार करने की नहीं है, यदि होती तो कोई उसको छिपाने का प्रयास न

करता, परन्तु प्राकृतिक विधान के अनुसार किए हुए कर्म का संस्कार अंकित हो ही जाता है और उन्हीं संस्कारों के आधार पर भावी परिस्थिति का निर्माण होता है।

जब किसी की रुचि अपने को दोपी स्वीकार करने की नहीं है, तो फिर कोई अपने अहम्भाव में दोष की स्थापना क्यों करता है? प्राप्त अप्राप्त वस्तुओं के द्वारा सुख का भोग अथवा सुख की आशा से विवश होकर प्राणी अपने को दोषी मान लेता है, अर्थात् कामनापूर्ति के सुख का प्रलोभन उसे दोष-युक्त प्रवृत्ति करने की प्रेरणा देता है। यदि वह प्राणी प्राप्त विवेक से कामना-पूर्ति के सुख का त्याग कर सके तो बड़ी सुगमता से दोष-युक्त प्रवृत्ति का निरोध कर सकता है। जिसे कामनापूर्ति के सुख का भास है, उसी को दोष का भी ज्ञान है। सुख का प्रलोभन बढ़ जाने पर दोष का ज्ञान होते हुए भी उस ज्ञान का आदर नहीं कर पाता। इसी कारण अपने में दोपी-भाव की स्थापना हो जाती है, क्योंकि दोप का ज्ञान था, पर उसका अनादर किया।

यह नियम है कि जब से प्राणी दृढ़तापूर्वक प्राप्त विवेक का आदर करने लगता है, तभी से दोषयुक्त प्रवृत्तियों का जन्म नहीं होता, परन्तु भूतकाल की प्रवृत्तियों की स्मृति अंकित रहती है। उन्हीं के आधार पर वह वर्तमान में निर्दोष रहने पर भी अपने को दोपी मानता है।

यदि जीवन में निर्दोषता न होती, तो दोष का ज्ञान ही न होता, क्योंकि सर्वांश में प्राणी कभी भी दोपी नहीं होता और यदि कोई सर्वांश में दोषी है, तो उसे दोष का ज्ञान भी नहीं है। दोप का ज्ञान उसी प्राणी को है जो सर्वांश में दोषी नहीं है। जो सर्वांश में दोषी नहीं है, उसी को दोषी-भाव की स्वीकृति व्यथित करती है। ज्यों-ज्यों वह व्यथा तीव्र होती जाती है, त्यों-त्यों दोषी-भाव के

निवारण की रुचि जागृत होती जाती है। सर्वांश में निर्दोष होने की रुचि जागृत होते ही प्राणी बड़ी सुगमतापूर्वक क्षमा-याचना कर सकता है और दोष को न दुहराने का व्रत लेकर अपने में निर्दोपता की स्थापना कर सकता है, जिसके करते ही चित्त शुद्ध हो जाता है।

दोपी होने की तीव्र वेदना प्राणी को क्षमा-प्रार्थी बनाने में समर्थ है और क्षमा माँगने में की हुई भूल न दुहराने का व्रत स्वाभाविक है। की हुई भूल न दुहराने के व्रत में निर्दोपता की स्थापना अपने आप हो जाती है क्योंकि जो भूल को दुहराता नहीं वह अपने को सहज भाव से ही निर्दोष मान सकता है। यह नियम है कि दोप की उत्पत्ति आंशिक और निर्दोपता की अभिव्यक्ति सर्वांश में होती है। अतः निर्दोपता की स्थापना सर्वांश में ही हो सकती है, आंशिक नहीं, अथवा यों कहो कि निर्दोष होने के लिए प्राणी को सभी दोषों का त्याग करना अनिवार्य है और यही क्षमा-याचना का वास्तविक अर्थ है कि किसी भी अपराध के बदले में किसी से भी क्षमा-याचना की जाय। उस क्षमा-याचना में सभी दोपों के त्याग की भावना हो तभी वह क्षमा-याचना है। क्षमा किसी भी व्यक्ति से क्यों न माँगी जाय, वह वास्तव में समष्टि से हो जाती है क्योंकि व्यक्ति के प्रति की हुई बुराई समाज के प्रति हो जाती है। प्राकृतिक नियम के अनुसार कोई किसी के साथ भलाई तथा बुराई करे उसका प्रभाव सारे विश्व के साथ हो जाता है। इतना ही नहीं, प्रत्येक प्रवृत्ति का प्रभाव अखिल लोक-लोकान्तर तक पहुँचता है क्योंकि सब कुछ किसी एक से ही सत्ता पाकर एक ही में स्थित हैं अर्थात् सब का प्रकाशक एक ही है जो अनन्त है। प्राणी जो कुछ करता है वह उसी के प्रति होता है और उसकी प्रतिक्रिया

भी उसी से होती है, इस कारण बड़ी ही सावधानीपूर्वक सजग रहना चाहिये कि बुराई की उत्पत्ति ही न हो।

क्षमायाचना करने पर यदि कोई क्षमा न करे तो लेश मात्र भी चिन्तित नहीं होना चाहिये क्योंकि क्षमा करने की क्षमता उस अनन्त में ही है। व्यक्ति के रूप में उसी से क्षमायाचना की जाती है किन्तु क्षमा माँगने का अर्थ यह होना चाहिये कि अब जाने हुए दोषों की पुनरावृत्ति की कौन कहे, उत्पत्ति ही न होगी अर्थात् पूर्ण रूप से निर्दोषता को अपना लिया है, यह भावना दृढ़ बनी रहे। यही क्षमायाचना का वास्तविक स्वरूप है।

क्षमा माँगते ही क्षमा-प्रार्थी के जीवन में निर्दोषता की अभिव्यक्ति हो जाती है जिसके होते ही सीमित अहम्भाव गल जाता है और फिर की हुई भूल की स्मृति निर्जीव हो जाती है। परन्तु यदि अपने प्रति बुराई करनेवालों को बिना ही माँगे क्षमा नहीं कर दिया तो चित्त में वैर-भाव तथा प्रतिहिंसा के संस्कार अङ्कित रहेंगे जो पूर्ण रूप से निर्दोषता से अभिन्नता नहीं होने देंगे। इस कारण क्षमाशील होना भी अनिवार्य है। वास्तव में क्षमाप्रार्थी वही हो सकता है जो क्षमाशील हो। निर्दोषता की अभिव्यक्ति तभी सुरक्षित रह सकती है जब किसी के प्रति वैर-भाव की गन्ध तक न रहे। यह तभी सम्भव है जब किसी के प्रति भी दोषी-भाव न रहे अर्थात् अपने प्रति होनेवाली बुराई का कारण भी अपने को ही मान लिया जाय। जिन्हें दोषी मान लिया है यदि किसी कारण यह मानने में असमर्थता प्रतीत हो तो उन्हें अजान बालक की भाँति क्षमा कर दिया जाय और उनकी निर्दोषता के लिए उस अनन्त से क्षमाप्रार्थना की जाय। कोई भी प्राणी किसी के प्रति कोई भी बुराई उस समय तक कर ही नहीं सकता जिस समय तक वह स्वयं अपने को बुरा न बना ले।

जिस बेचारे ने अपने को ही बुरा बना लिया उसके द्वारा यदि किसी प्रकार की अपनी क्षति हो भी गयी तो वह दया का पात्र है, दण्ड का नहीं। क्षमाशील की दृष्टि में सभी अदण्डनीय हैं! क्षमाशील होने पर ही प्राणी क्षमाप्रार्थी हो सकता है। क्षमाशील प्राणी अपने तथा दूसरों में निर्दोषता की अभिव्यक्ति के लिए क्षमा-याचना करता है। वही वास्तविक क्षमाप्रार्थी है। इस दृष्टि से क्षमाशील होने पर ही प्राणी क्षमाप्रार्थी हो सकता है।

क्षमाशीलता उस अनन्त का स्वभाव है। अतः उससे अभिन्न होने के लिए क्षमाशील होना अनिवार्य है। क्षमाशील होने में असमर्थता केवल अधिकार-लोलुपता के कारण ही प्रतीत होती है। यदि प्राणी दूसरों के अधिकार की रक्षा करते हुए अपने अधिकार का त्याग कर डाले तो वह बड़ी ही सुगमतापूर्वक क्षमाशील हो सकता है। अधिकार-लोलुपता ही क्षमाशीलता का अपहरण करती है। क्षमाशीलता बल है, निर्बलता नहीं, उदारता है संकीर्णता नहीं, क्षमाशीलता में अभिन्नता है भिन्नता नहीं। क्षमाशील वही हो सकता है जो सभी में अपने परम प्रेमास्पद का दर्शन करता है। जिसके जीवन में से प्रतिहिंसा की भावना का अत्यन्त अभाव हो गया है, जो सभी का हित चाहता है और अपराधी से अपराधी की भी प्रसन्नता जिसे अभीष्ट है, अथवा यों कहो कि पतित से पतित प्राणी में भी जिसे पवित्रता का दर्शन होता है अर्थात् जिसमें दोष देखने की दृष्टि ही नहीं है वही क्षमाशील हो सकता है।

अपने प्रति होनेवाले अन्याय से क्षुभित तथा क्रोधित न होने से क्षमाशीलता का बल बढ़ता है, अथवा यों कहो कि क्षमाशील प्राणी को अपने प्रति होनेवाले अन्याय में भी करनेवाले प्राणी का प्रेम ही प्रतीत होता है। जब उसका मन क्षुभित नहीं होता तब वह दुखी नहीं होता। उसके दुखी न होने से प्रकृति में क्षोभ नहीं होता,

जिससे अन्याय करनेवाले का अहित नहीं होता और वह स्वतः निर्दोष हो जाता है, अथवा यों कहो कि क्षमाशीलता उसके हृदय को बदल देती है। यदि प्राणी किसी से किसी प्रकार के सुख की आशा न करे और किसी का बुरा न चाहे तो उसके जीवन में क्षमाशीलता की अभिव्यक्ति हो जाती है।

क्षमाप्रार्थी वही हो सकता है जो की हुई भूल को किसी भी प्रलोभन तथा भय से दुहराता नहीं है अपितु पूर्ण निर्दोषता ही जिसे अभीष्ट है, अथवा यों कहो कि अपना सर्वस्व देकर निर्दोष रहना चाहता है। निर्दोषता को सुरक्षित रखने के लिए जिसे बड़ी से बड़ी कठिनाई सहन करने में प्रसन्नता होती है वही सच्चा क्षमा-प्रार्थी है।

क्षमा माँगने तथा क्षमा करने से चित्त शुद्ध हो जाता है जिसके होते ही निर्दोषता तथा निर्वैरता जीवन में स्वाभाविक आ जाती है। जिसके आते ही अकर्त्तव्य की उत्पत्ति नहीं होती और कर्त्तव्य कर्तृत्व के अभिमान से रहित स्वतः होने लगता है, जिसके होते ही भेद नष्ट हो जाता है। भेद का अन्त होते ही योग, बोध तथा प्रेम स्वतः प्राप्त होता है।

क्षमाप्रार्थी अपने प्रति न्याय करता है और क्षमाशील होकर दूसरों के प्रति प्रेम करता है। जो क्षमाप्रार्थी है वही क्षमाशील है और जो क्षमाशील है वही क्षमाप्रार्थी हो सकता है। अपने प्रति न्याय करने से निर्दोषता और दूसरों के प्रति प्रेम करने से निर्वैरता निहित है। निर्दोषता तथा निर्वैरता का प्रादुर्भाव होते ही सीमित अहम्भाव गल जाता है, जिसके गलते ही प्रेमी और प्रेमास्पद में, जिज्ञासु और तत्त्वज्ञान में, शरीर और विश्व में, व्यक्ति और समाज में अभिन्नता हो जाती है।

क्षमाप्रार्थी में जब निर्दोषता की अभिव्यक्ति हो जाती है तब

किए हुए दोष की स्मृति स्वतः मिट जाती है और फिर उसमें पर-दोष-दर्शन की दृष्टि उत्पन्न ही नहीं होती जिससे वह स्वभाव से ही क्षमाशील हो जाता है। पर-दोष-दृष्टि का अन्त होते ही अपने में से दोष की स्वीकृति ही सदा के लिए मिट जाती है, जिसके मिटते ही सर्वत्र सर्वदा अपने प्रीतम का ही दर्शन होने लगता है, अथवा यों कहो कि अपने से भिन्न की प्रतीति ही नहीं रहती। निर्दोषता की अभिव्यक्ति से सीमित अहम्भाव गल जाता है और पर-दोष-दर्शन की दृष्टि का अन्त होने पर भेद का नाश हो जाता है। इस दृष्टि से क्षमा माँगने तथा करने से सर्वांश में अभेदता प्राप्त होती है, जिसके होते ही बाह्य रूप से अनेक भेद प्रतीत होने पर भी जीवन स्नेह की एकता से परिपूर्ण हो जाता है, अथवा यों कहो कि भेद में अभेदता का दर्शन होता रहता है और फिर चित्त सदा के लिए शुद्ध, शान्त तथा स्वस्थ हो जाता है। अतः क्षमा माँगने तथा करने में ही चित्त की शुद्धि निहित है।

११-६-५६

: ४१ :

मेरे निज स्वरूप परमप्रिय,

जब प्राणी अपने से भिन्न की अर्थात् जिससे स्वरूप की एकता नहीं है उसकी सत्ता स्वीकार कर लेता है तब अनेक प्रकार के भय तथा प्रलोभन उत्पन्न हो जाते हैं जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है। वह अशुद्धि ज्यों-ज्यों सबल तथा स्थायी होती जाती है त्यों-त्यों भिन्नता तथा अनेक प्रकार के भेद पुष्ट होते जाते हैं और ज्यों-ज्यों भिन्नता तथा भेद पुष्ट होते जाते हैं त्यों-त्यों चित्त में अशुद्धि दृढ़ होती जाती है। चित्त की अशुद्धि और भिन्नता तथा भेद एक दूसरे से पोषित होते हैं। विवेकपूर्वक भिन्नता तथा भेद का अन्त होने पर चित्त स्वतः शुद्ध हो जाता है, जिसके होते ही भिन्नता अभिन्नता में और भेद अभेद में अर्थात् अनेकता एकता में विलीन हो जाती है।

जिसका वियोग अनिवार्य हो, जिसमें सतत परिवर्त्तन हो, जिसका अदर्शन हो तथा जो उत्पत्ति-विनाशयुक्त एवं पर-प्रकाश्य हो उसकी सत्ता स्वीकार करने से भेद तथा भिन्नता का जन्म होता है, कारण कि उससे नित्य योग, अभिन्नता तथा प्रेम सम्भव नहीं है। नित्य योग के बिना चिरशान्ति, सामर्थ्य तथा स्वाधीनता, अभिन्नता के बिना निर्भयता तथा निस्सन्देहता और प्रेम के बिना अगाध अनन्त रस की प्राप्ति हो नहीं सकती।

शान्ति, सामर्थ्य, स्वाधीनता, निस्सन्देहता, निर्भयता और अगाध अनन्त रस के बिना स्वाभाविक आवश्यकता की पूर्ति सम्भव नहीं है और आवश्यकता-पूर्ति के बिना अभाव का अभाव हो नहीं सकता और उसके बिना जीवन की सार्थकता तथा पूर्णता सिद्ध नहीं होती। अतः उत्पत्ति-विनाशयुक्त वस्तुओं का स्वतन्त्र अस्तित्व अस्वीकार कर उसी की सत्ता स्वीकार करनी चाहिए जिसकी प्राणी को स्वाभाविक आवश्यकता है।

स्वाभाविक आवश्यकता उसी की होती है जिसकी प्राप्ति में लेश मात्र भी सन्देह न हो, जिसकी सत्ता स्वतन्त्र तथा स्वयं-प्रकाश हो और जिसमें स्वाभाविक प्रेम हो। कामना उसी की होती है जिसकी प्रतीति भले ही हो पर प्राप्ति सम्भव न हो और जिसमें आसक्ति भले ही हो पर प्रेम सम्भव न हो। इस दृष्टि से जिन वस्तु, व्यक्ति आदि की कामना है उनकी सत्ता स्वीकार करना भूल है। कामना-पूर्ति-जनित सुख के प्रलोभन में आबद्ध होकर कामना, अपूर्ति के भयंकर दुःख को भोगने के अतिरिक्त और किसी भी प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती। जब प्राणी इस रहस्य को जान लेता है तब वस्तुओं की प्रतीति होने पर भी उनकी सत्ता को स्वीकार नहीं करता, अथवा यों कहो कि प्राप्त वस्तुओं से भी ममतारहित होकर उनसे विमुख हो जाता है। वस्तुओं की प्राप्ति वस्तुओं से तादात्म्य स्वीकार करने पर भासती है। वस्तुओं से विमुख होने पर न तो वस्तुओं की प्रतीति ही होती है और न प्राप्ति ही भासती है, कारण कि वस्तुओं से अतीत के जीवन में जड़ता का लेश नहीं है अपितु चिन्मय साम्राज्य है जिसमें भेद और भिन्नता की गन्ध भी नहीं है और जो असीम तथा अनन्त है। उसी की सत्ता से सभी वस्तुएँ प्रकाशित होती हैं। वही जिज्ञासुओं का तत्त्वज्ञान, प्रेमियों का प्रेमास्पद, सेवकों का सेव्य एवं तत्त्ववेत्ताओं का निज

स्वरूप है। उसी में पुरुषार्थवादियों के पुरुषार्थ की, प्रेमियों के प्रेम की, विवेकियों के विवेक की तथा योगियों के योग की पूर्णता सिद्ध होती है।

आवश्यकता की पूर्ति में कामनाओं की उत्पत्ति ही विघ्न है और कामनाओं की उत्पत्ति में वस्तुओं से ममता तथा उनमें अहम्‌बुद्धि की स्थापना ही हेतु है। आवश्यकता की पूर्ति वर्तमान की वस्तु है और कामनाओं की पूर्ति सदैव प्राणी को भविष्य की आशा में आवद्ध करती है। इतना ही नहीं, प्रत्येक कामना-पूर्ति का सुख नवीन कामना को जन्म देता है। उसका परिणाम यह होता है कि अनेक वार कामनाओं की पूर्ति होने पर भी वस्तु-स्थिति ज्यों की त्यों अभावरूप ही रहता है। उस अभाव की वेदना जागृत होने पर प्राणी कामना-पूर्ति के प्रलोभन का त्याग कर कामना-निवृत्ति की ओर अग्रसर होता है। कामना-पूर्ति का महत्त्व मिटते ही कामना-निवृत्ति की सामर्थ्य स्वतः आ जाती है। यह नियम है कि कामनाओं की निवृत्ति में ही आवश्यकता की पूर्ति निहित है। कामना-पूर्ति श्रमसाध्य है, स्वाभाविक नहीं। उसके लिए किसी न किसी परिस्थिति की अपेक्षा होती है। प्रतिकूल परि-स्थिति में कामना-पूर्ति सम्भव नहीं है, अथवा यों कहो कि कामना-पूर्ति के लिए प्राणी को पराधीनता स्वीकार करनी ही पड़ती है क्योंकि वाह्य वस्तु, व्यक्ति आदि के सहयोग के बिना कामना-पूर्ति सम्भव ही नहीं है। किन्तु कामना-निवृत्ति श्रम-रहित है, स्वाभा-विक है, उसके लिए किसी वस्तु, व्यक्ति आदि की अपेक्षा नहीं है, अथवा यों कहो कि जिसे स्वाधीनता में ही प्रियता है, वह बड़ी ही सुगमतापूर्वक कामनाओं का अन्त कर सकता है। प्राकृतिक नियम के अनुसार स्वाधीनता की प्रियता पराधीनता की सुदृढ़ शृंखला को स्वतः तोड़ देती है। इतना ही नहीं, पराधीनता ने जिन आस-

क्तियों को उत्पन्न कर दिया था, स्वाधीनता की प्रियता का उदय होते ही समस्त आसक्तियाँ स्वतः गल जाती हैं जिनके गलते ही काम का अन्त हो जाता है और फिर स्वाभाविक आवश्यकता की पूर्ति अर्थात् अनन्त, नित्य, चिन्मय जीवन से अभिन्नता हो जाती है।

यह नियम है कि प्राणी जिसकी सत्ता स्वीकार कर लेता है उसका अस्तित्व भासने लगता है, जिसका अस्तित्व भासने लगता है उस पर विश्वास होने लगता है, जिस पर विश्वास हो जाता है उससे सम्बन्ध हो जाता है, जिससे सम्बन्ध हो जाता है उसमें प्रियता स्वतः उत्पन्न होती है, जिसमें प्रियता उत्पन्न हो जाती है उसकी स्मृति स्वतः होने लगती है, जिसकी स्मृति होने लगती है उसमें आसक्ति हो जाती है और जिसमें आसक्ति हो जाती है उसमें सत्यता, सुखरूपता, सुन्दरता प्रतीत होने लगती हैं और फिर प्राणी उसके अधीन हो जाता है। इस कारण जिसकी स्वाभाविक आवश्यकता है उसके अतिरिक्त किसी और की सत्ता स्वीकार नहीं करनी चाहिए। वस्तु आदि की स्वीकृति से ही प्राणी उनमें आसक्त और उनके अधीन हो गया है, अथवा यों कहो कि प्राणी अपनी स्वीकृति में आप बँध गया है। स्वीकृति का बन्धन अस्वीकृति से ही मिट सकता है। उसके लिए किसी अभ्यास-विशेष की आवश्यकता नहीं है। यदि कोई अस्वीकृति मात्र को ही अभ्यास मान ले तो इसी अभ्यास की अपेक्षा है, किसी और की नहीं। अस्वीकृति के लिए केवल वस्तुओं के स्वरूप का वास्तविक ज्ञान अपेक्षित है, किसी वस्तु की अपेक्षा नहीं है। वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान जिस ज्ञान में निहित है वह ज्ञान प्राणी को स्वतः प्राप्त है, अतः प्राप्त विवेक के आदर मात्र से ही वस्तुओं के स्वरूप का ज्ञान हो सकता है। वस्तुओं के यथार्थ ज्ञान में ही

वस्तुओं की अस्वीकृति निहित है जो चित्तशुद्धि में हेतु है।

स्वाभाविक आवश्यकता उसी की है जिसके विना प्राणी किसी प्रकार नहीं रह सकता। जिसके विना किसी प्रकार नहीं रह सकता उसकी नित्य प्राप्ति होनी चाहिए और उससे देश-काल की दूरी भी नहीं हो सकती अर्थात् जिसके विना नहीं रह सकते वह सर्वत्र सर्वदा है परन्तु उससे भिन्न की सत्ता स्वीकार करने का परिणाम यह हुआ है कि जो नित्य प्राप्त है वह अप्राप्त-सा प्रतीत होता है और जो अप्राप्त है वह प्राप्त प्रतीत होता है अथवा यों कहो कि प्राप्त में अप्राप्त-बुद्धि और अप्राप्त में प्राप्त-बुद्धि हो गई है जो वास्तव में चित्त की अशुद्धि है।

स्वीकृति मात्र से जो अनेकता प्रतीत हो रही है वह अस्वीकृति मात्र से मिट सकती है जिसके मिटते ही अनेकता में एकता का दर्शन होता है। ज्यों-ज्यों एकता की प्रियता सबल तथा स्थायी होती जाती है त्यों-त्यों अनेकता की प्रतीति स्वतः गलती जाती है और ज्यों-ज्यों अनेकता की प्रतीति गलती जाती है त्यों-त्यों चित्त शुद्ध होता जाता है। अनेकता की प्रतीति का अस्तित्व मिटते ही चित्त सर्वांश में शुद्ध हो जाता है और फिर किसी प्रकार का प्रलोभन, भय, भिन्नता तथा भेद शेष नहीं रहता और फिर स्वाभाविक प्रीति का उदय होता है, जिसके होते ही प्रेमी को प्रेमास्पद से, जिज्ञासु को तत्त्वज्ञान से और योगी को योग से भिन्न की सत्ता ही नहीं भासती, अथवा यों कहो कि जो प्रेमी का प्रेमास्पद है वही जिज्ञासु का तत्त्वज्ञान है और योगी का योग है अर्थात् उस एक ही में प्राणी अपनी-अपनी रुचि तथा योग्यतानुसार अपने अभीष्ट लक्ष्य को प्राप्त करता है क्योंकि प्रत्येक प्राणी में विवेकशक्ति, भावशक्ति और श्रमशक्ति है।

विवेक, भाव और क्रिया तीनों ही के द्वारा किसी एक ही की

प्राप्ति होती है अथवा यों कहो कि क्रिया, 'भाव तथा विवेक तीनों प्रेम में विलीन हो जाते हैं क्योंकि प्रेम भिन्नता तथा भेद का नाशक है और रस का उत्पादक है जिसकी सभी को स्वाभाविक आवश्यकता है। अतः अनेकता की अस्वीकृति से प्रेम को प्राप्त कर चित्त शुद्ध करना अनिवार्य है।

प्रेमास्पद से भिन्न की सत्ता को अस्वीकार करने पर यदि संकल्पों की उत्पत्ति प्रतीत हो तो उन संकल्पों के उद्गम की खोज करना चाहिए। उसकी खोज करते ही यह स्पष्ट विदित होगा कि वस्तुओं में अहम् बुद्धि स्वीकार करना ही संकल्पों का उद्गम है। उस उद्गम का अन्त अर्थात् वस्तु में से अहम् बुद्धि का त्याग करने पर वे सभी संकल्प अपने आप मिट जाएँगे जिनकी पूर्ति सम्भव नहीं है तथा जिनकी पूर्ति में किसी का अहित है अर्थात् अशुद्ध और अनावश्यक संकल्प निवृत्त हो जाएँगे और आवश्यक तथा शुद्ध संकल्प कर्तृत्व के अभिमान तथा फल की आशा से रहित स्वतः पूरे हो जाएँगे और निर्विकल्पता अपने आप आ जायगी जिसके आते ही शांति का उदय होगा जो सामर्थ्य तथा स्वाधीनता की प्रतीक है। प्रेमास्पद से भिन्न की सत्ता को अस्वीकार और देह रूपी वस्तु में से अहम् बुद्धि का त्याग हो जाने पर जो संकल्प प्रतीत होते हैं वे केवल भुने हुए दाने के समान हैं। उन संकल्पों के आधार पर काम की उत्पत्ति नहीं होती। उस पर भी यदि संकल्प उत्पत्ति प्रतीत होती हो तो उन संकल्पों का सम्बन्ध जिन वस्तुओं से है उन वस्तुओं की सत्यता स्वीकार नहीं करनी चाहिए अपितु उन वस्तुओं में तत्व रूप से अपने प्रेमास्पद का ही दर्शन करना चाहिए। संकल्प और वस्तु की सत्यता का अभाव होते ही प्रेमास्पद से भिन्न की प्रतीति ही न होगी। अथवा यों कहो कि प्रेमी और प्रेमास्पद की नितनव लीला ही का दर्शन होगा। ज्यों-ज्यों

प्रेम सबल होता जावेगा त्यों-त्यों प्रेमी का अस्तित्व गल कर प्रेम में परिणत होता जायगा और फिर प्रेम और प्रेमास्पद ही की सत्ता रह जायगी अर्थात् प्रेम में प्रेमास्पद और प्रेमास्पद में प्रेम ही प्रेम रह जायगा क्योंकि प्रेमी और प्रेमास्पद में प्रेम का ही आदान-प्रदान है।

जिज्ञासु उससे भिन्न की सत्ता न स्वीकार करे जिसकी उसे जिज्ञासा है; सेवक अपने सेव्य से और प्रेमी अपने प्रेमास्पद से भिन्न की सत्ता स्वीकार न करे तो बड़ी ही सुगमता-पूर्वक चित्त शुद्ध हो सकता है। चित्त के शुद्ध होते ही जिज्ञासु जिज्ञासा, सेवक सेवा और प्रेमी प्रेम होकर उस अनन्त से अभिन्न हो जाता है जो सभी का सब कुछ है, जिससे सभी को सत्ता मिलती है अथवा यों कहो जो अपनी महिमा में आप स्थित है। उसका योग ही वास्तविक योग, उसका ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान और उसका प्रेम ही वास्तविक प्रेम है। उससे भिन्न का योग भोग है योग नहीं; उससे भिन्न का ज्ञान वास्तविक ज्ञान नहीं है; उससे भिन्न का प्रेम वास्तविक प्रेम नहीं है। जो वास्तविक योग, ज्ञान तथा प्रेम नहीं है उससे मोह आसक्ति तथा अनेक विकार उत्पन्न होते हैं जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है। अतः अपने से भिन्न की सत्ता को अस्वीकार कर चित्त को शुद्ध कर वास्तविक योग, ज्ञान तथा प्रेम प्राप्त कर कृत-कृत्य हो जाने में ही जीवन की पूर्णता सिद्ध है।

१२-६-५६

: ४१ :

मेरे निज स्वरूप परमप्रिय,

व्यक्ति एक है। दृश्य भी एक है। पर दृष्टियाँ अनेक हैं। व्यक्ति जिस दृष्टि से दृश्य को देखता है उसके अनुसार उस पर प्रभाव पड़ता है। इन्द्रिय दृष्टि सबसे स्थूल दृष्टि है। इसके प्रभाव की आसक्ति से चित्त अशुद्ध होता है। इन्द्रिय दृष्टि से दृश्य में सत्यता, सुन्दरता तथा अनेकता का भास होता है। अथवा यों कहो कि शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध—विषयों में रुचि उत्पन्न होती है जिससे इन्द्रिय विषयों के आधीन, मन इन्द्रियों और बुद्धि मन के आधीन हो जाती है जो वास्तव में चित्त की अशुद्धि है। बुद्धि मन के, मन इन्द्रियों के और इन्द्रियाँ विषयों के आधीन होते ही वस्तुओं में जीवन बुद्धि हो जाती है। जिसके होते ही प्राणी सुख लोलुपता, जड़ता, पराधीनता, शक्तिहीनता आदि दोषों में आवद्ध हो जाता है। उसका परिणाम यह होता है कि वह बेचारा संकल्प-पूर्ति-अपूर्ति के द्वन्द्व में आवद्ध होकर सुखी-दुःखी होने लगता है। ऐसा कोई संकल्प-पूर्ति का सुख है ही नहीं जिसके आदि और अन्त में दुःख का दर्शन न हो। इतनी ही नहीं सुख काल में भी सुख में स्थिरता नहीं रहती जिस प्रकार तीव्र भूख लगने पर प्रथम-ग्रास में जितना सुख भासता है उतना दूसरे में नहीं अर्थात् प्रत्येक ग्रास में क्रमशः सुख की क्षति होती जाती है और अन्तिम ग्रास में सुख नहीं रहता

केवल भोग की क्रिया-जनित सुखद स्मृति ही रह जाती है, जो नवीन संकल्पों को उत्पन्न करती है और प्राणी पुनः उसी स्थिति में आ जाता है जिसमें संकल्प-पूर्ति के सुखसे पूर्व था अर्थात् संकल्प उत्पत्ति का दुःख ज्यों का त्यों भासने लगता है। उसी प्रकार प्रत्येक भोग प्रवृत्ति का परिणाम होता है।

भोग प्रवृत्ति के इस दुष्परिणाम की अनुभूति से व्यक्ति को इन्द्रिय दृष्टि पर सन्देह होता है। इसके होते ही बुद्धि-दृष्टि का आदर होने लगता है। ज्यों-ज्यों बुद्धि-दृष्टि का आदर बढ़ने लगता है त्यों-त्यों इन्द्रिय-दृष्टि का प्रभाव मिटने लगता है। सर्वांश में इन्द्रिय दृष्टि का प्रभाव मिट जाने पर अन्य वस्तुओं की तो कौन कहे जिस शरीर में सत्यता, सुन्दरता, सुखरूपता प्रतीत होती थी, वह शरीर मल सूत्र की थैली तथा अनेक व्याधियों का घर प्रमाणित होता है। बुद्धि-दृष्टि के स्थायी होते ही शरीर आदि वस्तुओंसे सम्बन्ध-विच्छेद करने की रुचि उत्पन्न हो जाती है क्योंकि प्रत्येक वस्तु में सतत परिवर्त्तन तथा क्षण भंगुरता का दर्शन स्पष्ट होने लगता है। अथवा यों कहो कि कोई भी वस्तु इन्द्रिय-दृष्टि से जैसी प्रतीत होती थी, अर्थात् उसका एक अपना अस्तित्व मालूम होता था, वह नहीं मालूम होता अपितु वह वस्तु अनेक वस्तुओं का समूह प्रतीत होती है। इतनाही नहीं बुद्धि-दृष्टि से अनेकता में एकता और व्यक्त अव्यक्त प्रतीत होता है इस कारण वस्तुओं की आसक्ति मिट जाती है और वास्तविकता की जिज्ञासा जागृत होती है जो सभी कामनाओं को खाकर स्वतः पूरी हो जाती है। बुद्धि-दृष्टि से राग-वैराग्य में और भोग-योग में, बदल जाता है।

फिर विवेक दृष्टि उदय होती है। जो काम का अन्तकर प्राणी को चिर-शान्ति तथा स्वाधीनता एवं चिन्मयता की ओर उन्मुख कर देती है, जिसके होते ही अन्तर्दृष्टि जागृत होती है जो भेद

तथा दूरी का अन्त कर उसे अपने ही में संतुष्ट कर देती है। अन्त-दृष्टि की पूर्णता में प्रीति की दृष्टि का उदय होना स्वाभाविक है। प्रीति की दृष्टि समस्त दृष्टियों में एकता का बोध कराती है क्योंकि प्रीति सभी से अभिन्नता प्रदान करने में समर्थ है। प्रीति स्वभाव से ही सर्वत्र सर्वदा अपने प्रेमास्पद को ही पाती है। कारण कि प्रीति ने प्रीतम से भिन्न किसी अन्य को कभी देखा ही नहीं। प्रीति की दृष्टि रसरूप है। प्रीति की दृष्टि रसरूप होने से प्रेमास्पद में नित-नूतनता का बोध कराती है। प्रीति पूर्णरूप से प्रीतम को देख ही नहीं पाती क्योंकि प्रीति और प्रीतम दोनों ही अनन्त दिव्य तथा चिन्मय हैं। प्रीति के साम्राज्य में जड़ता का लेश नहीं है। प्रीति पूर्त्ति निवृत्ति से रहित होने से मिलन में वियोग और वियोग में भी मिलन का रस प्रदान करती है। अर्थात् प्रीति की दृष्टि से मिलन और वियोग दोनों ही रसरूप हैं। प्रीति स्वरूप से ही रस रूपा है। उसमें अस्वाभाविकता लेश मात्र भी नहीं है। इसी कारण अखण्ड तथा अनन्त है। प्रीति एक में दो और दो में एक का दर्शन कराती है अथवा यों कहो कि एक और दो की गणना से विलक्षण है। उसमें भेद और भिन्नता की तो गंध ही नहीं है। प्रीति प्रीतम का ही स्वभाव है और प्रीति में ही प्रीतम का निवास है। चिन्मय साम्राज्य में प्रीति और प्रीतम का नित्य विहार है अथवा यों कहो कि प्रेम के साम्राज्य में प्रेम का ही आदान प्रदान है।

इन्द्रिय और बुद्धि दृष्टि का द्वन्द्व जब तक रहता है तब तक चित्त में अशुद्धि रहती है। ये दोनों दृष्टियाँ प्रतीति के क्षेत्र में ही कार्य करती हैं। बुद्धि-दृष्टि का प्रभाव वस्तुओं की स्थिति का अन्त कर उनसे अतीत के जीवन की लालसा जागृत करती है। इन्द्रिय दृष्टि ने जिन वस्तुओं की स्थिति स्वीकार की थी बुद्धि-दृष्टि उस स्थिति को वस्तुओं के उत्पत्ति विनाश का क्रम मात्र मानती है और

कुछ नहीं अर्थात् वस्तु की स्थिरता बुद्धि-दृष्टि स्वीकार नहीं करती। इसका परिणाम यह होता है कि दृश्य से विमुखता हो जाती है और विवेक दृष्टि उदय होती है। जिससे चित्त शुद्ध हो जाता है क्योंकि अशुद्धि अविवेक सिद्ध है।

इन्द्रिय दृष्टि भोग की रुचि को सबल बनाती है, बुद्धि-दृष्टि भोगों से अरुचि उत्पन्न करती है और विवेक-दृष्टि भोग वासनाओं का अन्त कर जड़-चिद्-ग्रन्थि को खोल देती है। जिसके खुलते ही अन्तर्दृष्टि उदय होती है जो अपने ही में अपने प्रीतम को पाकर कृत-कृत्य हो जाती है अर्थात् पर और स्व का भेद गल जाता है। अन्तर्दृष्टि श्रमरहित स्वाभाविक है, गति और स्थिरता दोनों से विलक्षण है। अन्तर्दृष्टि सब प्रकार के अभिमान का अन्त कर देती है अथवा यों कहो कि विवेक दृष्टि ने जिस चिन्मय राज्य में प्रवेश कराया था, अन्तर्दृष्टि उसी में सन्तुष्ट कर कृत-कृत्य कर देती है।

इन्द्रिय-दृष्टि पर बुद्धि-दृष्टि शासन करती है और बुद्धि-दृष्टि को विवेक-दृष्टि प्रकाश देती है और अन्तर्दृष्टि विवेक-दृष्टि को पुष्ट करती है। जब बुद्धि-दृष्टि इन्द्रिय-दृष्टि के उत्पन्न किए हुए राग का नाश कर देती है तब अकर्त्तव्य कर्त्तव्य में बदल जाता है अर्थात् स्वार्थ-भाव सेवा भाव में विलीन हो जाता है, जो राग रहित प्रवृत्ति में हेतु है। रागरहित प्रवृत्ति बाह्य जीवन में सौन्दर्य्य की अभिव्यक्ति करती है जिससे परस्पर में कर्म की भिन्नता होने पर भी स्नेह की एकता सुरक्षित रहती है जिससे वैर-भाव की गन्ध भी नहीं रहती। वैर-भाव का अन्त होते ही निर्भयता, समता, मुदिता आदि दिव्य गुणों का प्रादुर्भाव स्वतः हो जाता है।

इन्द्रिय दृष्टि का प्रभाव भले ही असाधन रूप हो क्योंकि वह राग का पोषक है परन्तु बुद्धि-दृष्टि के नेतृत्व में इन्द्रिय-दृष्टि का

उपयोग साधन रूप है। कारण कि बुद्धि-दृष्टि भाव में पवित्रता उत्पन्न कर कर्म को शुद्ध कर देती है। कर्म की शुद्धि में ही सुन्दर समाज का निर्माण निहित है जिससे पारस्परिक संघर्ष शेष नहीं रहता क्योंकि कर्म की शुद्धि किसी के अधिकार का अपहरण नहीं करती प्रत्युत रक्षा करती है। जो किसी के अधिकार का अपहरण नहीं करता उसमें अधिकार लोलुपता शेष नहीं रहती क्योंकि अधिकार लोलुपता उसी में निवास करती है जो दूसरों के अधिकार का अपहरण करता है। जिसने दूसरों के अधिकार की रक्षा को ही अपना कर्त्तव्य स्वीकार किया है उसकी दृष्टि दूसरों के कर्त्तव्य पर नहीं जाती कारण कि कर्त्तव्य परायणता में जो विकास है वह अधिकार मांगने में नहीं है। अधिकार लालसा तो उन्हीं प्राणियों में निवास करती है जिन्होंने बुद्धि-दृष्टि का आदर नहीं किया। बुद्धि-दृष्टि प्राणी को कर्त्तव्यनिष्ट बनाकर विवेक-दृष्टि में प्रतिष्ठित कर जड़ता से विमुख कर देती है। जड़ता की विमुखता में विषमता नहीं है अर्थात् समता है जो वास्तव में योग है। योग में इन्द्रियाँ विषयों से विमुख होकर मन की निर्विकल्पता में विलीन हो जाती हैं जिसके होते ही निर्विकल्प स्थिति स्वतः हो जाती है जिसके होते ही अनेकता एकता में और विषमता समता से अभिन्न हो जाती है अथवा यों कहो कि एकता अनेकता को और समता विषमता को खा लेती है और फिर विवेक का प्रकाश पूर्णरूप से उदय होता है जो निर्विकल्प स्थिति से असंगकर काम का अन्त कर देता है। काम का नाश होते ही भोक्ता भोग्य-वस्तु और भोगने के साधन ये तीनों ही गलकर जो सर्व का द्रष्टा है उसमें विलीन हो जाते हैं और फिर अन्तर्दृष्टि स्वतः जागृत होती है जो त्रिपुटी का अत्यंत अभाव कर देती है। अन्तर्दृष्टि में पूर्ण स्वाधीनता है। और

अप्रयत्न ही प्रयत्न है जिससे अखण्ड, एक रस, नित्य-जीवन से अभिन्नता होती है। नित्य-जीवन से ही सभी को सत्ता मिलती है क्योंकि नित्य-जीवन के अतिरिक्त और किसी का स्वतंत्र अस्तित्त्व ही नहीं है। नित्य-जीवन की प्राप्ति में प्रेम स्वतः सिद्ध है क्योंकि अनित्य जीवन में जो आसक्ति के रूप में प्रतीत होती थी वही नित्य-जीवन में प्रीति के स्वरूप में बदल जाती है। नित्य-जीवन जिसका स्वरूप है प्रीति उसी का स्वभाव है। स्वरूप से स्वभाव और स्वभाव से स्वरूप भिन्न नहीं होता जिस प्रकार सूर्य्य की किरणें और प्रकाश सूर्य से अभिन्न हैं उसी प्रकार निप्य जीवन के स्वरूप और स्वभाव में अभिन्नता है। प्रीति की दृष्टि अन्तर और बाह्य भेद की नाशक है और उसका प्रभाव समस्त दृष्टियों से ओत-प्रोत है। ज्यों-ज्यों प्रीति की दृष्टि सबल तथा स्थायी होती जाती है त्यों-त्यों सभी दृष्टियाँ गलकर प्रीति से अभिन्न होती जाती हैं और फिर प्रीति और प्रीतम से भिन्न की सत्ता ही शेष नहीं रहती।

इन्द्रिय दृष्टि की सत्यता मिटते ही बुद्धि-दृष्टि सबल हो जाती है। बुद्धि दृष्टि का पूर्ण उपयोग होते ही विवेक दृष्टि स्पष्ट प्रकाशित होती है जो अन्तर्दृष्टि को जागृत कर चिन्मय जीवन से अभिन्न कर देती है और अन्तर्दृष्टि की पूर्णता में ही प्रीति की दृष्टि निहित है। जो सभी दृष्टियों के भेद को खाकर चित्त को सदा के लिए शुद्ध, शान्त तथा स्वस्थ कर देती है।

सर्व का द्रष्टा एक है। समस्त दृष्टियाँ उसीके प्रकाश से प्रकाशित हैं और उसी की सत्ता से सत्ता पाती हैं। किसी भी दृष्टि की अपनी स्वतंत्र सत्ता नहीं है। अथवा यों कहो कि सर्व दृष्टियाँ सर्व के द्रष्टा में ही विलीन होकर उससे अभिन्न हो जाती हैं और अन्त में प्रीति की दृष्टि ही सर्व के द्रष्टा को रस प्रदान कर उसे अह्लादित

करती है। प्रीति की दृष्टि में ही सभी दृष्टियों का समावेश है। वही दृष्टि विश्व-प्रेम तथा आत्मरति, के रूप में अभिव्यक्त होती है। प्रीति ऐसी निर्मल धारा है कि वह किसी में आबद्ध नहीं रहती अपितु सभी को पार करती हुई अनन्त में ही समाहित हो जाती है और सभी को रस प्रदान करती रहती है। प्रीति की धारा अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित होती रहती है। वह आदि और अन्त से रहित, देश-काल, वस्तु आदि की सीमा का अतिक्रमण करती हुई अनेक रूपों में अपने प्रेमास्पद को ही पाकर कृत-कृत्य होती है। अतः इन्द्रिय, बुद्धि आदि सभी दृष्टियों को प्रीति की दृष्टि में विलीन करना अनिवार्य है जो चित्त की शुद्धि से ही सम्भव है। क्योंकि जब इन्द्रिय-दृष्टि बुद्धि-दृष्टि में और बुद्धि-दृष्टि विवेक-दृष्टि में विलीन हो जाती है तब चित्त शुद्ध हो जाता है जिसके होने पर तो अन्तर्दृष्टि तथा प्रीति की दृष्टि उदय होती है। इस प्रकार चित्त की शुद्धि में ही जीवन की पूर्णता निहित है।

१३-६-५६

: ४३ :

मेरे निज स्वरूप परमप्रिय,

रुचि-अरुचि के द्वन्द्व में आबद्ध प्राणी का चित्त अशुद्ध हो जाता है। रुचि राग को और अरुचि द्वेष को उत्पन्न करती है राग से बन्धन और द्वेष से भेद की दृढ़ता होती है। बन्धन से जड़ता तथा पराधीनता और भेद से भय तथा संघर्ष का जन्म होता है। जड़ता से अपने में देह भाव की दृढ़ता, पराधीनता से वस्तु व्यक्ति आदि की दासता, भय से प्राप्त शक्ति का ह्रास अर्थात् हृदय दौर्बल्य और संघर्ष से हिंसा आदि विकारों की उत्पत्ति होती है जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है।

अपने को देह अथवा देह को अपना मान लेने पर रुचि-अरुचि का द्वन्द्व उत्पन्न होता है। रुचि पूर्ति का प्रलोभन देह में अहम् बुद्धि दृढ़ करता है। उसका परिणाम यह होता है कि प्राणी अपने को कर्म चिन्तन और स्थिति में आबद्ध कर भोक्ता हो जाता है। प्राकृतिक नियमानुसार किसी भी भोग की सिद्धि प्रमाद तथा हिंसा के विना सम्भव नहीं है कारण कि प्राप्त विवेक का अनादर किए विना कोई भी प्राणी देह से तद्रूप नहीं हो सकता और उसके विना अपने को कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व में आबद्ध नहीं कर सकता अर्थात् "मैं भोक्ता हूँ" यह स्वीकृति दृढ़ नहीं हो सकती। "मैं भोक्ता हूँ" इस स्वीकृति के विना भोग वासनाओं की उत्पत्ति हो ही नहीं

सकती और भोग वासनाओं की उत्पत्ति हुए विना भोग्य वस्तुओं से सम्बन्ध तथा उनमें आसक्ति सम्भव नहीं है। भोग प्रवृत्ति से भोग्य वस्तुओं का विनाश तो स्वाभाविक ही है अतः स्पष्टतः विदित होता है कि प्रमाद तथा हिंसा के विना भोग की सिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि अपने को भोक्ता स्वीकार करना प्रमाद है और भोग्य वस्तुओं के विनाश में हिंसा है। हिंसा और प्रमाद से चित्त अशुद्ध होता है।

देहाभिमान प्राणी को शुभाशुभ कर्म,सार्थक निरर्थक चिन्तन एवं सविकल्प तथा निर्विकल्प स्थिति में आवद्ध करता है। यह नियम है कि किसी भी अवस्था में आवद्ध होने से रुचि-अरुचि का द्वन्द्व चलता रहता है। शुभाशुभ कर्म प्राणी को स्थूल शरीर में, सार्थक निरर्थक चिन्तन सूक्ष्म शरीर में और सविकल्प निर्विकल्प स्थिति कारण शरीर में आवद्ध करती है। कर्म की अपेक्षा चिन्तन में और चिन्तन की अपेक्षा स्थिति में अधिक स्वाधीनता एवं व्यापकता है। तीनों अवस्थाओं का भोक्ता एक है। स्थूल शरीर में आवद्ध होते ही वस्तु व्यक्ति परिस्थिति आदि की दासता उत्पन्न हो जाती है। निरर्थक चिन्तन प्राप्त वस्तु में ममता और अप्राप्त में आसक्ति उत्पन्न करता है और सार्थक चिन्तन निरर्थक चिन्तन को खाकर अचिन्तता प्रदान करता है। सविकल्प तथा निर्विकल्प स्थिति सीमित अहम्-भाव को जीवित रखती है और शान्ति में रमण कराती है। सीमित अहम्-भाव के रहते हुए न तो भेद का ही नाश होता है और न प्रेम का ही उदय होता है और न शान्ति से अतीत के जीवन में ही प्रवेश होता है। भेद का नाश हुए विना काम का नाश नहीं होता और काम का नाश हुए विना भोक्तृत्व का अन्त नहीं होता, उसका अन्त हुए विना वेचारा प्राणी कभी क्रिया, कभी चिन्तन और कभी स्थिति के क्षेत्र में रमण करता है।

क्रिया के क्षेत्र में पराधीनता तथा श्रम की अधिकता है। उससे श्रमित तथा क्षुत्रित होकर प्राणी चिन्तन के क्षेत्र में रमण करने लगता है किन्तु स्थिति की अपेक्षा चिन्तन में भी अधिक श्रम है। अतः चिन्तन से श्रमित होकर स्थिति के क्षेत्र में विश्राम लेता है। परन्तु क्रिया और चिन्तनजनित राग के कारण स्थिति के क्षेत्र से भी उपराम होता है और फिर क्रिया तथा चिन्तन के क्षेत्र में रमण करता हुआ स्थिति में विश्राम लेता है। यह क्रम उस समय तक चलता ही रहता है जबतक सीमित अहम्-भाव गल न जाय अथवा यों कहो कि काम का अन्त न हो जाय।

काम का अन्त हुए विना कामनाओं का नाश नहीं हो सकता और कामनाओं के नाश विना हुए जिज्ञासा की पूर्त्ति सम्भव नहीं है। जिज्ञासा की पूर्त्ति के विना निस्सन्देहता की प्राप्ति नहीं हो सकती। सन्देह रहते हुए कभी भी चित्त शुद्ध नहीं हो सकता।

सन्देह सदैव "यह" और "मैं" के सम्बन्ध में होता है क्योंकि जिसके सम्बन्ध में कुछ नहीं जानते उसके सम्बन्ध में सन्देह नहीं होता, विश्वास अथवा अविश्वास होता है। सन्देह और अविश्वास में भेद है। सन्देह में किसी-न-किसी प्रकार की जानकारी होती है। विश्वास और अविश्वास में केवल मान्यता होती है। अविश्वास अथवा विश्वास निर्णयात्मक होता है, पर सन्देह निर्णयात्मक नहीं होता। "यह" अर्थात् जो प्रतीत हो रहा है, "मैं" अर्थात जिसकी स्वीकृति है अथवा जिसका भास होता है। प्रतीति में सन्देह का कारण है उसके सतत् परिवर्त्तन का ज्ञान। स्वीकृति भी परिस्थिति तथा अवस्था भेद से बदल जाती है इस कारण "मैं" के सम्बन्ध में भी सन्देह होता है। सन्देह जिज्ञासा की भूमि है। जिज्ञासा की जागृति प्रतीति से सम्बन्ध विच्छेद कराती है और स्वीकृति को अस्वीकृति से मिटा देती है। प्रतीति से सम्बन्ध

विच्छेद होते ही ममता नाश हो जाती है और स्वीकृति को अस्वीकार करते ही अहंता नाश हो जाती है। अहम् और मम् के नाश होते ही काम का नाश हो जाता है। काम का नाश होते ही क्रिया, चिन्तन और स्थिति से अनासक्ति स्वतः हो जाती है जो चित्त को शुद्ध कर देती है।

क्रिया-जनित सुख से अरुचि होते ही सार्थक चिन्तन स्वतः जागृत होता है। यह नियम है कि ज्यों-ज्यों सार्थक चिन्तन सबल तथा स्थायी होता जाता है त्यों-त्यों सीमित अहम्-भाव निर्जीव होता जाता है। ज्यों-ज्यों सीमित अहम्-भाव निर्जीव होता जाता है त्यों-त्यों निर्विकल्पता स्वतः आती जाती है। निर्विकल्पता के स्थायी होते ही शान्ति की अभिव्यक्ति अपने आप होती है जो सामर्थ्य तथा स्वाधीनता की प्रतीक है।

क्रिया-जनित सुख लोलुपता से ही निरर्थक चिन्तन उत्पन्न होता है और स्थिति भंग हो जाती है जो चित्त को अशुद्ध करती है क्योंकि क्रिया-जनित सुख लोलुपता चेतना से जड़ता की ओर गतिशील करती है जिससे अहम् और मम् पुष्ट होता है। अतः क्रिया-जनित सुख लोलुपता का अन्त करने के लिए यह अनिवार्य है कि स्वार्थ भाव को सेवा भाव में परिवर्त्तित कर सर्व हितकारी प्रवृत्ति द्वारा सार्थक चिन्तन और सार्थक चिन्तन द्वारा निर्विकल्प स्थिति प्राप्त की जाय जो विकास का मूल है।

सर्व हितकारी प्रवृत्ति क्रिया को चिन्तन में और चिन्तन को स्थिति में विलीन करती है और स्वार्थ-भाव से उत्पन्न प्रवृत्ति स्थिति से चिन्तन की ओर और चिन्तन से क्रिया की ओर गतिशील करती है। क्रिया से स्थिति की ओर गतिशील होने में प्राणी जड़ता से चेतना की ओर और स्थिति से क्रिया की ओर गतिशील होने में चेतना से जड़ता की ओर गतिशील होता है। इस दृष्टि

से क्रिया से स्थिति की ओर अर्थात् जड़ता से चेतना की ओर जाना चित्त को शुद्ध करना है और स्थिति से क्रिया की ओर अर्थात् चेतना से जड़ता की ओर जाना चित्त को अशुद्ध करना है। क्योंकि वस्तु अवस्था परिस्थिति आदि में आवद्ध होना जड़ता में आवद्ध होना है और अनन्त, नित्य, चिन्मय-जीवन से विमुख होना है। इस कारण किसी भी अप्राप्त वस्तु अवस्था आदि का आवाहन नहीं करना चाहिए। अपितु प्राप्त वस्तु अवस्था आदि से विमुख होकर चिन्मय-जीवन की ओर अग्रसर होने का प्रयास करना अनिवार्य है। वह तभी सम्भव होगा जव प्रत्येक प्रवृत्ति सार्थक चिन्तन में और सार्थक चिन्तन अचिन्तता अर्थात् निर्विकल्पता में विलीन हो जाय अर्थात् श्रम रहित स्थिति स्वतः प्राप्त हो जाय परन्तु उसमें भी रमण न हो तभी चिन्मय-जीवन में प्रवेश हो सकता है। प्राकृतिक नियम के अनुसार प्रत्येक परिस्थिति में प्राणी का हित है, पर कव ? जव परिस्थितियों में जीवन-बुद्धि न हो, प्रत्युत प्रत्येक परिस्थिति का सदुपयोग कर्त्तव्य बुद्धि से अथवा उस अनंत के नाते उन्हीं के प्रसन्नतार्थ अभिनय रूप में किया जाय। ऐसा करने से होनेवाली प्रवृत्तियों का राग अंकित न होगा और प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त में स्वभाव से ही अनुराग अथवा तीव्र जिज्ञासा तथा शांति का उदय होगा जिससे प्राणी वड़ी ही सुगमता पूर्वक परिस्थितियों से अतीत के जीवन से अभिन्न हो सकता है।

समस्त परिस्थितियों से अतीत के जीवन को प्राप्त किए विना रुचि अरुचि का द्वन्द्व चलता ही रहता है अर्थात् प्राणी का चित्त राग और द्वेष से विक्षिप्त ही रहता है। अतः रुचि अरुचि का द्वन्द्व समाप्त करने के लिए या तो ऐसी रुचि जाग्रत हो जाय जिसकी पूर्त्ति अपूर्त्ति क्षोभ उत्पन्न न करे अथवा यों कहो कि

नवीन रुचि को जन्म न दे या सभी रुचियों का अन्त हो जाय तो दोनों अवस्थाओं में बड़ी ही सुगमतापूर्वक रुचि-अरुचि का द्वन्द्व मिट सकता है। ऐसी रुचि जो कभी अरुचि में न बदले प्रीति ही हो सकती है क्योंकि प्रीति पूर्त्ति-अपूर्त्ति से विलक्षण है और रसरूप है रसरूप होने के कारण काम की नाशक है जो काम की नाशक है उसी से रुचि अरुचि का द्वन्द्व मिट सकता है।

ऐसी अरुचि जिससे किसी रुचि का जन्म न हो असंगता ही हो सकती है। क्योंकि असंगता से भी निर्वासना आ जाती है जो समस्त रुचियों का अन्त करने में समर्थ है। इतना ही नहीं निर्वासना से प्रीति सबल होती है और प्रीति से वासनाओं का अन्त होता है। इस दृष्टि से प्रीति रूपी रुचि और असंगता रूपी अरुचि से रुचि अरुचि का द्वन्द्व सदा के लिए मिट सकता है जिसके मिटते ही चित्त शुद्ध हो जाता है।

असंगता तथा प्रीति इन दोनों से ही कर्म, चिन्तन और स्थिति तीनों ही से सम्बन्ध विच्छेद हो सकता है क्योंकि प्रीति और असंगता दोनों ही से देहाभिमान गल जाता है जिसके गलते ही अहम् और मम् का नाश हो जाता है अहम् के नाशसे परिच्छिन्नता मिट जाती है और मम् के नाश से असीम प्रीति उदय होती है। परिच्छिन्नता का नाश होते ही भेद मिट जाता है असीम प्रीति के उदय होने से भिन्नता मिट जाती है। भेद और भिन्नता के मिटते ही योग, ज्ञान तथा प्रेम के साम्राज्य में प्रवेश हो जाता है अथवा यों कहो कि भोग, मोह एवं द्वेष का सदा के लिए अन्त हो जाता है। भोग वासनाओं का अन्त होते ही स्वभाव से ही योग, और मोह का अन्त होते ही स्वभाव से ही बोध, और द्वेष का अन्त होते ही स्वभाव से ही प्रेम की अभिव्यक्ति होती है। योग में शान्ति सामर्थ्य, स्वाधीनता और बोध में अनन्त नित्य जीवन तथा प्रेम में

अगाध अनन्त रस निहित है। रुचि तथा योग्यता भेद से इन तीनों में से किसी भी एक की उपलब्धि हो जाने पर तीनों ही प्राप्त हो जाते हैं क्योंकि योग की पूर्णता में बोध तथा प्रेम और बोध की की पूर्णता में योग तथा प्रेम और प्रेम के प्राकट्य में योग तथा बोध स्वतः सिद्ध है। जिन प्राणियों की प्रत्येक प्रवृत्ति प्रीति से उदय होकर प्रीति में ही विलीन होती है वे प्रेम प्राप्त कर ज्ञान तथा योग प्राप्त कर लेते हैं और जिन प्राणियों की प्रत्येक प्रवृत्ति का अन्त राग रहित होने में होता है वे योग प्राप्त कर ज्ञान और प्रेम प्राप्त कर लेते हैं क्योंकि रागरहित भूमि में ही योग रूपी वृक्ष की उत्पत्ति होती है और योग रूपी वृक्ष में ही ज्ञान रूपी फल लगता है जो प्रेम रूपी रस से परिपूर्ण है। जो प्राणी विवेक पूर्वक सभी अवस्थाओं से असंग हो जाते हैं उन्हें ज्ञान, योग तथा प्रेम की प्राप्ति स्वतः हो जाती है। इस दृष्टि से प्रत्येक प्राणी अपनी-अपनी रुचि के अनुसार साधन निष्ठ होकर रुचि-अरुचि के द्वन्द्व का अन्तकर चित्तशुद्धि कर सकता है।

१४-६-५६

: ४४ :

मेरे निज स्वरूप परमप्रिय,

वस्तु में अहम्-बुद्धि तथा अहम् में वस्तु बुद्धि होने से मोह तथा काम की उत्पत्ति होती है जिससे चित्त-अशुद्ध हो जाता है। मोह की उत्पत्ति से भेद और काम से अनेक आसक्तियाँ उत्पन्न हो जाती हैं जो चित्त को अशुद्ध कर देती हैं। वस्तु में अहम्-बुद्धि होने से प्राणी जड़ता में और अहम् में वस्तु बुद्धि होने से परिच्छिन्नता में आबद्ध हो जाता है। जड़ता मोह को और परिच्छिन्नता काम को पोषित करती है। मोह संयोग की दासता और वियोग का भय उत्पन्न करता है। संयोग की दासता से बन्धन और वियोग के भय से अभाव का जन्म होता है। यद्यपि बन्धन तथा अभाव किसी भी प्राणी को अभीष्ट नहीं है परन्तु बेचारा मोह-वश उसी में जीवन बुद्धि स्वीकार कर लेता है। उसका परिणाम यह होता है कि प्राप्त वस्तुओं से तो प्राणी की तद्रूपता हो जाती है जिससे जड़ता में आबद्ध हो जाता है और अप्राप्त वस्तुओं का आवाहन करता रहता है जिससे अनेक प्रकार के अभावों से पीड़ित रहता है अथवा यों कहो कि सुख की आशा तथा दुःख के भय में आबद्ध रहता है जो चित्त की अशुद्धि है।

अहम् में वस्तु बुद्धि स्वीकार करते ही परिच्छिन्नता उत्पन्न होती है जो काम को जन्म देती है। काम का जन्म होते ही परि-

वर्त्तनशील वस्तुओं में सत्यता तथा सुन्दरता भासित होने लगती है जिससे बेचारा प्राणी अनन्त नित्य सौन्दर्य्य से विमुख होकर सीमित परिवर्त्तनशील सौन्दर्य्य में आबद्ध हो जाता है। सीमित परिवर्त्तनशील सौंदर्य्य की आसक्ति अनेक कामनाओं को जन्म देती है जिससे बेचारा प्राणी कामना-पूर्ति-अपूर्ति से सुखी-दुःखी होता रहता है अथवा यों कहो कि दीनता तथा अभिमान की अग्नि में जलता रहता है जिससे चित्त-अशुद्ध होता है।

अब विचार यह करना है कि सर्व प्रथम अहम् का भास होता है अथवा वस्तु की प्रतीति होती है। किसी भी वस्तु की प्रतीति उस समय तक नहीं होती जिस समय तक अपने में परिच्छिन्नता का भास न हो और परिच्छिन्नता का भास उस समय तक नहीं होता जिस समय तक अहम् स्फूर्ति में किसी मान्यता विशेष की स्वीकृति हो नहीं जाती। अतः अहम् स्फूर्ति में किसी मान्यता की स्वीकृति होने पर ही कामनाओं का जन्म होता है और कामनाओं की उत्पत्ति से ही वस्तुओं की प्रतीति होती है। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि सर्व प्रथम अहम् स्फूर्ति में ही मान्यता की स्थापना हुई। यद्यपि उस काल का ज्ञान किसी भी व्यक्ति को नहीं है जिस काल में मान्यता की स्थापना की गई थी परन्तु मान्यता की निवृत्ति अथवा उसमें परिवर्त्तन होता है, इससे यह स्वीकार करना ही पड़ता है कि मान्यता की स्थापना हुई थी। यह सभी की अनुभूति है कि घोर निद्रा से जाग आने पर प्राणी को सभी वस्तुओं से पूर्व अपने अहम् का भास होता है अथवा यों कहो कि प्राणी की प्रथम स्मृति अहम् की होती है। उसके पश्चात् दूसरी स्मृतियाँ आती हैं जिनके आते ही प्राणी अपने को कुछ-न-कुछ मान लेता है। यद्यपि उस मान्यता का चित्र कर्त्तव्य अकर्त्तव्य से भिन्न कुछ नहीं होता परन्तु निष्क्रियता काल में भी प्राणी

मान्यता की सत्यता को ज्यों का त्यों स्वीकार करता रहता है।

यदि मान्यता का कोई स्वतंत्र अस्तित्त्व होता तो उसका अभाव तथा उसमें परिवर्त्तन न होता। प्राणी जो कुछ करता है उससे मान्यता की सत्यता पुष्ट होती है तथा किसी परिस्थिति से संबंध हो जाता है। परिस्थिति से संबंध होने पर वस्तुओं, प्रतीतियों, मान्यताओं में अहम् बुद्धि दृढ़ हो जाती है जो भेद की उत्पत्ति में हेतु है।

कर्त्तव्यरूप मान्यता से विद्यमान राग द्वेष की निवृत्ति होती है और अकर्त्तव्यरूप मान्यताओं से नवीन रागद्वेष की उत्पत्ति होती है। रागद्वेष की निवृत्ति होने पर मान्यता की स्वीकृति में सत्यता नहीं रहती। जिसके मिटते ही भेद तथा भिन्नता शेप नहीं रहती और फिर स्वाधीनता तथा प्रेम की प्राप्ति हो जाती है। इस दृष्टि से कर्त्तव्यरूप मान्यताएँ चित्त शुद्धि का साधन मात्र हैं।

समस्त कर्त्तव्यों की परावधि रागद्वेप की निवृत्ति तथा त्याग की पूर्णता एवं प्रेम की प्राप्ति में है। किन्तु कर्त्तव्यों की पूर्णता से पूर्व जब तक प्राणी के जीवन में आंशिक कर्त्तव्य है तब तक निष्क्रियता काल में भी परिच्छिन्नता अर्थात् सीमित अहम् भाव ज्यों का त्यों सुरक्षित रहता है। कर्त्तव्यपरायणता की दृष्टि से प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त और दूसरी प्रवृत्ति की उत्पत्ति से पूर्व-काल में मान्यता अव्यक्तरूप से भले ही हो पर व्यक्तरूप से प्रतीत नहीं होती, तब भी परिच्छिन्नता ज्यों की त्यों रहती है क्योंकि एक ही अहम्-भाव में अनेक मान्यताओं की स्वीकृति होती है। मान्यताओं के अनुरूप प्रवृत्ति का जन्म होता है। साधनरूप प्रत्येक प्रवृत्ति का जन्म व्यक्ति में दूसरों के अधिकारों की रक्षा के लिए ही होता है। अर्थात् प्रवृत्ति द्वारा व्यक्ति दूसरों के अधिकारों की रक्षा करता है। उसका परिणाम यह होता है कि व्यक्ति में से विद्यमान राग की

निवृत्ति हो जाती है। यदि प्राणी दूसरों के अधिकार की रक्षा करते हुए अपने अधिकार की आशा न करे तो नवीन राग की उत्पत्ति नहीं होती। समस्त कर्त्तव्यों में दो ही भाग होते हैं:—एक दूसरों के अधिकार की रक्षा और दूसरा अपने अधिकार का त्याग। दोनों भागों की पूर्णता होने पर राग का अत्यन्त अभाव हो जाता है जिसके होते ही द्वेष स्वतः मिट जाता है। रागद्वेष रहित होते ही चित्त शुद्ध, स्वस्थ तथा शांत हो जाता है।

सर्व प्रथम भासित होनेवाली अहम् स्फूर्ति में परिच्छिन्नता भले ही हो पर उसमें किसी गुण दोष का आरोप नहीं होता। यद्यपि परिच्छिन्नता स्वयं एक बड़ा दोष है परन्तु अव्यक्त होने के कारण वह दोष क्रियात्मकरूप धारण नहीं करता। उस अव्यक्त में ही जब किसी मान्यता की स्थापना हो जाती है तब मान्यता के अनुरूप एक विधान का ज्ञान प्राणी को स्वतः होता है। यदि उस विधान के विपरीत कोई चेष्टा न की जाय तो साधनरूप मान्यता से सुन्दर समाज का निर्माण होने लगता है और व्यक्ति में सदाचार की अभिव्यक्ति होती है अथवा यों कहो कि विधान और व्यक्ति के चरित्र में एकता हो जाती है, जिसके होते ही सीमित अहम् भाव अपने आप गलने लगता है, सर्वांश में चरित्र और विधान की एकता होने पर समस्त दिव्य गुणों का प्रादुर्भाव स्वतः हो जाता है जिसके होते ही चित्त की अशुद्धि का अत्यन्त अभाव हो जाता है।

वस्तु में अहम्-बुद्धि और अहम् में वस्तु बुद्धि की स्वीकृति कब से हुई है उसका ज्ञान सम्भव नहीं है, परन्तु वस्तु में से अहम्-बुद्धि का और अहम् में से वस्तु बुद्धि का त्याग हो सकता है। उसके लिए वस्तु और अहम् में क्या भेद है यह जानना अनिवार्य है अर्थात् वस्तु और अहम् का क्या स्वरूप है? वस्तु रहित अहम् क्या है और अहम् रहित वस्तु क्या है? जो उत्पत्ति विनाश युक्त

है, जिसमें सतत् परिवर्तन है और जो पर-प्रकाश्य है उसे वस्तु कहते हैं। इस दृष्टि से समस्त दृश्य और समस्त परिवर्त्तनशील मान्यताएं भी वस्तु ही हैं। वस्तुओं के सम्बन्ध से भेद और भिन्नता की उत्पत्ति होती है।

जिस वस्तु में अहम् की स्थापना हो जाती है उस वस्तु में सत्यता और प्रियता भासने लगती है, अर्थात् वस्तुओं से भेद की उत्पत्ति और अहम् से सत्यता और प्रियता का भास। इसी कारण वस्तु और अहम् के सम्बन्ध से परिच्छिन्नता जड़ता आदि दोषों की उत्पत्ति होती है और उन दोषों में सत्यता, प्रियता और सुख रूपता भासने लगती है जिससे अनेक आसक्तियाँ उत्पन्न हो जाती हैं जिससे चित्त अशुद्ध अशान्त और अस्वस्थ हो जाता है। चित्त के अशुद्ध होने से समस्त विकारों की, अशान्त होने से असमर्थता की और अस्वस्थ होने से पराधीनता की उत्पत्ति हो जाती है। जिससे बेचारा प्राणी मिथ्या अभिमान तथा घोर दीनता में आबद्ध हो जाता है।

यदि वस्तु में अहम्-बुद्धि न रहे तो जड़ता की और अहम् में वस्तु बुद्धि न हो तो परिच्छिन्नता की उत्पत्ति ही नहीं होती। जड़ता और परिच्छिन्नता के बिना न तो काम की ही उत्पत्ति होती और न भेद की। काम और भेद के बिना आसक्ति तथा मोह शेष नहीं रहता। मोह का अन्त होते ही जड़ता का अभाव चिन्मय नित्य जीवन से अभिन्नता और आसक्ति का अन्त होते ही प्रेम की अभिव्यक्ति हो जाती है।

प्रेम की अभिव्यक्ति तथा नित्य चिन्मय जीवन की अभिन्नता में स्वरूप की एकता है कारण कि इन दोनों का विभाजन सम्भव नहीं है। वस्तु और अहम् के विभाजन से वस्तु और अहम् दोनों ही का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रहता जिसके न रहने से अलौकिक,

दिव्य, चिन्मय, अनन्त, नित्य जीवन की ही सत्ता शेष रहती है जो सभी का सब कुछ है। किसी ने उसे अपने में और किसी ने उसमें अपने को पाया।

पर यह तभी सम्भव होगा जब प्राणी या तो मूल दोष का अन्त कर सभी मान्यताओं से रहित हो वास्तविक जीवन से अभिन्न हो जाय अथवा साधन रूप मान्यता के अनुरूप साधन-निष्ठ होकर राग-द्वेष का अन्त कर चित्त को शुद्ध, शांत तथा स्वस्थ कर ले। चित्त के शुद्ध होने पर समस्त विकार अपने आप मिट जाते हैं; चित्त के शान्त होने पर आवश्यक सामर्थ्य का प्रादुर्भाव स्वतः होता है अर्थात् असमर्थता शेष नहीं रहती और चित्त के स्वस्थ होने पर पराधीनता का नाश अर्थात् स्वाधीनता की अभि-व्यक्ति होती है। निर्विकारता सामर्थ्य तथा स्वाधीनता प्राप्त होते ही सभी समस्याएँ स्वतः हल हो जाती हैं।

प्रत्येक व्यक्ति को साधन रूप मान्यता के अनुरूप साधननिष्ठ होने के लिए आवश्यक परिस्थिति सामर्थ्य तथा योग्यता स्वतः प्राप्त होती है क्योंकि वह अनंत की देन है। अतः प्रत्येक साधक अपनी-अपनी रुचि तथा योग्यतानुसार साधनपरायण हो सकता है। कर्त्तव्यपरायणता समस्त साधनों की भूमि है। अनेक दार्श-निक भेद होने पर भी परिस्थिति के सदुपयोग में कोई भेद नहीं है। अपने-अपने विश्वास, भाव तथा विवेक के अनुरूप प्रत्येक साधक का दृष्टिकोण भले ही भिन्न हो परन्तु परिस्थिति के सदु-पयोग का जो क्रियात्मक रूप है उसमें प्रायः सभी की समानता है। यद्यपि प्राकृतिक नियम के अनुसार दो व्यक्ति भी सर्वांश में समान योग्यता, रुचि तथा सामर्थ्य के नहीं होते परन्तु सभी की स्वाभाविक आवश्यकता अर्थात् लक्ष्य एक होता है। लक्ष्य की एकता के नाते सभी साधकों में मान्यता और कर्म का भेद होने

पर भी स्नेह की एकता रहती है। स्नेह की भिन्नता किसी भी साधन में नहीं है क्योंकि स्नेह की भिन्नता होने पर सिद्धि सम्भव ही नहीं है, कारण कि स्नेह की व्यापकता ही राग-द्वेप का अंत कर सकती है। राग-द्वेप के अन्त में ही सिद्धि निहित है।

विवेकपूर्वक असंगता से भी राग-द्वेप का अन्त हो जाता है क्योंकि असंगता समस्त वासनाओं का अन्त कर भेद तथा भिन्नता को खा लेती है, जिसके मिटते ही कर्त्तव्यपालन कर्तृत्व के अभिमान से रहित स्वतः होने लगता है।

विकल्परहित विश्वास के आधार पर समर्पित होते ही अनंत की कृपा-शक्ति स्वतः राग-द्वेप को खा लेती है और त्याग तथा प्रेम को प्रदान करती है जिससे स्वाधीनता, अमरत्व तथा अगाध अनन्त रस की अभिव्यक्ति होती है।

कर्त्तव्यपरायणता, असंगता और समर्पण इन तीनों के द्वारा चित्त शुद्ध हो सकता है। इतना ही नहीं, इनमें से किसी एक की पूर्णता होने पर तीनों ही की पूर्णता हो जाती है, कर्त्तव्यपरायणता से योग, असंगता से वोध एवं समर्पण से प्रेम की प्राप्ति होती है। योग, ज्ञान, प्रेम इन तीनों में विभाजन सम्भव नहीं है क्योंकि ये तीनों ही उस अनन्त की विभूति हैं। पर इस रहस्य को वे ही जान सकते हैं जिन्होंने वस्तुओं में से अहम्‌बुद्धि और अहम् में से वस्तु-बुद्धि का त्याग कर काम और मोह से रहित होकर चित्त शुद्ध कर लिया है।

१५–६–५६

: ४५ :

मेरे निज स्वरूप परमप्रिय,

आसक्ति और अनासक्ति के द्वन्द्व में ही चित्त की अशुद्धि निहित है, कारण कि वर्त्तमान जीवन के जिस स्तर में केवल आसक्ति ही आसक्ति है उस स्तर में अशुद्धि होने पर भी चित्त की शुद्धि का प्रश्न वर्त्तमान की वस्तु नहीं बनता, पर जीवन के जिस स्तर में आसक्ति के साथ-साथ अनासक्ति का भी प्रकाश है उसी स्तर में चित्तशुद्धि की समस्या उत्पन्न होती है अर्थात् अनासक्ति के प्रकाश ने ही आसक्ति को मिटाने की प्रेरणा दी है। इस दृष्टि से यह यह स्पष्ट विदित होता है कि आसक्ति ही चित्त की वास्तविक अशुद्धि है। संकल्प-अपूर्त्ति के दुःख का भय तथा संकल्प-पूर्त्ति के सुख की दासता ही भोग-सक्तियों को पोषित करती है जिससे चित्त अशुद्ध होता है।

आसक्ति की वास्तविकता जान लेने पर आसक्ति मिटाने की सामर्थ्य स्वतः आ जाती है। इस दृष्टि से आसक्ति के स्वरूप को जान लेना अनिवार्य है। आसक्ति सदैव उसके प्रति होती है जिससे मानी हुई एकता और स्वरूप से भिन्नता हो। जिससे किसी प्रकार की एकता तथा भिन्नता नहीं होती उसमें आसक्ति नहीं होती। जिससे भिन्नता है ही नहीं उससे प्रेम होता है आसक्ति नहीं। जिससे किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है उसका त्याग हो सकता है,

उसमें आसक्ति नहीं हो सकती अर्थात् आसक्ति उसी में होती है जिससे सम्बन्ध की स्वीकृति और वास्तविक भिन्नता है। देह तथा देही में ही सम्बन्ध की स्वीकृति और वास्तविक भिन्नता है क्योंकि प्रत्येक प्राणी को देह के परिवर्तन और अपने अपरिवर्तन का ज्ञान है। परिवर्तन और अपरिवर्तन में वास्तविक एकता तथा अभिन्नता सम्भव नहीं है। इस दृष्टि से देही की देह के प्रति सम्बन्धजनित एकता ही हो सकती है वास्तविक नहीं। आसक्तिजनित सम्बन्ध एक मात्र वस्तुओं के प्रति ही होता है। जो वस्तुओं से अतीत है उससे योग, ज्ञान तथा प्रेम-युक्त सम्बन्ध हो सकता है, आसक्ति-युक्त नहीं। योग, ज्ञान तथा प्रेमयुक्त सम्बन्ध भेद तथा भिन्नता का अन्त कर देता है। इस कारण, योग ज्ञान तथा प्रेमपूर्वक जिससे सम्बन्ध होता है उसमें आसक्ति नहीं होती प्रत्युत एकता तथा अभिन्नता होती है, जिससे चित्त शुद्ध हो जाता है।

यदि कोई यह कहे कि आसक्तिजनित सम्बन्ध दो व्यक्तियों में ही हो सकता है अथवा विभिन्न विचारधाराओं, दलों तथा सम्प्रदायों के प्रति भी हो सकता है। क्या कोई किसी व्यक्ति में उस समय तक आसक्त होता है जब तक उसमें देहरूपी वस्तु की स्थापना न कर ले ? दो आसक्त प्राणी अपने को देह से अलग अनुभव कर क्या एक दूसरे में आसक्त हो सकते हैं ? कदापि नहीं। इस दृष्टि से आसक्ति केवल वस्तु में ही सिद्ध होती है, चाहे वह अपनी देह में हो अथवा किसी अन्य की। इतना ही नहीं, देह की आसक्ति के आधार पर ही समस्त वस्तुओं में आसक्ति होती है क्योंकि देह के लिए ही वस्तुओं की अपेक्षा है। देहातीत के जीवन में किसी वस्तु की अपेक्षा नहीं है अर्थात् देह की आसक्ति को ही प्राणी अनेक वस्तुओं, अवस्थाओं एवं परिस्थितियों की आसक्ति के

रूप में बनाए रखता है। यदि देह में आसक्ति न रहे तो किसी भी वस्तु, व्यक्ति आदि में आसक्ति नहीं हो सकती। सूक्ष्म देह की आसक्ति ही विचारधाराओं, सम्प्रदायों तथा मतों में आसक्ति उत्पन्न करती है। अपनी विचारधारा के प्रचार के लिए ही प्राणी बड़े-बड़े दलों का आविष्कार करता है। विचारों की आसक्ति ही दो दलों, दो सम्प्रदायों आदि में संघर्ष उत्पन्न करती है। यद्यपि दो व्यक्ति भी सर्वांश में एक नहीं होते परन्तु फिर भी प्राणी आसक्ति-वश अपनी विचारधारा के आधार पर अनेक व्यक्तियों को संगठित कर व्यक्त-अव्यक्त रूप से अपने व्यक्तित्व की पूजा कराता है जिससे बेचारा पराधीन होकर चित्त को अशुद्ध कर लेता है। सर्वांश में अनासक्ति आ जाने पर प्रत्येक वस्तु, विचारधारा आदि का सदुपयोग हो सकता है पर परस्पर में भेद तथा संघर्ष नहीं हो सकता। भेद तथा संघर्ष का अन्त होने पर चित्त शुद्ध हो सकता है। अतः आसक्ति-अनासक्ति का द्वन्द्व रहते हुए चित्त शुद्ध नहीं हो सकता, अथवा यों कहो कि जब अनासक्ति आसक्तियों को खा लेती है तभी चित्त शुद्ध हो सकता है। अनासक्ति किसी वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति, विचार-धारा आदि की नाशक नहीं है अपितु उनकी दासता से मुक्त कर उनके सदुपयोग की प्रेरणा देती है। इस दृष्टि से अनासक्ति की भूमि में ही सभी का विकास निहित है।

वर्तमान वस्तुस्थिति में प्रत्येक प्राणी को संकल्प की उत्पत्ति, पूर्ति और अपूर्ति का चित्र दिखाई देता है। संकल्प-उत्पत्ति का दुःख संकल्प-पूर्ति से क्षण मात्र के लिए दब जाता है परन्तु जब ऐसे संकल्प उत्पन्न हो जाते हैं जिनकी पूर्ति सम्भव नहीं है तब बेचारा प्राणी संकल्प-पूर्ति के चिन्तन में आबद्ध होकर परिस्थितियों का दास बन जाता है। परिस्थितियों की दासता प्राप्त परिस्थिति

में ममता और अप्राप्त परिस्थितियों का आवाहन कराती रहती है। ज्यों-ज्यों प्राप्त की ममता और अप्राप्त का चिन्तन दृढ़ होता जाता है त्यों-त्यों बेचारा प्राणी पराधीनता तथा जड़ता में आबद्ध होता जाता है जिससे चित्त में अशुद्धि दृढ़ होती जाती है।

यद्यपि संकल्प-उत्पत्ति से पूर्व भी जीवन है परन्तु प्राणी उस पर दृष्टि नहीं रखता। उसका परिणाम यह होता है कि संकल्प-पूर्ति का महत्त्व बढ़ जाता है। प्रत्येक संकल्पपूर्त्ति के सुख की दासता नवीन संकल्प की जननी है। इस कारण संकल्पपूर्ति को महत्त्व देने से संकल्पों की उत्पत्ति का प्रवाह चलता ही रहता है और अन्त में संकल्प-अपूर्त्ति का दुःख ही शेष रहता है। इतना ही नहीं, बेचारा संकल्पपूर्त्ति के सुख का भोक्ता पराधीन तथा असमर्थ होकर जड़ता में आबद्ध हो जाता है क्योंकि भोग्य वस्तुओं का विनाश और भोगने की शक्ति का ह्रास तो हो ही जाता है, पर उस बेचारे के चित्त में केवल भोगासक्ति ही अङ्कित रह जाती है जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है।

संकल्प-अपूर्त्ति का दुःख जब संकल्पपूर्त्ति की महत्ता को खा लेता है तब संकल्प-निवृत्ति के जीवन में श्रद्धा तथा विश्वास उत्पन्न होता है, जिसके होते ही अनावश्यक और अशुद्ध संकल्प तो उत्पन्न ही नहीं होते और आवश्यक तथा शुद्ध संकल्प पूरे हो-होकर अपने आप मिटते जाते हैं, जिनके मिटते ही संकल्प-निवृत्ति, जो प्रत्येक संकल्प की उत्पत्ति से पूर्व और पूर्त्ति के पश्चात् स्वाभाविक है, की दृढ़ता स्वतः होने लगती है। संकल्प-निवृत्ति के स्तर पर दुःख नहीं है और अशान्ति, असमर्थता तथा पराधीनता भी नहीं है। इतना ही नहीं, ज्यों-ज्यों संकल्प-निवृत्ति की महत्ता और सुलभता चित्त में अङ्कित होती जाती है त्यों-त्यों संकल्पपूर्त्ति का सुख नीरस होता जाता है। संकल्पपूर्त्ति के सुख की नीरसता

संकल्प-निवृत्ति की शांति को सबल तथा स्थायी बनाती है। ज्यों-ज्यों संकल्प-निवृत्ति की शान्ति दृढ़ तथा अचल होती जाती है त्यों-त्यों सामर्थ्य तथा स्वाधीनता की अभिव्यक्ति स्वतः होती जाती है। इस दृष्टि से संकल्पनिवृत्ति प्राणी को असमर्थता, पराधीनता एवं जड़ता से रहित कर देती है।

संकल्प-निवृत्ति की शान्ति के द्वारा संकल्पपूर्त्ति के सुख की नीरसता ज्यों-ज्यों स्थायी होती जाती है त्यों-त्यों प्राप्त वस्तुओं की ममता और अप्राप्त वस्तुओं का चिन्तन स्वतः मिटता जाता है जिसके मिटते ही बेचारा अहम्भाव निर्जीव हो जाता है, कारण कि प्राप्त की ममता और अप्राप्त का चिन्तन ही उसका जीवन था। समस्त ममताओं का जो केन्द्र है वही सीमित अहम् का स्वरूप है। अतः समस्त ममताओं का अन्त होते ही बेचारा अहम् अपने आप गल जाता है। यह नियम है कि अहम् के गलने से सभी ममताएँ मिट जाती हैं और ममताओं के मिट जाने से अहम् गल जाता है। अहम् और मम का अन्त होते ही सभी आसक्तियाँ स्वतः मिट जाती हैं जिनके मिटते ही चित्त शुद्ध हो जाता है।

संकल्प-निवृत्ति की सुलभता तथा महत्ता दृढ़ होने पर प्राणी असाधारण जीवन की ओर अग्रसर होने लगता है क्योंकि समस्त विकास संकल्प-निवृत्ति में ही निहित हैं। संकल्प-निवृत्ति के स्तर दृढ़ होने से ही प्राणी चित्त-विज्ञान अर्थात् चित्त की वास्तविकता का ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ हो सकता है। चित्त कितनी गहरी खाई है इसका पता संकल्पनिवृत्ति के बिना सम्भव नहीं है क्योंकि चित्त का निरोध अथवा चित्त का बाद वही कर सकता है जो संकल्पनिवृत्ति के स्तर पर ठहर सकता है, अथवा यों कहो कि चित्त का निरोध, चित्त का बाद तथा चित्त का अपने अभीष्ट लक्ष्य में पूर्णरूप से लग जाना अर्थात् चित्त का लक्ष्याकार हो जाना तभी सम्भव है

जब प्राणी संकल्पनिवृत्ति की स्थिति को सुरक्षित रख सके। यहाँ तक कि उसकी शान्ति में रमण न करे अर्थात् संकल्प-अपूर्ति के दुःख के भय, संकल्पपूर्ति के सुख की दासता एवं संकल्पनिवृत्ति की शांति से असंग हो जाय। चित्त के निरोध में योग, बाद में ज्ञान और लक्ष्याकार होने में प्रेम निहित है। इस दृष्टि से समस्त विकास का मूल चित्त की शुद्धि पर ही निर्भर है।

संकल्प-निवृत्ति से ही संकल्प-पूर्ति का सामर्थ्य आता है और संकल्प-निवृत्ति के महत्त्व से ही संकल्प-पूर्ति के सुख का राग मिट सकता है अर्थात् अनासक्ति प्राप्त हो सकती है। अनासक्ति के बिना कोई भी प्राणी न तो प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग ही कर सकता है और न अप्राप्त परिस्थिति की कामना से रहित हो सकता है। प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग किए बिना परिस्थितियों से अतीत के जीवन में न तो विश्वास तथा श्रद्धा ही हो सकती है और न उसकी प्राप्ति ही सम्भव है। अतः भौतिक विकास और आध्यात्मिक जीवन की उपलब्धि संकल्प-निवृत्ति में ही निहित है।

संकल्प-निवृत्ति के स्तर पर समर्थ और असमर्थ समान हो जाते हैं, कारण कि संकल्प-निवृत्ति में दुःख की निवृत्ति है। दुःख की निवृत्ति होने पर सुख का महत्त्व अपने आप मिट जाता है जिसके मिटते ही सुखी और दुखी में जो विषमता थी वह शेष नहीं रहती। जिस प्रकार गहरी नींद में सभी प्राणी समान होते हैं उसी प्रकार संकल्प-निवृत्ति में समता आ जाती है। गहरी नींद और संकल्प-निवृत्ति की समता में एक बड़ा अन्तर यह है कि गहरी नींद की समता प्राणी को जड़ता में आबद्ध करती है परन्तु संकल्प-निवृत्ति की समता चिन्मय जीवन की ओर अग्रसर करती है। परन्तु कब? जब प्राणी संकल्प-निवृत्ति को ही जीवन नहीं मानता। यद्यपि संकल्प-निवृत्ति संकल्प-पूर्ति की अपेक्षा बड़े ही

महत्त्व की वस्तु परन्तु वही जीवन नहीं है। संकल्प-पूर्ति और संकल्प-निवृत्ति में एक बड़ा अन्तर यह है कि संकल्प-पूर्ति जिन साधनों से होती है, प्राणी उनके अधीन हो जाता है अर्थात् स्वाधीन नहीं रहता किन्तु संकल्प-निवृत्ति के स्तर पर वस्तु, व्यक्ति आदि की पराधीनता नहीं रहती परन्तु अहम् का महत्त्व सुरक्षित रहता है। संकल्प-पूर्ति वस्तु, व्यक्ति आदि के अधीन बनाती है और संकल्प-निवृत्ति अहम् का महत्त्व बढ़ाती है। अहम् का महत्त्व वस्तुओं की अपेक्षा भले ही अधिक हो परन्तु वास्तविक जीवन में अहम् का कोई महत्त्व नहीं है क्योंकि अहम् भेद को उत्पन्न करता है जो अनर्थ का मूल है।

वास्तविक जीवन की प्राप्ति के लिए सीमित अहम् का अन्त करना अनिवार्य है जो योग, ज्ञान तथा प्रेम की पूर्णता से ही संभव है। संकल्प-निवृत्ति में जीवन-बुद्धि न रहने से अपने आप विचार का उदय होता है जो काम का अन्त कर निस्सन्देहता प्रदान करने में समर्थ है। निस्सन्देहता सभी अवस्थाओं से अतीत के जीवन से अभिन्न कर देती है क्योंकि किसी भी अवस्था में आबद्ध प्राणी सन्देह-रहित नहीं हो सकता। निर्विकल्प स्थिति सभी अवस्थाओं में श्रेष्ठ है परन्तु अवस्थातीत के जीवन का तो द्वार ही है। इस कारण प्राणी को बड़ी ही सावधानीपूर्वक निर्विकल्प स्थिति से असंग होना है।

अवस्था की आसक्ति अहम् को जीवित रखती है, और अवस्थाओं की असंगता अहम् को भस्मीभूत कर देती है। अहम् ✓का अन्त होते ही नित्य योग, निस्सन्देहता एवं प्रेम स्वतः प्राप्त होता है।

संकल्प-निवृत्ति वस्तुओं की आसक्ति को खाकर अनासक्ति और संकल्प-निवृत्ति की असंगता अहम् को खाकर अभिन्नता

प्रदान करती है। अनासक्ति और अभिन्नता से चित्त शुद्ध हो जाता है और फिर आसक्ति-अनासक्ति का द्वन्द्व शेष नहीं रहता, क्योंकि अहम्‌भाव गल जाने से आसक्ति की उत्पत्ति नहीं होती और अनासक्ति का अभिमान नहीं रहता, अथवा यों कहो कि अनासक्ति का अभिमान भी एक आसक्ति ही है जिसके रहते हुए चित्तशुद्ध नहीं हो सकता। अतः चित्त-शुद्धि के लिए अनासक्ति के अभिमान का अन्त करना भी अनिवार्य है।

१६-६-५६

: ४६ :

मेरे निज स्वरूप परमप्रिय,

किसी अप्राप्त साधन के द्वारा किसी ऐसे साध्य की खोज करना जो सर्वत्र तथा सर्वदा नहीं है, चित्त को अशुद्ध करना है। प्राकृतिक नियम के अनुसार प्रत्येक साधक को साधनसामग्री स्वतः प्राप्त है और उसी के सदुपयोग से साध्य की उपलब्धि अनिवार्य है, कारण कि वह साधन साधन नहीं जिसके करने में साधक असमर्थ हो और वह साध्य साध्य नहीं जिसकी प्राप्ति सम्भव न हो। साधन वही है जिसके करने में साधक समर्थ तथा स्वाधीन है और साध्य वही है जिसकी प्राप्ति अवश्यम्भावी है।

साधक और साधन के मध्य में अगर कोई आवरण है तो वह असाधन है। साधन और असाधन में केवल इतना ही भेद है कि प्राप्त वस्तु तथा सामर्थ्य का उपयोग निज विवेक के अनुरूप होना साधन और उसके विपरीत होना असाधन है। साधक साधन से अभिन्न होकर सपने साध्य का प्रेम तथा उसका ज्ञान एवं उससे अभिन्नता प्राप्त करने की लालसा रखता है। उस लालसा की पूर्त्ति तभी सम्भव होगी जब साधक में से असाधन का अन्त और साधन की अभिव्यक्ति हो जाय अर्थात् साधनरूपी प्रकाश असाधनरूपी अन्धकार को खा जाय।

असाधन का ज्ञान साधक में स्वयं है। यदि ऐसा न होता तो

साधन की लालसा ही जागृत न होती। ऐसा कोई प्राणी नहीं है जिसके जीवन में कर्त्तव्य का प्रश्न न हो और जिसका कोई लक्ष्य न हो। कर्त्तव्य का प्रश्न यह सिद्ध करता है कि वर्तमान वस्तुस्थिति में किसी न किसी अंश में अकर्त्तव्य है। जब प्राणी निज विवेक के प्रकाश में अकर्त्तव्य को जान लेता है तब बड़ी ही सुगमतापूर्वक उसका त्याग कर कर्त्तव्यनिष्ठ हो जाता है, कारण कि अकर्त्तव्य के त्याग में कर्त्तव्यपालन का सामर्थ्य निहित है। कर्त्तव्यनिष्ठ होते ही असाधन मिट जाता है और साधन से अभिन्नता हो जाती है। प्राकृतिक नियम के अनुसार साधन साध्य का स्वभाव है और वही साधक का जीवन है। साधन के अतिरिक्त साधक का कोई अलग स्वतन्त्र अस्तित्व हो ही नहीं सकता। पर यह रहस्य तभी खुलता है जब साधक अपने जाने हुए तथा बनाये हुए असाधन का अन्त कर साधन से अभिन्न हो जाय।

असावधानी के कारण बेचारा प्राणी असाधन को देखने की दृष्टि का उपयोग अपनी वस्तुस्थिति पर न करके दूसरों पर करने लगता है। उसका परिणाम यह होता है कि साधक के जीवन में साधन और असाधन का द्वन्द्व उत्पन्न हो जाता है जो चित्त को अशुद्ध कर देता है। असाधन का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। साधक की असावधानी से ही असाधन की उत्पत्ति और उसका पोषण होता है, अथवा यों कहो कि असावधानी की भूमि में ही असाधन की उत्पत्ति होती है। जो जानते हैं उसको न मानना और जो कर सकते हैं उसको न करना ही असावधानी है। इस दृष्टि से असावधानी किसी और की देन नहीं है और न प्राकृतिक है और न कोई उसका स्वतन्त्र अस्तित्व है। इतना ही नहीं, स्वाभाविकता में जो अस्वाभाविकता की स्थापना कर ली जाती है वही असावधानी है। अस्वाभाविकता कितनी ही सबल क्यों न

प्रतीत हो पर वह स्वाभाविकता का नाश नहीं कर सकती और स्वाभाविकता कितनी ही निर्बल क्यों न हो पर वह अस्वाभाविकता के मिटाने में समर्थ होती है क्योंकि स्वाभाविकता उस अनन्त का विधान है और अस्वाभाविकता व्यक्ति का अपना बनाया हुआ दोष है। इस कारण स्वाभाविकता से अस्वाभाविता मिट सकती है जिसके मिटते ही चित्त शुद्ध हो जाता है।

प्रत्येक परिस्थिति प्राकृतिक न्याय है। प्राकृतिक न्याय में किसी का अहित नहीं है। अतः जिसे जो परिस्थिति प्राप्त है वह उसी के सदुपयोग से साधननिष्ठ हो सकता है। अब यदि कोई यह कहे कि मेरा तन, मन, बुद्धि, साथी, देश, काल, वस्तु आदि मेरे अनुकूल नहीं हैं इस कारण साधननिष्ठ नहीं हो सकता। जो प्राणी प्राप्त वस्तु, सामर्थ्य तथा योग्यता के द्वारा साधननिष्ठ नहीं हो सकता वह वर्त्तमान में साधक नहीं बन सकता क्योंकि साधन वर्त्तमान जीवन की वस्तु है। उसको भविष्य पर नहीं छोड़ा जा सकता। प्रकृति के विधान में प्राणी मात्र के प्रति हित-कामना तथा स्नेह है। भला उससे किसी भी व्यक्ति को ऐसी परिस्थिति मिल सकती है जो साधन-सामग्री न हो ? कदापि नहीं।

समस्त साधन विवेकशक्ति, भावशक्ति और क्रियाशक्ति के सदुपयोग से सिद्ध होते हैं। ऐसा कोई व्यक्ति है ही नहीं जिसमें किसी न किसी अंश में विवेकशक्ति भावशक्ति, और क्रियाशक्ति न हो। न्यूनाधिक का भेद भले ही हो पर इन शक्तियों से रहित कोई व्यक्ति नहीं है। अतः प्रत्येक व्यक्ति साधन-निष्ठ हो सकता है। यह मानना कि मैं साधननिष्ठ नहीं हो सकता, अपने प्रति घोर अत्याचार करना है। अथवा यों कहो कि अपने द्वारा अपना विनाश करना है। प्रत्येक व्यक्ति में यह विकल्परहित विश्वास होना चाहिए कि मैं जिस परिस्थिति में

हूँ उसी में साधन कर सकता हूँ क्योंकि इस विश्वास का विरोध न तो प्राकृतिक विधान में है और न व्यक्ति के विवेक में। असाधनजनित सुख-लोलुपता के कारण बेचारा प्राणी यह मान बैठा है कि मैं साधन करने में असमर्थ हूँ। यह मान्यता अस्वाभाविक है, इसका त्याग करना परम अनिवार्य है।

प्राप्त विवेक में कर्त्तव्य-विज्ञान तथा वस्तुओं के स्वरूप का ज्ञान विद्यमान है। यदि विवेक में कर्त्तव्य का ज्ञान न होता तो व्यक्ति अपने प्रति होनेवाले अन्याय को कैसे जानता और दूसरों से न्याय तथा प्रेम की आशा कैसे करता। अपने प्रति होनेवाली बुराई का ज्ञान यह सिद्ध करता है कि व्यक्ति बुराई को बुराई जानता है। यदि प्राणी अपनी जानी हुई बुराई का अन्त कर दे तो वह बड़ी ही सुगमतापूर्वक कर्त्तव्यनिष्ठ हो सकता है। व्यक्ति के कर्त्तव्यनिष्ठ होने में सुन्दर समाज का निर्माण स्वतः होने लगता है क्योंकि समाज के अधिकार की रक्षा ही व्यक्ति का कर्त्तव्य है। इतना ही नहीं, दूसरों के अधिकारों की रक्षा करते ही व्यक्ति में जो विद्यमान राग था उसकी निवृत्ति हो जाती है और यदि व्यक्ति अपने अधिकार की चिन्ता न करे अर्थात् उसका त्याग कर दे तो नवीन राग की उत्पत्ति ही नहीं होती। विद्यमान राग की निवृत्ति हो जाय और नवीन राग की उत्पत्ति न हो तो प्राणी बड़ी ही सुगमतापूर्वक राग-रहित हो जाता है। राग-रहित होते ही द्वेष अपने आप मिट जाता है जिसके मिटते ही स्वतः प्रेम की अभिव्यक्ति हो जाती है, जिसके होते ही समस्त भेद अपने आप मिट जाते हैं क्योंकि प्रेम का स्वभाव ही है कि भेद तथा भिन्नता को खा लेता है। भेद तथा भिन्नता के मिटते ही प्राणी कामरहित हो जाता है जिसके होते ही चित्त स्वतः शुद्ध हो जाता है।

कर्त्तव्य-विज्ञान की दृष्टि से दूसरों के हित में ही अपना हित

निहित है क्योंकि प्राकृतिक नियम के अनुसार दूसरों के प्रति जो कुछ किया जाता है वही कईगुना अधिक होकर अपने प्रति हो जाता है। इस विधान के अनुसार किसी भी प्राणी को किसी के प्रति वह करना ही नहीं है जो अपने प्रति दूसरों के द्वारा अभीष्ट नहीं है। यदि निर्वलता आदि किसी कारण से दूसरों के द्वारा हमारे साथ वह न हो सके जो हमने दूसरों के साथ किया है तो यह नहीं समझना चाहिए कि हमारा किया हुआ हमारे प्रति नहीं होगा। प्राकृतिक नियम के अनुसार स्वतः वह शक्ति उत्पन्न हो जायगी जिसके द्वारा हमारा किया हुआ हमारे प्रति स्वतः हो जायगा। क्योंकि की हुई कार्य की प्रतिक्रिया प्राकृतिक नियमानुसार स्वतः होती है। इस दृष्टि से प्रत्येक सवल को निर्वल की रक्षा करनी चाहिए तभी सवल का वल सुरक्षित रह सकता है। जिस वल से निर्वलों की सेवा नहीं होती अपितु ह्रास होता है वह वल स्वतः मिट जाता है। जिसके मिटते ही वेचारा सवल निर्वल हो जाता है और उसका विरोधी पक्ष सवल हो जाता है। अतः प्राकृतिक विधान के अनुसार वल निर्वलों की ही वस्तु है, उसके द्वारा निर्वलों की सेवा करना अनिवार्य है जिसके करने से सवल और निर्वल में अभिन्नता हो जाती है और फिर संघर्ष सदा के लिए मिट जाता है। समस्त निर्वलताओं का कारण एक मात्र वल का दुरुपयोग ही है और कुछ नहीं। वल का दुरुपयोग वही करता है जो कर्त्तव्य विज्ञान का अनादर करता है जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है।

कर्त्तव्य विज्ञान की दृष्टि से कर्त्तव्यपालन मात्र में ही प्राणी का अधिकार है। उससे भिन्न कर्त्तव्य परायण प्राणी अपना कोई अधिकार नहीं मानता है। अब यदि कोई यह कहे कि तो फिर कर्त्तव्यनिष्ठ प्राणियों के अधिकारों

की रक्षा कैसे होगी ? यह नियम है कि प्राणियों के जीवन के अनुरूप ही समाज बनता है अतः कर्त्तव्य-निष्ठ प्राणियों के द्वारा समाज में स्वतः कर्त्तव्य परायणता आ जाएगी। जिसके आते ही परस्पर में स्वतः एक दूसरे के अधिकार सुरक्षित हो जाएँगे क्यों कि किसी के अधिकार में ही किसी का कर्त्तव्य निहित रहता है। अतः अपना अधिकार दूसरे का कर्त्तव्य है और दूसरे का अधिकार अपना कर्त्तव्य है अपने अधिकारों के त्याग की सामर्थ्य कर्त्तव्य परायण प्राणियों में स्वतः आ जाती है, परन्तु प्राकृतिक नियम के अनुसार कर्त्तव्य-निष्ठ प्राणियों के अधिकार स्वतः सुरक्षित होने लगते हैं। पनन्तु फिर भी कर्त्तव्य-निष्ठ प्राणी में अधिकार लालसा उदय नहीं होती, उसका परिणाम यह होता है कि अधिकार सुरक्षित रहने पर राग की उत्पत्ति नहीं होती और यदि किसी कारण अधिकार का अपहरण हो जाय तो कर्त्तव्यनिष्ट प्राणी में क्रोध की उत्पत्ति नहीं होती। अर्थात् जो कर्त्तव्य-निष्ट प्राणी अपने अधिकार का त्याग कर देता है वह राग तथा क्रोध से रहित हो जाता है जिसके होते ही चित्त शुद्ध हो जाता है और जो प्राणी कर्त्तव्य पालन के बदले में अधिकार माँगता है, यदि, उसकी पूर्त्ति हो गयी तो उसके चित्त में राग अङ्कित हो जाता है और यदि अपूर्त्ति हुई तो क्रोध उत्पन्न हो जाता है जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है। अतः चित्तशुद्धि के लिए अनिवार्य है कि अपने अधिकार का त्याग और दूसरों के अधिकार की रक्षा की जाय जो वास्तविक कर्त्तव्य विज्ञान है।

प्राप्त विवेक अनन्त का विधान है। उसका आदर करना अनिवार्य है। वस्तुओं के परिवर्त्तन तथा उनके अदर्शन का ज्ञान भी विवेक में विद्यमान है यदि उसका आदर किया जाय तो प्राणी बड़ी ही सुगमता पूर्वक वस्तु, व्यक्ति, अवस्था आदि की दासता

से रहित हो जाता है। जिसके होते ही निर्लोभता, निर्मोहता और अपरिच्छिन्नता आदि की अभिव्यक्ति स्वतः होती है। निर्लोभता की अभिव्यक्ति दरिद्रता का, निर्मोहता की अभिव्यक्ति अविवेक का और अपरिच्छिन्नता की अभिव्यक्ति भेद का अन्त करने में समर्थ है। दरिद्रता के अंत में उदारता, अविवेक के अंत में निस्सन्देहता और भेद के अंत में निर्भयता स्वतः आ जाती है। उदारता, निस्सन्देहता, निर्भयता आते ही प्रेम, वास्तविकता का ज्ञान और सामर्थ्य का प्रादुर्भाव स्वतः होता है। प्रेममें अनन्त रस, वास्तविकता के ज्ञान में अमरत्त्व और सामर्थ्य में स्वाधीनता निहित है। अमरत्व, स्वाधीनता और अनन्त रस की स्वाभाविक आवश्यकता प्रत्येक व्यक्ति में विद्यमान है अतः वही प्राणी का लक्ष्य है जिसकी उपलब्धि प्राप्त विवेक के प्रकाश में प्राप्त वस्तु और सामर्थ्य का उपयोग करने पर स्वतः सिद्ध है। इस दृष्टि से प्राणी का जो लक्ष्य है उसकी प्राप्ति प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग से हो सकती है। अतः साधन करने में कोई भी साधक असमर्थ नहीं है और साधननिष्ठ होने पर सफलता अनिवार्य है।

परिस्थिति के अनुरूप प्रत्येक प्रवृत्ति पवित्र भाव से भावित और भाव निज विवेक के प्रकाश से प्रकाशित होना चाहिये। ऐसा कोई प्राणी नहीं है जिसमें प्रेम, आदर तथा रक्षा की आकांक्षा न हो अर्थात् प्रेम, आदर और रक्षा की माँग का ज्ञान सभी में स्वाभाविक है। रक्षा उसी की होती है जिससे किसी का विनाश अर्थात् अहित न हो और आदर उसी को मिलता है जो स्वयं अपनी दृष्टि में आदर के योग्य हो और किसी का अनादर न करता हो। अपनी दृष्टि में आदर के योग्य वही हो सकता है जो अपने जाने हुए दोषों का अन्त करने में समर्थ है अर्थात् जिसमें निर्दोषता की अभिव्यक्ति हो गयी है और उसी के द्वारा किसी का

अनादर नहीं होता जिसमें से पर दोष दर्शन की दृष्टि मिट जाती है। इस दृष्टि से जिसकी प्रत्येक प्रवृत्ति सर्व हितकारी भाव अथवा सर्वात्मभाव अथवा प्रेमास्पद की पूजा के भाव से होती है उसकी निवृत्ति पवित्र-भाव से भावित है।

प्रेम उन्हीं को प्राप्त हो सकता है जिन्होंने प्रेमास्पद से भिन्न की सत्ता ही स्वीकार न की हो और जो प्रत्येक प्रवृत्ति द्वारा अपने प्रेमास्पद की ही पूजा करते हैं क्योंकि प्रेम के आदान-प्रदान में ही प्रेम की प्राप्ति है।

सर्वहितकारी-भाव, सर्वात्म-भाव अथवा प्रत्येक प्रवृत्ति प्रेमास्पद की पूजा के भाव से होनेपर ही प्रवृत्ति पवित्र भाव से भावित हो सकती है। सर्वहितकारी भाव से की हुई प्रवृत्ति विश्व-प्रेम और सर्वात्मभाव से की हुई प्रवृत्ति आत्मरति और प्रेमास्पद की पूजा के भाव से की हुई प्रवृत्ति स्वतः प्रेम हो जाती है। इस दृष्टि से पवित्र भाव से भावित प्रवृत्ति प्रेम प्रदान करती है अर्थात् कर्ता प्रेमी हो जाता है। प्रेमी होने पर सर्वत्र सर्वदा उसे प्रेमास्पद ही की अभिव्यक्ति प्रतीत होती है अथवा यों कहो कि प्रेमी की दृष्टि में प्रेमास्पद से भिन्न कुछ है ही नहीं। भेद तथा भिन्नता का अभाव होते ही चित्त स्वतः शुद्ध हो जाता है। अतः प्राप्त परिस्थिति के द्वारा साधन निर्माण कर साधननिष्ठ हो साध्य को प्राप्त करने में प्रत्येक साधक सर्वदा समर्थ है।

१७-६-५६

: ४७ :

मेरे निज स्वरूप परमप्रिय,

परिस्थिति के अनुरूप अपने आप होनेवाली प्रवृत्तियों का अन्त जब वास्तविक निवृत्ति में नहीं होता तब प्राणी का चित्त अशुद्ध हो जाता है जिसके होते ही अशान्ति, असमर्थता, पराधीनता, निरसता आदि अनेक दोष उत्पन्न हो जाते हैं। यद्यपि उन दोषों का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं होता परन्तु प्राणी उनमें आबद्ध हो जाता है। प्राकृतिक नियमानुसार प्रत्येक प्रवृत्ति का अंत स्वभाव से ही वास्तविक निवृत्ति में होना चाहिए। परन्तु प्रवृत्ति कर्त्ता की असावधानी के कारण प्रवृत्ति का अन्त वास्तविक निवृत्ति में नहीं होता अथवा यों कहो कि प्रवृत्ति का अधूरापन उसका अन्त वास्तविक निवृत्ति में नहीं होने देता। यद्यपि ऐसी कोई प्रवृत्ति हो ही नहीं सकती जिसका उद्‌गम निवृत्ति न हो और जो अंत में स्वभाव से ही निवृत्ति में विलीन न हो अर्थात् समस्त प्रवृत्तियाँ निवृत्ति की भूमि से उत्पन्न होकर उसी में विलीन होती है परन्तु प्राणी असावधानी के कारण प्रवृत्ति के आदि और अन्त की निवृत्ति को महत्व नहीं देता, उसका परिणाम यह होता है कि प्रवृत्ति के अन्त में अपने आप आनेवाली निवृत्ति काल में भी प्रवृत्ति-जनित स्मृतियाँ उत्पन्न होती रहती हैं जिससे बेचारा प्राणी आगे-पीछे के व्यर्थ चिन्तन में आबद्ध हो जाता है। जिसके

होते ही प्राणी प्राप्त विवेक का अनादर तथा प्राप्त सामर्थ्य का दुरुपयोग करने लगता है। उसका परिणाम यह होता है कि शांति भंग हो जाती है और असमर्थता तथा पराधीनता अपने आप आ जाती है जो चित्त की अशुद्धि है।

प्रत्येक प्रवृत्ति का मूल विद्यमान राग है उसकी निवृत्ति के लिए प्राकृतिक नियमानुसार प्राणी को परिस्थिति मिली है जो सुख दुःख से युक्त और परिवर्त्तनशील है जब तक प्राणी सुख की आशा और दुःख के भय में आबद्ध रहता है तब तक प्राप्त विवेक के अनुरूप परिस्थिति का सदुपयोग नहीं कर पाता। उसका परिणाम यह होता है कि जो कार्य जितनी सुन्दरतापूर्वक होना चाहिए, नहीं होता। वर्त्तमान कार्य असुन्दर होने से कर्त्ता में कार्य करने का राग तो बना रहता है पर उसकी सामर्थ्य का ह्रास हो जाता है। इसी कारण प्रवृत्ति के अन्त में वास्तविक निवृत्ति नहीं आती और भूत काल की घटनाओं का प्रभाव चित्त में अङ्कित रहता है जो निवृत्ति को भंग कर अनावश्यक प्रवृत्तियों की स्मृतियों को जन्म देता है। चित्त में अङ्कित स्मृतियाँ अनेक सम्बन्ध उत्पन्न करती हैं। इतना ही नहीं; वस्तुओं के नाश हो जाने पर भी उनका सम्बन्ध और उनकी स्मृति सजीव रहती है जो प्राणी को सीमित अहम्-भाव में आबद्ध करती है। अथवा यों कहो कि स्मृति और सम्बन्ध का समूह ही सीमित अहम् भाव है। सीमित अहम्-भाव के रहते हुए जिन वस्तुओं का अस्तित्व है ही नहीं, उन वस्तुओं की सत्यता भासित होती है जो बेचारे प्राणी को वस्तु, व्यक्ति अवस्था परिस्थिति की दासता से रहित नहीं होने देती। इसी कारण प्रवृत्ति के अन्त में वास्तविक निवृत्ति सुरक्षित नहीं रहती और अनहोनी प्रवृत्तियों की स्मृति प्राणी को चैन से नहीं रहने देती। अर्थात् बेवस प्राणी मानसिक व्यथा में आबद्ध हो जाता

है। कितने आश्चर्य की वात है कि अस्तित्व हीन वस्तुओं की स्मृतियों और माने हुए सम्वन्धों ने वेचारे प्राणी को वास्तविकता से विमुख कर दिया है। यदि प्राणी विवेकपूर्वक स्मृति और सम्वन्धों के समूह का अन्त कर डाले तो वड़ी ही सुगमतापूर्वक दीर्घ काल की अशुद्धि वर्त्तमान में मिट सकती है।

प्रवृत्तिजनित सुख प्रवृत्ति के राग को दृढ़ करता है। यद्यपि प्रवृत्ति-जनित सुख में पराधीनता, जड़ता, शक्तिहीनता, अभाव आदि अनेक दोष हैं, परन्तु प्राणी सुख लोलुपता के कारण दोषों में ही जीवन वुद्धि मानकर प्रवृत्ति का दास वन जाता है। प्रवृत्ति की दासता निवृत्ति का महत्त्व चित्त में अङ्कित नहीं होने देती। निवृत्ति का महत्त्व जाने विना प्राणी निवृत्ति से भयभीत होता है और प्रवृत्तिजनित पराधीनता में ही स्वाधीनता के समान सुख भोगने लगता है। अर्थात् पराधीनता को स्वाधीनता मान लेता है।

यदि प्राणी प्रवृत्ति के मूल को जान लेता तो वड़ी सुगमतापूर्वक प्रवृत्ति की दासता से रहित हो जाता। समस्त प्रवृत्तियों का मूल देहाभिमान है जो अविवेक सिद्ध है। किसी ने भी अपने को देह से अलग जानकर किसी भी प्रवृत्ति का आश्रय नहीं लिया। कोई भी व्यक्ति यह सिद्ध नहीं कर सकता कि मैंने अपने को देह से अलग जानकर अपने लिए अमुक कार्य किया है। समस्त कार्यों की उत्पत्ति अपने को देह मान लेने पर ही होती है अर्थात् देह की तद्रूपता ही प्रवृत्ति की जननी है। देह की तद्रूपता से प्रवृत्ति का जन्म होता है और प्रवृत्तिजनित सुखासक्ति से देह की तद्रूपता दृढ़ होती है और यह चक्र उस समय तक चलता ही रहता है जव तक प्रत्येक प्रवृत्ति का अन्त वास्तविक निवृत्ति में न हो जाय।

प्रत्येक परिस्थिति सुख-दुःख से युक्त है। उसी के अनुरूप ही

प्रवृत्ति होती है। उत्पत्ति विनाशयुक्त कोई भी परिस्थिति ऐसी हो ही नहीं सकती जो सुख दुःख से रहित हो। इतना ही नहीं परिस्थिति में जो स्थिरता प्रतीत होती है वह केवल उत्पत्ति-विनाश का क्रम है और कुछ नहीं। इस दृष्टि से जब परिस्थिति में ही स्थिरता नहीं है, अथवा यों कहो कि उसका स्वतंत्र अस्तित्व हीं नहीं है तो फिर उसपर आधारित प्रवृत्ति में स्थिरता कब सम्भव है? प्रवृत्ति कितनी ही सुखद क्यों न हो, पर उसका अस्तित्त्व नित्य नहीं हो सकता। जिसका अस्तित्त्व नित्य नहीं है उसका आश्रय लेकर प्राणी कब तक अपने को सुरक्षित रख सकता है?

यह जान लेने पर कि प्रवृत्ति का अस्तित्त्व नित्य नहीं है, फिर भी परिस्थिति के अनुसार प्रवृत्ति होती ही है। अतः प्राणी को बड़ी ही सावधानीपूर्वक यह देखना चाहिए कि होनेवाली प्रवृत्ति के पीछे भाव और भाव के पीछे ज्ञान और ज्ञान के पीछे उद्देश्य क्या है? प्रवृत्ति का उद्देश्य प्रवृत्ति हो नहीं सकता। इस नियम के अनुसार प्रवृत्ति का अन्त प्रवृत्ति में होना उसके अधूरेपन को सिद्ध करता है और प्रवृत्ति का अधूरापन ही प्रवृत्ति के अन्त में वास्तविक निवृत्ति का अपहरण कर बेचारे प्राणी को व्यर्थ चिन्तन में आबद्ध कर देता है जिससे वर्तमान कार्य सुन्दर नहीं हो पाता जिसके न होने से व्यक्ति में करने का राग, देह को बनाए रखने की आशा, मरने का भय और अप्राप्त वस्तु आदि के पाने का प्रलोभन ज्यों का त्यों बना रहता है जिससे चित्त अशुद्ध ही रहता है।

प्रत्येक प्रवृत्ति का उद्देश्य वास्तविक विश्राम होना चाहिए क्योंकि श्रम के अन्त में विश्राम सभी को अभीष्ट है। इस उद्देश्य की पूर्त्ति तभी सम्भव है जब प्रत्येक कार्य उत्साह तथा उत्कण्ठा-पूर्वक पवित्र-भाव से विवेक के अनुरूप किया जाय। अर्थात्

जिन कार्यों में निज विवेक का विरोध हो उनको क्रियात्मकरूप न दिया जाय अपितु उनका त्याग कर सहज निवृत्ति को अपना लिया जाय तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक प्रत्येक प्रवृत्ति का अन्त वास्तविक निवृत्ति में हो सकता है जो चित्त की शुद्धि में हेतु है।

प्रवृत्ति के द्वारा जिस किसी को जो कुछ मिलता है वह कालान्तर में स्वतः मिट जाता है इस दृष्टि से प्रवृत्ति का परिणाम अभाव रूप है। कारण कि परिस्थिति से उत्पन्न हुई प्रवृत्ति जिस वस्तु अवस्था आदि को उत्पन्न करती है वे सभी क्षण भंगुर तथा परिवर्तनशील हैं। परन्तु वास्तविक निवृत्ति से जो कुछ मिलता है, वह सदैव रहता है। इतना ही नहीं, वास्तविक निवृत्ति जिस प्रवृत्ति को जन्म देती है वह सर्व हितकारी होती है और सर्व हितकारी प्रवृत्ति वास्तविक निवृत्ति को पुष्ट करती है। इस दृष्टि से सर्व हितकारी प्रवृत्ति और वास्तविक निवृत्ति एक दूसरे की पोषक हैं। वास्तविक निवृत्ति से उत्पन्न सर्वहितकारी प्रवृत्ति द्वारा प्राणी में कर्तृत्व का अभिमान नहीं होता और न की हुई प्रवृत्ति की स्मृति ही अङ्कित होती है। इतना ही नहीं सर्व हितकारी प्रवृत्ति सर्वात्मभाव प्रदान करती है जिससे किसी से भेद-जनित सम्वन्ध की स्थापना नहीं होती और प्रवृत्ति-जनित फल की आशा भी नहीं रहती।

वास्तविक निवृति की भूमि से जो प्रवृत्ति उत्पन्न होती है उसका वाह्यरूप भले ही सीमित हो परन्तु भाव असीम तथा विभु होता है। इस कारण सर्व हितकारी प्रवृत्ति समाज के लिए विधान वन जाती है। परिस्थिति के अनुसार प्राणी चाहे वास्तविक निवृत्ति को अपना कर सर्व हितकारी प्रवृत्ति उत्पन्न करे और चाहे सर्व हितकारी प्रवृत्ति द्वारा वास्तविक निवृत्ति प्राप्त करे। सुख मय परिस्थिति में सर्व हितकारी प्रवृत्ति द्वारा वास्तविक निवृत्ति

प्राप्त की जा सकती है और दुःखमय परिस्थिति में वास्तविक निवृत्ति द्वारा सर्व हितकारी प्रवृत्ति सम्पादित की जा सकती है। सर्व हितकारी प्रवृत्ति और वास्तविक निवृत्ति की पूर्णता में समस्त परिस्थितियों से असंगता स्वतः प्राप्त होती है। परिस्थितियों से असंग होते ही अशान्ति चिर-शान्ति में, असमर्थता सामर्थ्य में, पराधीनता स्वाधीनता में, जड़ता चिन्मयता में और नीरसता सरसता में विलीन हो जाती है। जिसके होते ही चित्त-शुद्ध हो जाता है।

सर्व हितकारी प्रवृत्ति सुख-भोग की आसक्ति को खा लेती है जिसके मिटते ही काम का नाश हो जाता है। काम का नाश होते ही सीमित अहम् भाव अपने (आप गल जाता है। परन्तु कब? जब सर्व हितकारी प्रवृत्ति का उद्देश्य वास्तविक निवृत्ति हो। वास्तविक निवृत्ति अपने आप आती है। सर्वहितकारी प्रवृत्ति अथवा देहाभिमान का त्याग वास्तविक निवृत्ति का साधन है। देहाभिमान का त्याग विवेक सिद्ध है जो दुःखमय परिस्थिति में भी हो सकता है। सर्वहितकारी प्रवृत्ति करुणा तथा उदारता के द्वारा ही सम्भव है जो व्यक्ति प्राणी मात्र के दुःख को अपना दुःख मानता है और प्राप्त सुख को प्राणी मात्र का मानता है वही सुखमय परिस्थिति में सर्वहितकारी प्रवृत्ति को अपना सकता है अथवा यों कहो कि जिस अंश में प्राणी सुखी है उस अंश में उसे सर्वहितकारी प्रवृत्ति को अपना कर वास्तविक निवृत्ति प्राप्त करना चाहिए और जिस अंश में दुःखी हो उस अंश में विवेक पूर्वक कामना-रहित वास्तविक निवृत्ति को अपनाना चाहिए।

वास्तविक निवृत्ति स्वाभाविक हो जाने पर जिस जीवन से अभिन्नता होती है उसका वर्णन सम्भव नहीं है। परन्तु उसकी प्राप्ति अनिवार्य है।

उसके सम्बन्ध में संकेतमात्र यही कहा जा सकता है कि उस जीवन के विना जीवन ही सिद्ध नहीं होता। इस दृष्टि से उसकी प्राप्ति प्रत्येक व्यक्ति को करना है जो वास्तविक निवृत्ति से ही सम्भव है। जब तक वर्त्तमान कार्य इतना सुन्दर न किया जाय कि उस परिस्थिति में उससे सुन्दर न हो सके तब तक करने की रुचि का नाश नहीं होता और उसके हुए विना प्रवृत्तिजनित सुखकी दासता मिट नहीं सकती। करने की रुचि का अन्त होते ही चिर विश्राम प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त में अपने आप आ जाता है। जिसके आते ही सीमित अहम् भाव में अङ्कित स्मृति तथा सम्बन्ध अपने आप मिट जाते हैं अथवा यों कहो कि स्मृति तथा सम्बन्ध के मिटते ही सीमित अहम् भाव अपने आप गल जाता है। यह नियम है कि स्मृति तथा सम्बन्ध मिटने पर सीमित अहम् भाव नहीं रहता और सीमित अहम् भाव के गल जाने पर स्मृति और सम्बन्धों का समूह स्वतः नाश हो जाता है जिसके होते ही प्रेम की अभिव्यक्ति होती है जो रस रूप है अर्थात् नीरसता का अन्त हो जाता है जिसके होते ही चित्त स्वतः शुद्ध हो जाता है।

भूतकाल की प्रवृत्तियों के प्रभाव से उत्पन्न हुई स्मृतियाँ और उनसे उत्पन्न सम्बन्धों का समूह प्राणी का वर्त्तमान व्यक्तित्त्व है। उसका अभिमान ही प्राणी को प्रवृत्तिजनित सुख-दुःख में आवद्ध करता है जो वास्तव में निर्जीव है अर्थात् उसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्त्व नहीं है। जिसका स्वतन्त्र अस्तित्त्व नहीं है उसको महत्त्व देना प्राप्त विवेक का अनादर है। अतः विवेकपूर्वक व्यक्तित्व के अभिमान का अन्त करने के लिए भूत कालकी स्मृति और माने हुए सम्बन्धों का अन्त करना अनिवार्य है। सम्वन्ध कितना ही दृढ़ क्यों न हो अस्वीकृति मात्र से मिट सकता है और

यदि होनेवाली घटनाओं के अर्थ को अपना लिया जाय तो उनसे उत्पन्न हुई स्मृति स्वतः मिट जाती है।

प्रत्येक घटना अपने अभाव की समर्थक है और वास्तविक जीवन की जिज्ञासा जागृत करने में हेतु है। घटनाओं के इस अर्थ को अपना लेने पर भोग की रुचि का नाश हो जाता है और जिज्ञासा की जागृति हो जाती है। जिज्ञासा की जागृति स्वयं अपनी पूर्त्ति में आप समर्थ है क्योंकि जिज्ञासा उसी की होती है जिसका वास्तविक स्वतन्त्र अस्तित्त्व है और स्मृतियाँ उसी की अङ्कित होती हैं जिसका स्वतन्त्र अस्तित्त्व नहीं है। ज्यों-ज्यों जिज्ञासा सबल तथा स्थायी होती जाती है त्यों-त्यों चित्त में अङ्कित स्मृतियाँ स्वतः मिटती जाती हैं। जिज्ञासा की पूर्ण जागृति समस्त स्मृतियों को खाकर स्वतः पूरी हो जाती है अर्थात् निस्सन्देहता आजाती है। सन्देह रहित होते ही व्यक्तित्त्व का अभिमान गल जाता है कारण कि सन्देह में निस्सन्देह बुद्धि होने से ही व्यक्तित्त्व का अभिमान जीवित रहता है अर्थात् अल्प ज्ञान को ज्ञान मान लेने पर ही व्यक्तित्त्व का अभिमान जीवित है। यद्यपि अल्प ज्ञान सन्देह की वेदना तथा जिज्ञासा की जागृति में हेतु है परन्तु कब? जब अल्प ज्ञान को ज्ञान न स्वीकार किया जाय किन्तु प्रवृत्ति-जनित सुखासक्ति अल्प ज्ञान में ज्ञान-बुद्धि उत्पन्न करती है जो वास्तव में प्रमाद है। अतः परिस्थिति के अनुरूप जो कार्य उपस्थित है उसे, लक्ष्यपर दृष्टि रखते हुए पवित्र भाव से, उत्कण्ठा तथा उत्साहपूर्वक इतना सुन्दर किया जाय कि कार्य के अन्त में वास्तविक निवृत्ति स्वतः आ जाय। जिसके आते ही चिरशान्ति, सामर्थ्य, स्वाधीनता, निस्सन्देहता, सरसता आदि दिव्य गुणों की अभिव्यक्ति अपने आप हो जाती है जिसके होते ही चित्त शुद्ध हो जाता है।

१८-६-५६

: ४८ :

मेरे निज स्वरूप परमप्रिय,

चित्त की अशुद्धि के ज्ञान में ही उसकी शुद्धि की साधना विद्यमान है अथवा यों कहो कि अशुद्धि का स्पष्ट-ज्ञान होते ही शुद्धि की अभिव्यक्ति स्वतः हो जाती है कारण कि अशुद्धि का कोई स्वतंत्र अस्तित्त्व नहीं है। वह उसी समय तक भासित होती है जिस समय तक उसे स्पष्टरूप से जान न लिया जाय। अशुद्धि के ज्ञान से शुद्धि की लालसा जागृत होती है जो अशुद्धि-जनित सुखासक्ति को खाकर शुद्धि से अभिन्न कर देती है। जिस प्रकार सूर्य्य का उदय और अन्धकार की निवृत्ति युग पद है उसी प्रकार शुद्धि की लालसा की जागृति और अशुद्धि-जनित सुखासक्ति की निवृत्ति युगपद है। इस दृष्टि से अशुद्धि के ज्ञान में ही शुद्धि की साधना निहित है।

प्रत्येक प्राणी को अपने चित्त की गतिविधि को प्राप्त विवेक की दृष्टि से भय तथा प्रलोभन को त्याग कर भली भाँति धीरजपूर्वक देखने पर यह स्पष्ट विदित होगा कि संग्रह, पराधीनता और परिश्रम द्वारा सुख भोग तथा सुख की आशा से ही चित्त में अशुद्धि आ गई है।

भय तथा प्रलोभन के कारण जब प्राणी विवेक दृष्टि से अपनी वस्तु स्थिति को देख नहीं पाता तब अनेक प्रकार के भेद तथा

भिन्नता प्रतीत होने लगती है। भेद की प्रतीति एकता को भंगकर संग्रह की रुचि उत्पन्न कर देती है। संग्रह की रुचि चित्त में वस्तुओं का महत्त्व अंकित कर देती है। उसका परिणाम यह होता है कि जो वस्तुएँ व्यक्तियों की सेवा के लिए थीं वे ही लोभ उत्पन्न करने में हेतु बन गई। जिससे चित्त अशुद्ध हो गया।

प्राकृतिक नियमानुसार किसी भी वस्तु का कोई अपना स्वतंत्र अस्तित्त्व नहीं है और न कोई भी वस्तु अपरिवर्त्तनशील है तो फिर वस्तुओं का स्वतंत्र अस्तित्त्व स्वीकार करना तथा उनकी स्थिति को महत्त्व देना प्रमाद के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। समस्त वस्तुएँ जिससे उत्पन्न हुई हैं जिससे प्रकाशित हैं उसके अतिरिक्त किसी की स्वतंत्र सत्ता हो ही नहीं सकती। जिसकी स्वतंत्र सत्ता नहीं है उससे सम्बन्ध जोड़ना अथवा उससे सुख की आशा करना निरर्थक प्रयास है। वस्तुओं के सम्वन्ध ने ही प्राणी में जड़ता उत्पन्न कर दी और उनके द्वारा सुख की आशा ने ही पराधीन बना दिया। पराधीनता ज्यों-ज्यों सबल तथा स्थाई होती जाती है त्यों-त्यों प्राणी संग्रही होता जाता है और ज्यों-ज्यों संग्रही होता जाता है त्यों-त्यों पराधीन होता जाता है। अर्थात् संग्रह पराधीनता को और पराधीनता संग्रह को पुष्ट करती है। जड़ता, संग्रह और पराधीनता में आबद्ध प्राणी को विश्राम नहीं मिलता जिसके बिना आवश्यक सामर्थ्य का विकास नहीं होता। यह नियम है कि प्राणी ज्यों-ज्यों असमर्थ होता जाता है त्यों-त्यों जड़ता से उत्पन्न हुए बल का आश्रय लेता जाता है। इतना ही नहीं बेचारा असमर्थ प्राणी प्राप्त बलका सदुपयोग भी नहीं कर पाता अपितु उसके दुरुपयोग से अपना और दूसरों का विनाश ही करता है। इसी प्रमाद से समस्त संघर्षों का जन्म होता है।

जिसे वास्तविक सामर्थ्य प्राप्त है उसे संग्रह की अपेक्षा नहीं

होती और जिसे संग्रह की अपेक्षा नहीं होती उसे प्राकृतिक नियमानुसार समस्त आवश्यक वस्तुएँ स्वतः प्राप्त होती हैं। अथवा यों कहो कि वस्तुएँ उससे मिलकर अपने को धन्य मानती हैं। वास्तविक सामर्थ्यशाली वही है जिसे वस्तुओं की खोज नहीं है अपितु वस्तुएँ जिसकी खोज में रहती हैं कारण कि आवश्यकता की पूर्ति अनन्त के विधान से स्वतः होती है। वस्तुओं की प्राप्ति को जो भौतिक विज्ञानी अपना पुरुषार्थ मानता है उससे यदि यह पूछा जाय कि जिस मस्तिष्क से उसने विज्ञान की खोज की है वह मस्तिष्क किस प्रयोगशाला का आविष्कार है और किस यन्त्रालय में ढाला गया है तो उसे यह स्वीकार करना ही होगा कि वैज्ञानिक खोज करने की सामर्थ्य विज्ञानवेता में खोज से पूर्व थी। जिस अनन्त ने उसे वैज्ञानिक खोज करने की सामर्थ्य प्रदान की है उस अनन्त ने उसे विवेक भी प्रदान किया है। इस दृष्टि से सभी विज्ञानवेत्ताओं को विज्ञान का उपयोग विवेक के प्रकाश में ही करना उचित है। ऐसा करने से प्राप्त बल का उपयोग निर्बलों की सेवा में होगा। यह नियम है कि सेवा-भाव का उदय संग्रह की रुचि का नाश कर देता है जिसके नाश होते ही वस्तुओं की ममता मिट जाती है और जड़ता से उत्पन्न हुए बल का अभिमान गल जाता है। अभिमान के गलते ही स्नेह की एकता का संचार होने लगता है। जो समस्त संघर्षों का अन्त करने में समर्थ है।

वस्तुओं की ममता का त्याग वस्तुओं के सदुपयोग की प्रेरणा देता है और प्राणी को निर्लोभता प्राप्त होती है। निर्लोभता की अभिव्यक्ति होते ही समष्टि शक्तियाँ स्वतः आवश्यक वस्तुएँ प्रदान करने लगती हैं। क्योंकि अव्यक्त से व्यक्त की उत्पत्ति होती है। अव्यक्त तत्त्व में असमर्थता तथा अभाव नहीं है। परन्तु संग्रह तथा लोभ के कारण अभाव-सा प्रतीत होने लगता है। पर यह

रहस्य तभी खुलता है जब निर्लोभता की अभिव्यक्ति हो जाय। जिसके लिए संग्रह की रुचि का अत्यन्त अभाव करना अनिवार्य है। संग्रह की रुचि का अत्यन्त अभाव होने पर वस्तुओं की दासता स्वतः मिट जाती है जिसके मिटते ही वाह्य वस्तुओं की तो कौन कहे देह से भी सम्बन्ध नहीं रहता। पर देह को जब तक रहना है, रहती है। किन्तु उसमें सत्यता एवं सुन्दरता की प्रतीति नहीं रहती। जिसके न रहने पर काम का नाश हो जाता है। जिसके होते ही यथेष्ट विश्राम स्वतः प्राप्त होता है। अथवा यों कहो कि लोभ तथा मोह से युक्त जो परिश्रम था, वह शेष नहीं रहता। इसका अर्थ कोई यह न समझे कि प्राणी आलसी हो जाता है। आलस्य और विश्राम में एक बड़ा भेद है। आलसी प्राणी सदैव वस्तुओं के चिन्तन में आबद्ध रहता है और जिसे चिर विश्राम प्राप्त है वह वस्तुओं के चिन्तन से रहित हो जाता है। इतना ही नहीं जिसे विश्राम प्राप्त है उसके द्वारा प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग कर्तृत्व के अभिमान से रहित स्वतः होने लगता है। अथवा यों कहो कि उसके चित्त में अशुद्धि की तो उत्पत्ति ही नहीं होती और शुद्धि का अभिमान शेष नहीं रहता। यह नियम है कि निरभिमानता के आते ही भेद तथा भिन्नता स्वतः मिट जाती है। जिसके मिटते ही चित्त शुद्ध हो जाता है।

चित्त की अशुद्धि-जनित सुखलोलुपता प्राणी का वस्तुओं और व्यक्तियों से सम्बन्ध जोड़ देती है। यद्यपि किसी भी वस्तु तथा व्यक्ति से नित्य सम्बन्ध नहीं है और न उनके द्वारा उत्पन्न हुआ सुख का अस्तित्व ही शेष रहता है परन्तु सुख भोग काल की सुखद स्मृति तथा वस्तु व्यक्ति आदि का सम्बन्ध चित्त में अंकित हो जाता है जिससे चित्त अशुद्ध होता है। देह रूपी वस्तु से तादात्म्य स्वीकार करने पर ही अन्य वस्तु, व्यक्तियों की कामना

उत्पन्न होती है। उसका परिणाम यह होता है कि प्राणी इच्छित वस्तु व्यक्तियों से सम्बन्ध स्वीकार कर लेता है। परन्तु उन वस्तु व्यक्तियों का वियोग तथा परिवर्त्तन अनिवार्य है। सम्बन्ध के कारण वस्तुओं का नाश तथा व्यक्तियों का वियोग हो जाने पर भी प्राणी वस्तु व्यक्ति के अस्तित्व को स्वीकार करता रहता है। यद्यपि प्रत्येक वस्तु उत्पत्ति-विनाश-युक्त है किसी भी वस्तु व्यक्ति का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, इतना ही नहीं उत्पत्ति के साथ-साथ ही विनाश आरम्भ हो जाता है और संयोग के साथ ही वियोग परन्तु फिर भी प्राणी की दृष्टि वस्तुओं के विनाश और व्यक्तियों के वियोग पर नहीं रहती अथवा यों कहो कि प्राणी वस्तुओं व्यक्तियों को देखता है पर उनकी वास्तविकता को नहीं। यह सभी की अनुभूति है कि गहरी नींद के लिए प्राणी प्रिय से प्रिय वस्तु और व्यक्ति का त्याग कर देता है। प्राणी का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध किसी भी वस्तु तथा व्यक्ति से नहीं है जिसके लिए वह निद्रा का त्याग कर सके। परन्तु निद्रा के लिए सभी वस्तुओं व्यक्तियों का त्याग करता ही है। इस दृष्टि से समस्त वस्तुओं का सम्बन्ध जाग्रत और स्वप्न अवस्था तक ही सीमित है। अर्थात् किसी भी वस्तु व्यक्ति से नित्य सम्बन्ध नहीं है। जिनसे नित्य सम्बन्ध नहीं है उनके सम्बन्ध तथा अस्तित्व को चित्त में अंकित रखना चित्त को अशुद्ध करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं रखता। यदि प्राणी प्रत्येक आवश्यक प्रवृत्ति के अन्त में चित्त से वस्तु और व्यक्तियों के अस्तित्व का त्याग कर दे तो सुषुप्ति के समान जाग्रत में ही वस्तु और व्यक्ति से रहित स्थिति प्राप्त हो सकती है। इतना ही नहीं, गहरी नींद में जो वस्तु और व्यक्ति से रहित स्थिति है उसमें और जो चित्त में से वस्तु और व्यक्ति के सम्बन्ध से रहित स्थिति है उसमें एक बड़ा अन्तर यह है कि गहरी नींद

की स्थिति में जड़ता का दोष है और जाग्रत की स्थिति उस दोष से रहित है। विषमता का अन्त दोनों ही में है परन्तु जाग्रत की सुषुप्ति में जड़ता नहीं है जिससे वस्तुओं से अतीत के जीवन में विश्वास तथा श्रद्धा हो जाती है जिससे प्राणी वस्तुओं और व्यक्तियों के रहते हुए भी उनसे सम्बन्ध-विच्छेद करने में समर्थ होता है। वस्तुओं के सदुपयोग और व्यक्तियों की सेवा से चित्त अशुद्ध नहीं होता। चित्त अशुद्ध होता है वस्तु व्यक्तियों से नित्य सम्बन्ध स्वीकार करने से। अथवा यों कहो कि वस्तु और व्यक्तियों के संयोग में ही जीवन है, इसको स्वीकार करने से। यद्यपि वास्तविक जीवन वस्तु और व्यक्तियों के वियोग में ही निहित है परन्तु देहाभिमान के कारण बेचारा प्राणी इस रहस्य से अपरिचित रहता है। अतः वस्तु और व्यक्तियों की दासता से रहित होने के लिए देहाभिमान का त्याग परम अनिवार्य है।

देहाभिमान में आबद्ध प्राणी संग्रह पराधीनता और परिश्रम में ही जीवन बुद्धि स्वीकार करता है उसका परिणाम यह होता है कि चित्त अशुद्ध हो जाता है। वस्तुओं की वास्तविकता का ज्ञान संग्रह की रुचि का नाश करने में समर्थ है। संग्रह की रुचि का अन्त होते ही पराधीनता एवं जड़ता स्वतः मिटने लगती है और स्वाधीनता तथा चिन्मयता की लालसा जाग्रत होती है। स्वाधीनता की लालसा ज्यों-ज्यों सबल तथा स्थाई होती जाती है त्यों-त्यों पराधीनता-जनित वेदना उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। जिस काल में पराधीनता की वेदना असह्य हो जाती है उसी काल में पराधीनता सदा के लिए मिट जाती है। जिसके मिटते ही चिर-विश्राम स्वतः प्राप्त होता है।

पर श्रम की आसक्ति देहाभिमान से उत्पन्न होकर देहाभिमान को ही पुष्ट करती है ऐसा कोई श्रम है ही नहीं जिसका अन्त न हो

और जिससे प्राप्त शक्ति का ह्रास न हो। प्राप्त शक्ति के सदुपयोग में भले ही परिश्रम का स्थान हो परन्तु आवश्यक शक्ति का विकास तो विश्राम में ही निहित है। इस दृष्टि से परिश्रम का सामर्थ्य विश्राम में है। परिश्रम के द्वारा आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन हो सकता है, परन्तु परिश्रम के द्वारा वस्तुओं से अतीत के जीवन में प्रवेश नहीं हो सकता। वस्तुओं का उत्पादन व्यक्तियों की सेवा के लिए अभीष्ट है और व्यक्तियों की सेवा उनसे मोहजनित सम्बन्ध का विच्छेदन करने के लिए साधन रूप है। परन्तु व्यक्तियों की सेवा वही प्राणी कर सकेगा जो स्वयं व्यक्तियों के द्वारा सुख की आशा न करे। सुख लोलुपता में आबद्ध प्राणी कभी भी सेवा करने में समर्थ नहीं होता। इस दृष्टि से सुख लोलुपता का अन्त करना अनिवार्य है।

सुख लोलुपता का अन्त वही कर सकता है जिसे विश्राम प्राप्त हो। विश्राम आलस्य तथा परिश्रम दोनों से रहित है। इसी कारण विश्राम उन्हीं को प्राप्त होता है जिन्होंने विवेकपूर्वक काम का अन्त कर देहाभिमान का नाश कर दिया है। ऐसी कोई गति नहीं जिसका उद्गम विश्राम न हो ऐसी कोई स्थिति नहीं जो विश्राम से सिद्ध न हो और ऐसा कोई विचार नहीं जिसका उदय विश्राम में निहित न हो। विश्राम से जिस गति, स्थिति तथा विचार का उदय होता है वह अखण्ड होता है क्योंकि वह श्रम से रहित हैं। इसी कारण विश्राम से प्राप्त स्थिति योग, विचार, बोध और गति प्रीति है। अथवा यों कहो कि विश्राम के द्वारा जो सहज स्थिति है इसी में योगियों के योग की पराकाष्ठा है और विश्राम से उदित जो अखण्ड ज्ञान है उसी में तत्त्व वेत्ताओं के तत्त्व की परावधि है और विश्राम से जो स्वतः सिद्ध प्रगति है वही प्रेम की अभिव्यक्ति है। इस दृष्टि से योग, ज्ञान, तथा प्रेम की प्राप्ति चिर

विश्राम में ही निहित है। समस्त शान्ति तथा सामर्थ्य योग में, निस्सन्देहता तथा अमरत्व ज्ञान में और अगाध अनन्त रस प्रेम में परिपूर्ण है। योग, ज्ञान, प्रेम इनकी भूमि एक है। इस दृष्टि से रस में भेद होने पर भी तीनों का स्वरूप एक है अर्थात् योग, ज्ञान तथा प्रेम में विभाजन नहीं हो सकता। इस दृष्टि से ये तीनों ही अनन्त की ही अभिव्यक्ति हैं जो सभी का सब कुछ होने पर भी सभी से अतीत है। उस अनन्त से अभिन्न होने के लिए यह अनिवार्य है कि प्राणी संग्रह, पराधीनता और परिश्रम के राग से रहित होकर प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग कर स्वाधीनता, अपरिग्रह और चिर-विश्राम द्वारा चित्त को शुद्ध, शान्त तथा स्वस्थ कर ले। पर यह तभी सम्भव हो सकता है जब प्राणी प्राप्त विवेक के प्रकाश में चित्त की वर्तमान वस्तु स्थिति को जानकर उसकी शुद्धि के साधन निर्माण में समर्थ होता है।

१९–६–५६

: ४६ :

मेरे निज स्वरूप परमप्रिय,

सम्भव को असम्भव और असम्भव को सम्भव मान लेने पर ही प्राणी का चित्त अशुद्ध होता है। प्रलोभन के रहते हुए भय रहित होना असम्भव है। क्योंकि प्रलोभन उस परिस्थिति से सम्बन्ध जोड़ देता है जिसका स्वतन्त्र अस्तित्त्व नहीं है। जिसका स्वतन्त्र अस्तित्त्व नहीं है उसकी नित्य प्राप्ति सम्भव नहीं है। इसी कारण प्रलोभन अनेक प्रकार के भय उत्पन्न करता है। यह नियम है कि ज्यों-ज्यों प्राणी भयभीत होता जाता है त्यों-त्यों प्रलोभन और चढ़ता जाता है अर्थात् प्रलोभन से भय और भय से प्रलोभन की दृढ़ता होती है। भय और प्रलोभन में आवद्ध हो जाना ही चित्त की अशुद्धि है।

यह नियम है कि प्रलोभन का नाश होते ही भय स्वतः मिट जाता है। क्योंकि प्रलोभन की उत्पत्ति अविवेक सिद्ध है जो निज विवेक द्वारा सुगमता पूर्वक मिटाई जा सकती है। विवेक प्रत्येक सत्य के जिज्ञासु को स्वतः प्राप्त है क्योंकि विवेक के विना सत्य की जिज्ञासा ही सम्भव नहीं है। इस दृष्टि से प्रलोभन का अन्त करने में प्रत्येक जिज्ञासु सर्वदा स्वतंत्र है। परन्तु कब ? जब प्राणी प्रलोभन तथा भय के नाश को वर्त्तमान का कार्य मान ले अर्थात् किसी प्रकार भी भय तथा प्रलोभन का द्वन्द्व सहन न कर सके। प्राकृतिक

नियम के अनुसार असह्य वेदना की जागृति सफलता की कुंजी है। अतः प्रलोभन तथा भय रहित होना सम्भव है क्योंकि सत्य की लालसा असत्य को खाकर सत्य से अभिन्न करने में सर्वदा समर्थ है। लालसा कोई अभ्यास नहीं है अपितु सत्य के जिज्ञासु की स्वाभाविक पुकार है जिसे भय तथा प्रलोभन ने शिथिल कर दिया है।

भय और प्रलोभन की वास्तविकता का ज्ञान शिथिलता का अन्त कर लालसा को जागृत करने में समर्थ है। प्रलोभन में जीवन बुद्धि स्वीकार करने से प्राणी प्रलोभन की वास्तविकता नहीं जान पाता। जिसके न जानने से प्रलोभन में सत्यता और प्रियता भासने लगती है जो अनेक प्रकार के भय उत्पन्न कर देती है। इस दृष्टि से प्रलोभन की वास्तविकता जानने के लिए उसमें से जीवन बुद्धि को अस्वीकार करना अनिवार्य है। अथवा यों कहो कि प्रलोभन जीवन नहीं है अपितु प्रमाद वश जीवन जैसा भासित होता है। प्रलोभन को प्रलोभन जान लेने मात्र से ही प्रलोभन मिट जाता है क्योंकि जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है वह उसी समय तक भासित होता है जब तक उसको जानने का प्रयास न किया जाय। यह नियम है कि जो नहीं है उस पर सन्देह होने मात्र से ही उसकी सजीवता नाश हो जाती है। क्योंकि सन्देह में सम्बन्ध विच्छेद करने की सामर्थ्य है। यह नियम है कि जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है उससे यदि किसी प्रकार सम्बन्ध विच्छेद हो जाय अथवा यों कहो कि उसकी विस्मृति हो जाय तो वह स्वतः मिट जाता है।

जितने प्रलोभन प्रतीत होते हैं उनके मूल में एक मात्र संकल्प पूर्ति के सुख का भोग और संकल्प-निवृत्ति की शान्ति में रमण करना है। अर्थात् सुख के भोग और शान्ति के रमण में ही

समस्त प्रलोभन उत्पन्न होते हैं। संकल्प-पूर्ति के प्रलोभन ने ही प्राणी को शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि वस्तुओं में तथा परिस्थितियों एवं अवस्थाओं में आवद्ध कर दिया है। जिसके होते ही अनेक प्रकार के भय उत्पन्न हो गए हैं। क्योंकि प्रत्येक संकल्प पूर्ति का सुख नवीन संकल्प को जन्म देकर बेचारे प्राणी को सुख दुःख में आवद्ध रखता है। इतना ही नहीं ज्यों-ज्यों सुख का प्रलोभन बढ़ता जाता है त्यों-त्यों दुःख की उत्पत्ति भी स्वतः होती जाती है। कारण कि सुख के आदि और अंत में दुःख ही शेष रहता है। सुख-भोग का आरम्भ होते ही सुख की क्षति होने लगती है और अंत में सुख-दुःख में बदल जाता है। सुख की उत्पत्ति भी दुःख से ही होती है और उसका अंत भी दुःख में ही होता है। इस रहस्य को जान लेने पर प्राणी सुख में भी दुःख का दर्शन कर सुख की दासता से मुक्त होने के लिए प्रयास करता है और फिर संकल्प-पूर्ति की अपेक्षा संकल्प निवृत्ति को अधिक महत्त्व देता है। किन्तु संकल्प निवृत्ति की शान्ति में भी अहम्भाव ज्यों का त्यों पुष्ट होता रहता है। क्योंकि शान्ति में रमण करने से भी परिच्छिन्नता ज्यों की त्यों सुरक्षित रहती है जो अनेक प्रकार के भेद उत्पन्न कर प्राणी को भयभीत कर देती है। इस दृष्टि से संकल्प पूर्ति तथा संकल्प निवृत्ति दोनों से ही प्राणी प्रलोभन में आवद्ध होता है।

संकल्प पूर्ति के प्रलोभन से ही संकल्प विकल्प का प्रवाह चलता रहता है। प्राणी प्रमाद-वश उत्पन्न हुए संकल्प-विकल्पों के द्वारा अपने को सुखी-दुःखी, भला-बुरा बनाता रहता है अर्थात् संकल्पों के आधार पर ही अपना मूल्य आंकता है अथवा यों कहो कि उस संकल्प विकल्पों के प्रवाह को ही अपनी वर्तमान वस्तु स्थिति स्वीकार करता है। यद्यपि प्रत्येक संकल्प उत्पत्ति से पूर्व कुछ नहीं

है और पूर्ति के पश्चात् भी कुछ नहीं है परन्तु फिर भी बेचारा प्राणी संकल्पों के आधीन हो जाता है। यहाँ तक कि एक-एक संकल्प पूर्ति के लिए न जाने कितने काल तक बड़ी-बड़ी यातनाएँ भोगता है और परिणाम में अभाव ही पाता है। इस दृष्टि से संकल्प पूर्ति का प्रलोभन निरर्थक ही सिद्ध होता है संकल्प पूर्ति के सुख की दासता का अंत होते ही अनावश्यक और अशुद्ध संकल्प उत्पन्न ही नहीं होते और परिस्थिति के अनुरूप आवश्यक और शुद्ध संकल्प स्वतः पूरे हो होकर मिट जाते हैं। जिनके मिटते ही संकल्प निवृत्ति स्वतः आ जाती है। अथवा यों कहो कि प्रत्येक संकल्प की पूर्ति के पश्चात् निर्विकल्प स्थिति अपने आप आती है। निर्विकल्प स्थिति में वस्तु व्यक्ति आदि की दासता शेष नहीं रहती। किन्तु बेचारा प्राणी असावधानी के कारण स्थिति-जनित शान्ति में आबद्ध हो जाता है, यदि संकल्प निवृत्ति का प्रलोभन न रहे तो प्राणी बड़ी ही सुगमतापूर्वक निर्विकल्प स्थिति से अतीत नित्यचिन्मय जीवन से अभिन्न हो जाता है और फिर संकल्प पूर्ति तथा संकल्प निवृत्ति की दासता से रहित हो जाता है। अर्थात् सुख शान्ति से अतीत जो वास्तविक जीवन है उससे अभिन्न हो जाता है। यद्यपि निर्विकल्प स्थिति संकल्प पूर्ति की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्व की वस्तु है क्योंकि उसके बिना आवश्यक सामर्थ्य का विकास ही नहीं होता परन्तु उसी को जीवन मान लेना भूल है। निर्विकल्प स्थिति का प्रलोभन न रहने पर निर्विकल्प स्थिति स्वतः रहने लगती है क्योंकि निर्विकल्प स्थिति संकल्प पूर्ति की दासता और अपूर्ति के भय को खा लेती है। इस दृष्टि से संकल्प निवृत्ति सभी अवस्थाओं से उत्कृष्ट अवस्था है।

भय तथा प्रलोभन के आधार पर ही सीमित अहम् भाव जीवित है। सुख की आशा और शान्ति की रुचि भय तथा प्रलोभन को

जीवित रखती है। सुख की आशा से किसी को यदि सुख मिलता तो दुःख का कभी दर्शन ही नहीं होता। पर यह सम्भव नहीं है। प्राणी सुख की आशा करता है और परिणाम में दुःख भोगता है। इस दृष्टि से सुख की आशा का कोई स्थान ही नहीं है। सुख की आशा से रहित होते ही प्राणी दुःख से छूट जाता है। अर्थात् भय का नाश होता है।

शान्ति की रुचि शान्ति से विमुख कर देती है कारण कि रुचि का अन्त होने पर ही शांति की अभिव्यक्ति होती है। इतना ही नहीं सुख की आशा तथा दुःख के भय के कारण ही शान्ति की रुचि उत्पन्न होती है। सुख की आशा तथा दुःख के भय का अन्त होते ही शान्ति की रुचि स्वतः मिट जाती है। जिसके मिटते ही चिर शान्ति अपने आप आ जाती है। सुख की आशा में दुःख का भय निहित है। यदि सुख की आशा न रहे तो दुःख का भय अपने आप मिट जाता है। निर्भयता आते ही प्रलोभन की दासता भी अपने आप मिट जाती है। अथवा यों कहो कि भय के मिटते ही प्रलोभन भी मिट जाता है। भय और प्रलोभन का अन्त होते ही सीमित अहम् भाव गल जाता है अथवा यों कहो कि सीमित अहम्भाव गल जाने पर भय तथा प्रलोभन अपने आप मिट जाता है।

सुख की आशा अविवेक सिद्ध है जो विवेक द्वारा मिट सकती है। जिसके मिटते ही भय तथा प्रलोभन अपने आप मिट जाते हैं। यदि कोई प्राणी विवेक पूर्वक सुख की आशा से रहित होने में अपने को असमर्थ पाता हो तो वह विकल्प रहित विश्वास पूर्वक अपने को समर्पण कर अहम् और मम् से रहित हो सकता है, जिसके होते ही समस्त भय तथा प्रलोभन मिट जाते हैं अथवा यों कहो कि निर्भयता और निश्चिन्तता अपने आप आ जाती

है जो किसी प्रकार के भय तथा प्रलोभन को उत्पन्न नहीं होने देती। प्रत्येक व्यक्ति में किसी-न-किसी अंश में विवेक तथा भाव-शक्ति विद्यमान है। यह दूसरी बात है कि किसी में भाव की न्यूनता और विवेक की अधिकता हो और किसी में भाव की अधिकता और विवेक की न्यूनता हो। अर्थात् कोई मस्तिष्क प्रधान होता है और किसी में हृदय शीलता अधिक होती है। मस्तिष्क प्रधान प्राणियों को निज विवेक के प्रकाश में भय तथा प्रलोभन की वास्तविकता को जान कर निश्चिन्त तथा निर्भय हो जाना चाहिए। ज्यों-ज्यों निश्चिन्तता तथा निर्भयता स्थाई होती जाती है त्यों-त्यों भय तथा प्रलोभन का अभाव होता जाता है। अथवा यों कहो कि निश्चिन्तता तथा निर्भयता की दृढ़ स्थापना होते ही भय तथा प्रलोभन स्वतः मिट जाते हैं। भय तथा प्रलोभन की प्रतीति भले ही हो; पर उनका कोई वास्तविक अस्तित्त्व नहीं है। जब विचार शील प्राणी विवेक दृष्टि से भय तथा प्रलोभन को देखता है तब वे स्वतः सदा के लिए मिट जाते हैं, अथवा यों कहो कि विवेक दृष्टि से किसी ने भय तथा प्रलोभन का दर्शन ही नहीं किया। वे उसी समय तक प्रतीत होते हैं जब तक प्राणी विवेक पूर्वक उनका निरीक्षण नहीं करता। यह नियम है कि विवेक पूर्वक निरीक्षण करने पर भय तथा प्रलोभन मिट जाता है क्योंकि उनका स्वतन्त्र अस्तित्त्व नहीं है।

हृदयशील प्राणियों को विकल्परहित विश्वासपूर्वक अपने को समर्पित कर निश्चिन्त तथा निर्भय हो जाना चाहिए। विकल्प-रहित विश्वास तभी सम्भव है जब दो विश्वास न रहें अर्थात् एक ही विश्वास जीवन हो जाय। यहाँ तक कि विश्वासी और विश्वास में विभाजन न हो सके। विश्वास ही विश्वासी का जीवन हो जाय। विश्वास उस पर नहीं करना चाहिए जिसे इन्द्रिय, मन, बुद्धि द्वारा

जानते हो। विश्वास उस पर होना चाहिए जिसे कभी किसी इन्द्रिय द्वारा विषय नहीं किया। अब कोई कहे कि जो इन्द्रिय आदि का विषय नहीं है उस पर विश्वास कैसे हो सकता है? विश्वास उसी पर होता है जो इन्द्रिय आदि का विषय नहीं है कारण कि इन्द्रिय बुद्धि आदि के द्वारा जो कुछ जानने में आता है उस पर तो सन्देह होता है। जिस पर सन्देह होता है उस पर विश्वास करना भूल है। इस दृष्टि से विश्वास पात्र वही है जो इन्द्रिय आदि का विषय नहीं है।

जब प्राणी उस पर विश्वास कर सकता है जिस पर अनेक सन्देह होते हैं तो क्या उस पर विश्वास नहीं कर सकता जिस पर सन्देह सम्भव ही नहीं है? क्योंकि सन्देह उस पर हो सकता है जिसमें दोष का दर्शन हो और दोष का दर्शन उसमें होता है जो द्वन्द्वात्मक हो। अर्थात् इन्द्रिय और बुद्धि के निर्णय में भिन्नता हो। जिससे सभी को सत्ता तथा प्रकाश मिलता है वह इन्द्रिय आदि का विषय नहीं हो सकता। अतः जो इन्द्रिय आदि का विषय नहीं है वही विश्वास-पात्र है। अनेक विश्वास निकल जाने पर एक विश्वास स्वतः रह जाता है यह नियम ही है। इस दृष्टि से एक विश्वास में कोई क्षति नहीं हो सकती। विश्वास सम्बन्ध को और सम्बन्ध आत्मीयता अर्थात् प्रीति को उदय करता है। प्रीति का उदय होते ही काम का नाश हो जाता है। काम का नाश होने पर समस्त भय तथा प्रलोभन स्वतः मिट जाते हैं क्योंकि काम की भूमि में ही प्रलोभन तथा भय उत्पन्न होते हैं। एक विश्वास वस्तु आदि के विश्वास को खाकर पुष्ट होता है जिसके पुष्ट होते ही स्वभाव से ही निर्भयता एवं निश्चिन्तता आ जाती है। जिसके आते ही अनन्त की कृपा शक्ति स्वतः सब कुछ करने लगती है, और फिर प्राणी बड़ी ही सुगमतापूर्वक सब प्रकार के भय तथा प्रलोभन से रहित हो जाता है।

विवेक और विश्वास दोनों ही स्वतन्त्र साधन हैं। दोनों ही के द्वारा प्राणी काम-रहित होकर सब प्रकार के भय तथा प्रलोभन का अन्त कर सकता है। अन्तर केवल इतना है कि विचारशील प्रतीत होनेवाले भय तथा प्रलोभन की वास्तविकता को जानकर उनसे रहित हो जाता है और सरल विश्वासी भय तथा प्रलोभन से व्यथित होकर उस अनन्त को पुकारने लगता है जिसे कभी जाना नहीं था। दुःखी की पुकार में वही सामर्थ्य है जो विचारशील के विचार में। दुःखी प्राणी में स्वभाव से ही निर्भरता आ जाती है जिसके आते ही अहम् और मम् अपने आप गल जाता है जिससे समस्त भय तथा प्रलोभन स्वतः मिट जाते हैं।

यदि किसी की विचार और विश्वास दोनों ही में श्रद्धा हो तो उसे विचार का उपयोग शरीर, इन्द्रिय आदि समस्त दृश्य पर अथवा अपने व्यक्तित्व पर करना चाहिए और विश्वास का उपयोग उस अनन्त पर, जिसे बुद्धि आदि के द्वारा कभी नहीं जाना करना चाहिए। अथवा यों कहो कि विचार के द्वारा समस्त वस्तुओं की आसक्ति से रहित हो जाय और विश्वास के द्वारा अपने को समर्पित कर सब प्रकार से निश्चिन्त तथा निर्भय हो जाय। इस प्रकार विश्वास और विचार का अपने-अपने क्षेत्र में उपयोग कर विचार द्वारा समस्त आसक्तियों का अन्त और विश्वास द्वारा प्रेम की प्राप्ति कर लेना चाहिए।

समस्त आसक्तियों का अन्त होने पर भी प्राणी काम-रहित हो जाता है और प्रेम की प्राप्ति से भी काम-रहित हो जाता है। काम का नाश होते ही सीमित अहम्-भाव अपने आप गल जाता है जिसके गलते ही समस्त भय तथा प्रलोभन अपने आप मिट जाते हैं और चित्त-शुद्ध हो जाता है।

२०-६-५६

: ५० :

मेरे निज स्वरूप परमप्रिय,

प्राणी-मात्र को विवेक, सामर्थ्य और वस्तु प्राप्त है। विवेक उस अनन्त का विधान है। जब प्राणी प्राप्त सामर्थ्य और वस्तु का उपयोग उस विधान के विपरीत करने लगता है तव चित्त अशुद्ध हो जाता है। इस दृष्टि से चित्त की अशुद्धि प्राणी का अपना ही वनाया हुआ दोष है, प्राकृतिक नहीं। अपने वनाए हुए दोषों का अन्त करने का दायित्व अपने ही पर है। अतः प्राप्त विधान के अनुरूप ही प्राप्त सामर्थ्य तथा वस्तु का उपयोग कर चित्त को शुद्ध करना अनिवार्य है। चित्तशुद्धि वर्तमान की वस्तु है। उसे भविष्य पर छोड़ना असावधानी है। चित्त की अशुद्धि के रहते हुए प्राणी अपने साधन और साध्य दोनों ही से विमुख हो जाता है। साधन और साध्य की विमुखता में ही असाधन की उत्पत्ति होती है जिससे बेचारा प्राणी उत्तरोत्तर अवनति की ओर ही गतिशील होता है। इस दृष्टि से सर्व प्रथम प्राणी को चित्त में अंकित अशुद्धि का अन्त करना अनिवार्य है क्योंकि असाधन अर्थात् अकर्त्तव्य के अभाव में ही कर्त्तव्यपरायणता निहित है। ज्यों-ज्यों कर्त्तव्यपरायणता स्थायी होती जाती है त्यों-त्यों प्राणी का चित्त स्वतः शुद्ध होता जाता है, क्योंकि कर्त्तव्यपरायणता राग-द्वेष का अन्त करने में समर्थ है अथवा यों कहो कि कर्त्तव्यपराय-

णता आ जाने पर त्याग तथा प्रेम की अभिव्यक्ति स्वतः हो जाती है जिसके होते ही चित्त शुद्ध हो जाता है ।

शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि सामर्थ्य तथा वस्तु का समूह है। वस्तु और सामर्थ्य में इतना भेद है कि वस्तु व्यक्त है और सामर्थ्य अव्यक्त है। अव्यक्त सामर्थ्य का उपयोग व्यक्त वस्तु के आश्रय से ही हो सकता है। इस दृष्टि से वस्तु और सामर्थ्य में केवल गुणों का भेद और स्वरूप की एकता है। वे दोनों एक ही धातु से निर्मित हैं। गुणों की भिन्नता के कारण अलग-अलग भासित होते हैं। दोनों का अलग-अलग स्वतंत्र अस्तित्त्व नहीं है। विवेकरूपी विधान का प्रकाश बुद्धि को प्रकाशित करता है। बुद्धि के प्रकाश से मनमें क्रियाशीलता उत्पन्न होती है। मन की क्रियाशीलता से ज्ञानेन्द्रियों में गति होती है और ज्ञानेन्द्रियों के आश्रय से कर्मेन्द्रियाँ कार्य में प्रवृत्त होती हैं।

विधान स्वयं कर्त्ता हो नहीं सकता और जो कार्य करने के साधन हैं, उनमें कर्त्तापन की स्थापना सम्भव नहीं क्योंकि लेखनी लेखक नहीं हो सकती, अर्थात् करण कर्त्ता नहीं हो सकते। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न स्वाभाविक ही उत्पन्न होता है कि कर्त्ता कौन है। कर्त्ता वही हो सकता है जो शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि से अपने को तद्रूप कर लेता है अथवा शरीर इन्द्रिय आदि को अपना मानता है। उस कर्त्ता में जव काम की उत्पत्ति हो जाती है तव कामनापूर्ति के प्रलोभन से प्रेरित होकर वेचारा वस्तु तथा सामर्थ्य का दास हो जाता है यहाँ तक कि सामर्थ्य और वस्तु के अस्तित्त्व को ही अपना अस्तित्व मानने लगता है। उसका परिणाम यह होता है कि मिथ्या व्यक्तित्व का अभिमान उत्पन्न हो जाता है जिसके होते ही व्यक्ति और समाज में भेद की उत्पत्ति

होती है। भेद की उत्पत्ति अनेक प्रकार के संघर्ष उत्पन्न करने में हेतु है।

वस्तु और सामर्थ्य के समूह को अपना अस्तित्त्व स्वीकार करना प्राप्त विवेक का अनादर है। प्राकृतिक नियम के अनुसार सब कुछ अनन्त की अभिव्यक्ति ही है। अर्थात् व्यक्तिगत कुछ नहीं है ऐसी कोई वस्तु नहीं जो समष्टि से सत्ता न पाती हो और ऐसी कोई सामर्थ्य नहीं है जो समष्टि शक्तियों से अभिन्न न हों। केवल व्यक्तित्त्व का अभिमान ही एक ऐसी प्रतीति है जो भासित तो होती है परन्तु उसका कोई अस्तित्त्व नहीं है। अस्तित्त्वहीन अहम्‌भाव ने ही कर्त्ता को करण से तद्रूप कर दिया है। यदि करण का विभाजन करके कर्त्ता की खोज की जाय तो उसका कोई स्वतंत्र अस्तित्त्व नहीं मिलता परन्तु करण और कर्त्ता के मध्य में काम ही एक ऐसी प्रतीति है जो कर्त्ता और करण के सम्बन्ध को सुरक्षित रखती है। अर्थात् काम की भूमि में जो कामनाएं उत्पन्न होती हैं उनके द्वारा ही शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि से सम्बन्ध दृढ़ होता है और फिर इन्द्रियों के विषयों में प्रवृत्ति होती है। प्रवृत्ति जनित सुख दुःख का प्रभाव चित्त में अंकित हो जाता है जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है

बुद्धि तथा इन्द्रिय-ज्ञान से जो स्थूल वस्तुएँ प्रकाशित होती हैं उस स्थूल भाग को ही वस्तु के नाम से कह सकते हैं और इन्द्रिय प्राण, मन, बुद्धि आदि को सामर्थ्य के नाम से कह सकते हैं यद्यपि अपने स्तर पर इन्द्रियाँ दो भागों में विभाजित हो जाती हैं कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय। कर्मेन्द्रिय क्रियाशक्ति का भाग है और और ज्ञानेन्द्रिय इच्छा शक्ति का भाग है। मनमें ये दोनों भाग एकत्रित रहते हैं। क्रियाशक्ति प्राण का भाग है और इच्छा शक्ति ज्ञान का भाग है। मन इच्छा शक्ति और क्रिया शक्ति का

समूह है। इसी कारण प्राण के निरोध से मन में स्थिरता और मन के निरोध से प्राण का निरोध हो जाता है। प्राण और मन में बड़ी ही घनिष्ठ एकता है। बुद्धि केवल ज्ञान का प्रतीक है इसी कारण बुद्धि का निर्णय मन को मान्य होता है। बुद्धि और विवेक के मध्य में जो अहंभाव है, उसी में काम निवास करता है उसी कारण कामना और जिज्ञासा दोनों ही अहंभाव में निवास करती हैं। कामनापूर्ति के लिये अहम् बुद्धि के आधीन और बुद्धि मन के, मन इन्द्रियों के और इन्द्रियाँ विषयों के आधीन हो जाती है जिससे बेचारा प्राणी जड़ता, पराधीनता, शक्ति हीनता आदि दोषों में आबद्ध हो जाता है। परन्तु जब जड़ता पराधीनता आदि की वेदना स्वभाव से जागृत होती है तब कामना निवृत्ति की लालसा उत्पन्न होती है जो इन्द्रिय-ज्ञान में संन्देह उत्पन्न कर देती है। ज्यों-ज्यों सन्देह की वेदना दृढ़ होती जाती है त्यों-त्यों जिज्ञासा सबल होती जाती है। ज्यों-ज्यों जिज्ञासा सबल होती जाती है त्यों-त्यों कामनाएँ स्वतः मिटती जाती हैं। कामनाओं का अन्त होते ही संदेह की निवृत्ति और निस्सन्देहता की अभिव्यक्ति उदय होती है जिससे जिज्ञासा की पूर्ति और काम की निवृत्ति हो जाती है। जिसके होते ही समस्त आसक्तियाँ गलकर प्रीति में विलीन हो जाती हैं और फिर सीमित अहंभाव का नाश हो जाता है जिसके होते ही प्रीति अनन्त से अभिन्न हो जाती है अथवा यों कहो कि प्रीति प्रीतम से भिन्न की सत्ता ही शेष नहीं रहती।

विवेकरूपी विधान से ही बुद्धि, इन्द्रिय आदि को सामर्थ्य मिलती है। यद्यपि बुद्धि इन्द्रिय-ज्ञान भी ज्ञान जैसा ही प्रतीत होता है परन्तु इन्द्रिय बुद्धि का ज्ञान सन्देह रहित नहीं है अर्थात् बुद्धि इन्द्रिय-ज्ञान के आधार पर प्राणी निस्सन्देह नहीं हो सकता।

जिससे निस्सन्देहता प्राप्त न हो सके उसे ज्ञान मान लेना अज्ञान को ज्ञान का स्थान देना है अथवा यों कहो कि इन्द्रिय बुद्धि के अल्प ज्ञान को पूरा ज्ञान मानना है। ऐसी मान्यता का निज विवेक में विरोध है। इस दृष्टि से विवेक बुद्धि, इन्द्रिय की अपेक्षा अलौकिक तत्त्व है अथवा यों कहो कि उस अनन्त का विधान है। अनन्त के विधान का आदर और अनुसरण अनन्त से अभिन्न करने में समर्थ है। इस दृष्टि से विवेक को विधान; बुद्धि, मन, प्राण, और इन्द्रिय, आदि को सामर्थ्य और इन्द्रिय आदि जिसके आश्रय से सक्रिय होती हैं उसे वस्तु मानना चाहिए। जब प्राणी प्रमाद वश वस्तु को सामर्थ्य और सामर्थ्य को ज्ञान मान लेता है तब विवेक का अनादर होने लगता है। उसका परिणाम यह होता है कि प्रीति आसक्ति में और जिज्ञासा कामना पूर्ति के साधन में और सेवा स्वार्थ-भाव में बदल जाती है, जिसके बदलते ही काम, कामना और भोग प्रवृत्ति में ही जीवन-बुद्धि भासने लगती है जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है।

विवेकरूपी विधान में कर्त्तव्य विज्ञान, योग विज्ञान और अध्यात्म विज्ञान विद्यमान है। यदि प्राणी प्राप्त विवेक का अनादर न करे तो अकर्त्तव्य, भोग और मिथ्या अहंभाव की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती। अहंभाव की उत्पत्ति के बिना काम का जन्म ही नहीं हो सकता और काम की उत्पत्ति के बिना कामनाओं का जन्म सम्भव ही नहीं है। कामनाओं की पूर्ति के बिना भोग और भोगासक्ति उत्पन्न ही नहीं हो सकती। भोगासक्ति के बिना स्वार्थभाव की उत्पत्ति सम्भव नहीं है और स्वार्थभाव के बिना पराधीनता, संकीर्णता, जड़ता आदि विकारों में प्राणी आबद्ध हो ही नहीं सकता। इस दृष्टि से विवेकरूपी विधान का अनादर ही समस्त दोषों का मूल है।

विवेक का अनादर ही शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि में अहंभाव उत्पन्न करता है जिससे कर्तृत्व और भोक्तृत्व की उत्पत्ति होती है। अर्थात प्राणी अपने को कर्त्ता और भोक्ता मान लेता है। कर्त्ताभाव में से ही कर्म की रुचि और फल की आशा उत्पन्न होती है जिसके होते ही कर्त्ता भोक्ता होकर अपने में भोग की रुचि और भोग्य वस्तुओं की आसक्ति उत्पन्न कर लेता है। भोगासक्ति भोक्ता में स्वार्थभाव उत्पन्न कर देती है। जिससे उसका व्यक्तित्त्व कामना, आसक्ति और स्वार्थभाव का समूह बन जाता है। भोक्ता, भोग वासना और भोग्य वस्तुओं में गुणों का भेद और स्वरूप की एकता है अर्थात् ये तीनों एक ही धातु से निर्मित हैं। भोग्य वस्तुओं के विनाश का ज्ञान तो प्रत्यक्ष ही है और विवेक का आदर करने पर भोग वासनाओं का अन्त हो ही जाता है। जिसके होते ही "मैं भोक्ता हूँ" यह स्वीकृति स्वतः मिट जाती है। जिसके मिटते ही भोक्ता, भोग, वासना और भोग्य वस्तुओं की भिन्नता शेष नहीं रहती। अथवा यों कहो कि वस्तु, सामर्थ्य और विवेक की एकता होते ही सीमित अहंभाव गल जाता है। जिसके गलते ही काम का नाश हो जाता है और फिर कामना, आसक्ति और स्वार्थ भाव तीनों ही दोष मिट जाते हैं। अर्थात् स्वार्थ सेवा-भाव में, कामना जिज्ञासा में और आसक्ति प्रीति में बदल जाती है, जिसके बदलते ही चित्तशुद्ध हो जाता है।

विवेक का आदर करते ही प्रीति की अभिव्यक्ति, जिज्ञासा की जागृति और सेवा में प्रवृत्ति स्वतः होने लगती है। सेवा में समस्त कर्त्तव्य विज्ञान, जिज्ञासा की जागृति में अध्यात्म-विज्ञान और प्रीति की अभिव्यक्ति में आस्तिक-विज्ञान निहित है। सेवा की पूर्णता राग रहित होने में है राग-रहित होते ही भोग योग में बदल जाता है। योग-विज्ञान शान्ति तथा सामर्थ्य एवं स्वाधीनता

का प्रतीक है। इसी कारण ज्यों-ज्यों योग विज्ञान का आदर होता जाता है त्यों-त्यों कर्त्तव्य पालन की सामर्थ्य और निष्कामता अपने आप उदित होती है। निष्कामता प्राणी को अधिकार लीलसा से रहित कर देती है और कर्त्तव्य परायणता दूसरों के अधिकारों की रक्षा करने में समर्थ है। दूसरों के अधिकार की रक्षा से विद्यमान राग की निवृत्ति होती है और अपने अधिकार के त्याग से नवीन राग की उत्पत्ति ही नहीं होती। अर्थात् प्राणी राग रहित हो जाता है। इस दृष्टि से कर्त्तव्य-विज्ञान और योग-विज्ञान में अत्यन्त घनिष्ठता है क्योंकि कर्त्तव्य परायणता से प्राणी योग-विज्ञान का अधिकारी हो जाता है और योग-विज्ञान कर्त्तव्य परायणता का सामर्थ्य प्रदान करता है। इतना ही नहीं योग-विज्ञान की पूर्णता निस्सन्देहता एवं स्वाधीनता की ओर अग्रसर कर अध्यात्म-विज्ञान का अधिकारी बना देती है। अध्यात्म-विज्ञान में पराधीनता जड़ता एवं सन्देह के अभाव करने की सामर्थ्य स्वतः सिद्ध है। अतः अध्यात्म-विज्ञान द्वारा प्राणी निस्सन्देहता, स्वाधीनता, चिन्मयता से अभिन्न हो जाता है जिसके होते ही आस्तिक-विज्ञान में स्वतः प्रवेश हो जाता है; जो प्रेम से परिपूर्ण है। अथवा यों कहो कि कर्त्तव्य परायणता की पूर्णता योग में और योग की पूर्णता बोध में और बोध की पूर्णता में प्रेम की अभिव्यक्ति निहित है।

विवेक जिस अनन्त का विधान है, सामर्थ्य और वस्तु भी उसी की अभिव्यक्ति है। अतः विवेक के प्रकाश में ही सामर्थ्य तथा वस्तुओं का सदुपयोग करना अनिवार्य है। विवेक के अनादर से ही काम, कामना और अकर्त्तव्य का जन्म होता है। अतः साधक के जीवन में अविवेक का अर्थात् विवेक के अनादर का कोई स्थान ही नहीं है। अनन्त की अहैतुकी कृपाशक्ति ने ही अपने स्वभाव से विवश होकर प्राणी को विवेक सामर्थ्य तथा वस्तु प्रदान

की है और अपने को इतना छिपाया है कि प्राणी प्राप्त विवेक, सामर्थ्य और वस्तु को अपनी ही मानता है, यह नहीं जानता कि अपनी कृपा से आप मोहित होकर उस अनन्त ने सभी को सब कुछ दिया है। भला इस उदारता पर कौन ऐसा होगा जो अपने को निछावर न कर सके, अर्थात् उसीकी प्रीति होकर न रहे जिसकी यह अनुपम, अलौकिक अनिर्वचनीय उदारता है।

अब यदि कोई यह कहे कि तुम जिसे उदारता मानते हो वह तो प्राकृतिक विधान है, तो भी यहतो स्पष्ट हो ही जाता है कि जिसका विधान इतना सुन्दर है वह न जाने कितना सुन्दर होगा। भला उसका प्रेमी होने में किसे आपत्ति तथा हिचक हो सकती है अर्थात् किसी को भी नहीं। उसकी प्रीति बिना हुए आसक्तियों का अन्त सम्भव नहीं है। उनकी जिज्ञासा के बिना कामनाओं का अन्त हो ही नहीं सकता और प्रत्येक प्रवृत्ति के द्वारा उन्हीं के नाते सेवा करने पर ही स्वार्थ-भाव गल सकता है। इस दृष्टि से प्रीति जिज्ञासा और सेवा ही चित्तशुद्धि की मुख्य साधना है। जिसकी अभिव्यक्ति विवेक के आदर में निहित है। जब तक साधक में साधन की अभिव्यक्ति नहीं होती तब तक साधन में स्वाभाविक अभिरुचि अर्थात् नित-नव प्रियता नहीं होती। जिसके हुए बिना साधन में अस्वाभाविकता और असाधन में स्वाभाविकता प्रतीत होती है अर्थात् कर्त्तव्य परायणता में कठिनता और अकर्त्तव्य में सुगमता प्रतीत होती है जो वास्तव में चित्त की अशुद्धि है। अतः प्रीति, जिज्ञासा तथा सेवा द्वारा चित्तशुद्धि के लिए सर्वदा तत्पर रहना चाहिए जो विवेक-सिद्ध है।

२१–५–५६

: ५१ :

मेरे निज स्वरूप परमप्रिय,

वस्तुओं के अस्तित्व को स्वीकार करने से, उनको अपना मानने से और उनका दुरुपयोग करने से चित्त-अशुद्ध होता है। यदि अपने से भिन्न की स्वीकृति न होती तो चित्त कभी अशुद्ध न होता। अब विचार यह करना है कि अपने से भिन्न की स्वीकृति का मूल कारण क्या है। जब प्राणी किसी प्रतीति को तथा किसी मान्यता को ही अपने को मान लेता है तब उसमें अपने आप परिच्छिन्नता की सत्यता दृढ़ हो जाती है जिसके होते ही अनेक प्रकार के भेद उत्पन्न हो जाते हैं। भेद की उत्पत्ति से चित्त अशुद्ध हो जाता है अथवा यों कहो कि यह को मैं स्वीकार करने पर काम तथा मोह की उत्पत्ति होती है जो चित्त को अशुद्ध कर देता है। यद्यपि यह को मैं स्वीकार करने में निज अनुभूति का विरोध है परन्तु प्राणी प्रमाद वश अपनी अनुभूति का आदर नहीं करता। उसका परिणाम यह होता है कि देह में ही अहम्-बुद्धि दृढ़ हो जाती है। जिसके होते ही अनेक दोष अपने आप उत्पन्न हो जाते हैं। कितने आश्चर्य्य की बात है कि प्राणी कभी तो अपने को देह मानता है और कभी देह को अपना मानता है। अर्थात् अहम् और मम् दोनों की स्थापना देह में कर लेता है। अहम् की स्थापना करके देह से भिन्न बाह्य वस्तु में ममता करता है और

देह के प्रति ममता करके अपने को किसी मान्यता विशेष में आबद्ध करता है। प्राकृतिक नियम के अनुसार प्रत्येक मान्यता में परिच्छिन्नता की स्वीकृति स्वतः सिद्ध प्रतीत होने लगती है। यद्यपि प्राणी में आवश्यकता स्वभाव से ही अनन्त से अभिन्न होने की है क्योंकि कोई भी अपने को सीमित होकर सदैव नहीं रखना चाहता परन्तु मान्यता में अस्तित्व बुद्धि स्वीकार करने से काम की उत्पत्ति होती है जिससे स्वाभाविक आवश्यकता में शिथिलता आ जाती है और अनेक कामनाएँ उत्पन्न हो जाती हैं जो वस्तुओं से सम्बन्ध दृढ़कर देती हैं। इस दृष्टि से वस्तुओं के अस्तित्व की स्वीकृति तथा उनसे सम्बन्ध स्वाभाविक आवश्यकता के प्रमाद से अथवा निज अनुभूति के विरोध को सहन करने से होता है।

यह नियम है कि स्वाभाविक आवश्यकता की विस्मृति भले ही हो जाय पर उसका नाश नहीं होता। स्वीकृति में सत्यता तथा प्रियता भले ही प्रतीत होती हो परन्तु उसका अस्तित्व नहीं होता। अर्थात् अस्तित्वहीन स्वीकृति प्राणी को न जाने कितना नाच नचाती है। अथवा यों कहो कि अनेक प्रकार के संघर्षों में आबद्ध कर देती है।

समस्त स्वीकृतियों के मूल में क्या है इसका निर्णय उस समय तक सम्भव नहीं है जब तक कि समस्त स्वीकृतियों का अस्वीकृति द्वारा अन्त न कर दिया जाय। ऐसी कोई स्वीकृति हो ही नहीं सकती जिसमें परिवर्तन तथा अभाव न हो। समस्त स्वीकृतियाँ दो प्रकार से उत्पन्न होती हैं एक तो श्रवण के आधार पर और एक अपने को देह मान लेने पर। श्रवण से पूर्व प्राणी अपने को क्या मानता था, इसका उसे पता नहीं और देह की तद्रूपता से पूर्व किसके साथ तादात्म्य था, इसे भी बेचारा प्राणी जानता नहीं।

परन्तु निज विवेक द्वारा प्राणी यह अवश्य जानता है कि देह मैं नहीं हूँ क्योंकि जो यह है वह मैं हो ही नहीं सकता। मैं क्या है? यह प्रश्न उत्पन्न होकर "मैं देह नहीं हूँ" इस निर्णय तक प्राणी को पहुँचा देता है। परन्तु बेचारा प्राणी सन्देह की वेदना को न सहने के कारण जब अपने को किसी मान्यता से अभिन्नकर लेता है तब देह को अपना मानकर देह के नाते देश, समाज, वर्ग, जाति, सम्प्रदाय, दल, आदि मान्यताओं से बँध जाता है और देह की भाँति ही सबको अपना मानने लगता है। परन्तु उसकी स्वाभाविक आवश्यकता विभु होने की है, इस कारण किसी भी सीमा में अपने को सन्तुष्ट नहीं कर पाता। यहाँ तक कि समस्त सृष्टि को अपना मानने पर भी उसे सन्तोष नहीं होता और फिर उसमें यह प्रश्न स्वाभाविक उत्पन्न हो जाता है कि वास्तव में मेरा कौन है और मैं क्या हूँ? यह मूल प्रश्न उस समय तक हल हो ही नहीं सकता जब तक प्राणी किसी को भी अपना मानता है और अपने को कुछ मानता है। कारण कि विकल्परहित मान्यता, वास्तविकता की भाँति ही सत्य प्रतीत होती है। अतः मान्यता के रहते हुए वास्तविकता का बोध सम्भव ही नहीं है। मैं और मेरा ज्यों-ज्यों विभु होता जाता है त्यों-त्यों व्यक्तिगत सुख-दुःख निर्जीव होता जाता है, जिससे प्राणी के जीवन में करुणा, उदारता, क्षमा, समता, मुदिता आदि सद्गुणों की अभिव्यक्ति होती जाती है। किन्तु वे गुण किसके हैं, कहाँ से आए हैं? यह समस्या ज्यों की त्यों रहती है। यद्यपि सद्गुणों के आधार पर व्यक्ति को आदर, प्यार, आवश्यक वस्तुएँ बड़ी ही सुगमता-पूर्वक मिलने लगती हैं पर अपने सम्बन्ध में व्यक्ति सन्देहरहित नहीं हो पाता और किसी न किसी गुण-दोष और मान्यता के आधार पर अपने व्यक्तित्व की रक्षा करता रहता है अथवा यों

कहो कि व्यक्तित्व के अभिमान में आबद्ध रहता है जो चित्त की अशुद्धि है।

व्यक्तित्व का अभिमान समस्त दोषों का मूल है कारण कि उसके रहते हुए अनन्त से अभिन्नता अथवा स्वतंत्र अस्तित्व का ज्ञान सम्भव ही नहीं है। अनन्त से अभिन्न हुए विना स्वाभाविक आवश्यकता की पूर्ति और अस्वाभाविक कामनाओं की निवृत्ति हो ही नहीं सकती और स्वतन्त्र अस्तित्व के बोध के विना अनन्त से अभिन्नता सम्भव नहीं है। यद्यपि जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व है उससे देश-काल की दूरी हो ही नहीं सकती, परन्तु जो मान्यता तथा सम्बन्ध अस्तित्वहीन है वह स्वतन्त्र अस्तित्व के बोध में आवरण बन गया है। उस आवरण का नाश तभी हो सकता है जब अस्तित्वहीन मान्यता को विवेकपूर्वक अस्वीकार कर दिया जाय।

अब यदि कोई यह कहे कि अस्वीकार करने पर भी स्वीकृति ज्यों की त्यों प्रतीत होती है तो ऐसी दशा में स्वीकृति के अनुसार अपने पर जो दूसरों का अधिकार है उसकी यथाशक्ति रक्षा की जाय और दूसरों पर जो अपना अधिकार है उसका त्याग कर दिया जाय। यह नियम है कि जिसको जो देना है वह देने पर और जिससे लेना है उससे न लेने पर अपने आप सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। जिसके होते ही वह स्वीकृति अपने आप मिट जाती है जिसके आधार पर सम्बन्ध की स्थापना हुई थी। सम्बन्ध कितना ही पुराना क्यों न हो विच्छेद होते ही सदा के लिए मिट जाता है। यह नियम है कि सम्बन्ध न रहने पर जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व है उसका बोध हो जाता है और जो अस्तित्वहीन है उसका अभाव हो जाता है जिसके होते ही अनन्त से अभिन्नता और जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व है उसका बोध हो जाता है और फिर

जो मूल प्रश्न है कि "मेरा कौन है और मैं क्या हूँ ?" यह अपने आप हल हो जाता है जिसके होते ही चित्त शुद्ध हो जाता है।

मान्यता में सत्यता और वस्तुओं की ममता एकमात्र लेन-देन के आधार पर ही जीवित है। जिसे किसीसे कुछ लेना नहीं है और जो प्राप्त है वह देकर देने की रुचि का अन्त कर देना है वह बड़ी ही सुगमतापूर्वक उससे अभिन्न हो जाता है जो समस्त मान्यताओं से पूर्व था और सदैव है अर्थात् जो देश-काल की दूरी से रहित है। देने की रुचि का अन्त तभी हो सकता है जब प्राणी देने के अभिमान से और लेने की आशा से रहित हो जाय अर्थात् दी हुई वस्तु को उसी की जाने जिसको दी है। अपनी मानकर देने से लेने की आशा अवश्य उत्पन्न होती है। लेने की आशा रहते हुए देने की बात कहना ईमानदारी नहीं है अथवा यों कहो कि देने के रूप में लेना ही है, देना नहीं। इतना ही नहीं उस प्राणी का लेना भी देना हो जाता है जो अपने में अपना कुछ नहीं पाता जिसे अपने में अपना कुछ भी प्रतीत होता है उसका देना भी लेना है अर्थात् उसका त्याग भी राग है और प्रेम भी मोह है। उसके द्वारा की हुई सेवा भी स्वार्थ है। पर इस रहस्य को वे ही जान पाते हैं जिन्होंने विवेक-दृष्टि से अपने में अपना कुछ नहीं पाया अपितु सभी में उसी को पाया जो सर्वदा सभी का सब कुछ है। जो सभी का सब कुछ है, प्रत्येक प्राणी को सर्वदा उसीका होकर रहना है। यह नियम है कि जो जिसका होकर रहता है उसमें उसी की सत्यता एवं प्रियता अङ्कित हो जाती है और उससे भिन्न की स्वीकृति ही शेष नहीं रहती। अस्वीकृति से उसीका नाश होता है जिसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है और सत्यता तथा प्रियता उसी की सुरक्षित रहती है जिससे स्वरूप की एकता है। जिससे स्वरूप की एकता है उससे चित्त अशुद्ध नहीं होता अपितु चित्त में उसी के प्रेम की

अभिव्यक्ति हो जाती है। यहाँ तक कि चित्त है या प्रेम है यह कहते नहीं बनता। अर्थात् प्रेम से भिन्न चित्त का कोई अस्तित्व ही नहीं भासता क्योंकि यह प्रेम का स्वभाव ही है कि उसकी अभिव्यक्ति जिसमें होती है वह भी प्रेम ही हो जाता है। प्रेम के साम्राज्य में न तो सुख की आशा ही रहती है और न जड़ता जिसके न रहने से चित्त की अशुद्धि अपने आप मिट जाती है।

चित्त में अशुद्धि उसी समय तक रहती है जिस समय तक प्राणी वस्तुओं के अस्तित्त्व को अस्वीकार नहीं करता अथवा उनकी ममता से रहित नहीं होता अथवा प्राप्त वस्तुओं का सदुपयोग और अप्राप्त वस्तुओं के चिन्तन का त्याग नहीं करता। वस्तुओं के चिन्तन का त्याग किए विना वस्तुओं की आसक्ति उत्तरोत्तर वढ़ती ही रहती है। वस्तुओं की आसक्ति वस्तुओं का सदुपयोग नहीं करने देती। वस्तुओं के सदुपयोग किए विना न तो व्यक्तियों की सेवा ही होती है और न वस्तुओं की ममता का ही नाश होता है। वस्तुओं की ममता से रहित हुए विना व्यक्ति में निर्लोभता की अभिव्यक्ति ही नहीं होती। जिसके विना हुए दरिद्रता अपने आप आ जाती है जो विचारे प्राणी को अनेक प्रकार के अभावों में आवद्ध कर देती है जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है।

वस्तुओं के सदुपयोग द्वारा व्यक्तियों की सेवा विना किए न तो निर्मोहता की ही अभिव्यक्ति होती है और न संग्रह की रुचि ही नाश होती है। निर्मोहता के विना प्राणी न तो मृत्यु के भय से ही रहित होता है और न अमरत्व से ही अभिन्नता होती है। संग्रह की रुचि प्राणी को जड़ता और संकीर्णता में आवद्ध कर देती है जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है। अब यदि कोई यह कहे कि व्यक्तियों की सेवा से तो मोह की वृद्धि होगी पर बात ऐसी नहीं है कारण कि मोह की वृद्धि तो व्यक्तियों के द्वारा सुख की

आशा करने पर होती है, सेवा से नहीं। व्यक्तियों की सेवा व्यक्तियों के मोह से रहित कर देती है, क्योंकि सेवा वही कर सकता है जो सुख की आशा से रहित है। सुखकी की आशा से रहित होने पर मोह की गंध भी नहीं रहती। इस दृष्टि से व्यक्तियों की सेवा व्यक्तियों के मोह से रहित करने में समर्थ है।

व्यक्तियों के मोह से रहित होते ही चित्त स्वतः शुद्ध हो जाता है क्योंकि किसी भी दोष का अत्यन्त अभाव होने पर सभी दोष मिट जाते हैं। कारण कि एक ही दोष स्थान भेद से अनेक रूपों में प्रतीत होता है। वस्तुओं की ममता लोभ को और उनका दुरुपयोग मोह को उत्पन्न करता है। अतः न तो वस्तुओं से ममता ही करना है और न उनका दुरुपयोग ही। वस्तुओं के सदुपयोग से प्राकृतिक नियम के अनुसार आवश्यक वस्तुएँ स्वतः मिलने लगती हैं। इस दृष्टि से वस्तुओं के सदुपयोग में ही आवश्यक वस्तुओं की उपलब्धि निहित है और वस्तुओं के सदुपयोग में ही परस्पर में स्नेह की वृद्धि तथा मोह की निवृत्ति होती है। अतः प्रत्येक दृष्टि से वस्तुओं का सदुपयोग करना अनिवार्य है। निर्लोभता तथा निर्मोहता की अभिव्यक्ति होते ही चित्त स्वतः शुद्ध हो जाता है जिसके हो जाने पर वस्तुओं के अस्तित्त्व की अस्वीकृति की सामर्थ्य स्वतः आ जाती है।

वस्तुओं के अस्तित्त्व की अस्वीकृति में समस्त दोषों का अन्त और वस्तुओं से अतीत के जीवन से अभिन्नता स्वतः हो जाती है। अप्राप्त वस्तुओं के चिन्तन का त्याग, प्राप्त वस्तुओं के सदुपयोग की सामर्थ्य प्रदान करता है। प्राप्त वस्तुओं का सदुपयोग वस्तुओं की ममता से रहित करने में समर्थ है। वस्तुओं की ममता का अभाव निर्मोहता, निर्लोभता की अभिव्यक्ति में हेतु है क्योंकि देहरूपी वस्तु की ममता का अभाव निर्मोहता और अन्य

सभी वस्तुओं की ममता का अभाव निर्लोभता, जड़ता और परिच्छिन्नता का अन्त करता है। जिसके होते ही निष्कामता, उदारता, चिन्मयता और अपरिच्छिन्नता आदि दिव्य-जीवन से अभिन्नता हो जाती है। अथवा यों कहो कि समस्त वस्तुओं के अस्तित्त्व की अस्वीकृति में ही स्वाधीनता तथा अपना महत्त्व निहित है। स्वाधीनता तथा अपने महत्त्व में ही सन्तुष्ट न होने से अनन्त से अभिन्नता स्वतः हो जाती है जो वास्तविकता है। अथवा यों कहो कि जीवन अनन्त का प्रेम हो जाता है। प्रेम की अभिव्यक्ति में ही समस्त अभावों का अभाव है। कारण कि प्रेम से भेद, भिन्नता, नीरसता आदि समस्त दोषों का अन्त हो जाता है। अतः वस्तुओं का सदुपयोग, उनकी ममता का त्याग एवं उनके अस्तित्त्व को अस्वीकार कर चित्त को शुद्ध, शान्त तथा स्वस्थ करना अनिवार्य है।

२२-६-५६

: ५२ :

मेरे निज स्वरूप परमप्रिय,

जब तक प्राणी की दृष्टि दूसरों के कर्त्तव्य तथा उदारता पर लगी रहती है तब तक उसका चित्त अशुद्ध रहता है। कारण कि पराधीन प्राणी का चित्त शुद्ध नहीं रह सकता अर्थात् पराधीनता अशुद्धि की जननी है। पर की प्रतीति ही प्राणी में अधिकार लालसा तथा भोगासक्ति को जन्म देती है। अधिकार की दासता और भोग की आसक्ति में आबद्ध प्राणी के चित्त में सर्वदा किसी न किसी अंश में खिन्नता ही निवास करती है। खिन्नता काम की जननी है और काम पराधीनता का मूल है। इस दृष्टि से पराधीनता अशुद्धि की जननी है अथवा यों कहो कि काम के साम्राज्य में कोई भी स्वाधीन नहीं रहा और स्वाधीनता के बिना किसी को भी चिर-शांति तथा स्थायी प्रसन्नता एवं नित नूतन रस की प्राप्ति नहीं हुई। शांति के बिना सामर्थ्य, प्रसन्नता के बिना सामर्थ्य का सदुपयोग और नितनूतन रस के बिना काम का नाश नहीं हो सकता जिसके बिना चित्त अशुद्ध ही रहता है।

निज विवेक के अनादर से ही देहाभिमान पुष्ट होता है जिसके होते ही इन्द्रियों के ज्ञान में सत्यता तथा प्रियता भासित होती है जिससे पर की प्रतीति स्वतः होने लगती है जिसके होते ही प्राणी में अधिकार लालसा उत्पन्न होती है जो उसे दूसरों के कर्त्तव्य पर

निर्भर कर देती है क्योंकि किसी के अधिकार में ही किसी का कर्त्तव्य निहित है। इस कारण अधिकार की दासता रहते हुए कोई भी प्राणी स्वाधीनता के साम्राज्य में प्रवेश नहीं कर सकता। यद्यपि स्वाधीनता की माँग प्राणी में स्वाभाविक है परन्तु अधिकार कामना ने उसकी पूर्ति नहीं होने दी। इस दृष्टि से जो प्राणी अपने अधिकार का त्याग नहीं कर सकता उसे किसी भी प्रकार स्वाधीनता नहीं मिल सकती। स्वाधीनता के विना न तो कोई अमरत्व प्राप्त कर सकता है और न उसके जीवन में प्रेम की ही अभिव्यक्ति हो सकती है। इतना ही नहीं स्वाधीनता प्राप्त किए विना प्राप्त वस्तु, सामर्थ्य तथा योग्यता का सदुपयोग भी नहीं कर सकता। वस्तुओं के सदुपयोग के विना वस्तुओं का अभाव नहीं मिट सकता। सामर्थ्य के सदुपयोग के विना असमर्थता का अंत नहीं हो सकता और योग्यता के सदुपयोग में ही आवश्यक ज्ञान-विज्ञान की अभिव्यक्ति निहित है।

स्वाधीनता कर्त्तव्यपालन में है अधिकार माँगने में नहीं। स्वाधीनता प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग में है परिस्थिति परिवर्तन में नहीं; प्राप्त सुख के वितरण में है, सुख की आशा में नहीं। इतना ही नहीं राग-द्वेष की निवृत्ति तथा त्याग और प्रेम की प्राप्ति में भी प्राणी सर्वदा स्वाधीन है। इसके अतिरिक्त और कहीं स्वाधीनता है नहीं।

प्रत्येक परिस्थिति प्राकृतिक न्याय है। प्राकृतिक न्याय में किसी का अहित नहीं है अपितु सभी का हित है। इस दृष्टि से प्राणी का विकास प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग में ही निहित है। पर परिस्थिति का सदुपयोग वे ही प्राणी कर सकते हैं जो परिस्थिति में जीवन बुद्धि नहीं रखते अपितु परिस्थिति को साधन सामग्री ही जानते हैं। परिस्थिति स्वभाव से ही परिवर्तन

शील है। जो परिवर्तनशील है उसके परिवर्तन का प्रयास करना प्राप्त सामर्थ्य का दुरुपयोग करना है। इतना ही नहीं जो सामर्थ्य प्राणी को परिस्थिति के सदुपयोग के लिए मिली थी उसका व्यय अप्राप्त परिस्थिति के चिन्तन में अथवा परिस्थिति के परिवर्तन में करना उसका दुरुपयोग है। सामर्थ्य के दुरुपयोग का बड़ा ही भयंकर परिणाम होता है अर्थात् प्राणी सामर्थ्य के दुरुपयोग से न तो प्रतिकूलता का ही अंत कर सकता है और न उसे अनुकूलता ही प्राप्त होती है। ऐसी कोई परिस्थिति हो ही नहीं सकती जो सर्वांश में अनुकूल तथा प्रतिकूल हो अर्थात् प्रत्येक परिस्थिति अनुकूलता तथा प्रतिकूलता का समूह है। अनुकूलता की दासता तथा प्रतिकूलता का भय प्राणी को परिस्थिति का सदुपयोग नहीं करने देता। जिसके बिना किए न तो उत्कृष्ट परिस्थिति प्राप्त होती है और न परिस्थितियों से अतीत के जीवन में प्रवेश ही होता है। प्राकृतिक नियम के अनुसार अनुकूलता और प्रतिकूलता दोनों ही कर्तव्यनिष्ठ होने के लिए आवश्यक अंग हैं क्योंकि प्रतिकूलता के बिना वस्तुओं के स्वरूप का वास्तविक ज्ञान नहीं होता और अनुकूलता के बिना प्राप्त वस्तुओं का उदारतापूर्वक सदुपयोग नहीं होता। वस्तुओं के स्वरूप का यथेष्ट ज्ञान हुए बिना वस्तुओं की दासता का अंत नहीं हो सकता और वस्तुओं के सदुपयोग के बिना परस्पर में स्नेह की एकता सम्भव नहीं है। स्नेह की एकता के बिना संघर्ष मिट नहीं सकता अथवा यों कहो कि स्नेह की एकता में ही भेद तथा भिन्नता का नाश और सुन्दर समाज का निर्माण एवं चिरशांति की स्थापना निहित है। इस दृष्टि से अनुकूलता और प्रतिकूलता दोनों ही में प्राणी का हित है। अतः अनुकूलता की दासता और प्रतिकूलता का भय चित्त से सदा के लिए निकाल देना अनिवार्य है। जिसके निकलते ही

अनुकूलता तथा प्रतिकूलता का सदुपयोग स्वतः होने लगता है और फिर पराधीनता शेष नहीं रहती। जिस से चित्त सुगमता-पूर्वक शुद्ध हो जाता है।

अधिकार लालसा से रहित, प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग में ही कर्त्तव्य परायणता है और कर्त्तव्य परायणता में ही विद्यमान राग की निवृत्ति है। अधिकार लालसा में आबद्ध प्राणी कर्त्तव्य-निष्ठ नहीं हो सकता कारण कि अधिकार की अपूर्त्ति उसे क्षोभित तथा क्रोधित कर देगी और अधिकार की पूर्त्ति उसमें नवीन राग उत्पन्न कर देगी। इस दृष्टि से अधिकार लालसा के त्याग में ही कर्त्तव्य परायणता निहित है। क्षोभित होने पर प्राप्त सामर्थ्य का ह्रास हो जाता है और क्रोधित होने पर कर्त्तव्य की विस्मृति अर्थात् कर्त्तव्य का ज्ञान आच्छादित हो जाता है। प्राप्त सामर्थ्य के ह्रास में और कर्त्तव्य के ज्ञान की स्मृति से कर्त्तव्य परायणता सम्भव नहीं है। क्योंकि कर्त्तव्य के ज्ञान तथा सामर्थ्य के द्वारा ही प्राणी कर्त्तव्य-निष्ठ हो सकता है। यद्यपि प्रत्येक परिस्थिति में कर्त्तव्य-पालन सम्भव है परन्तु जब प्राणी प्राप्त सामर्थ्य तथा ज्ञान का सदुपयोग नहीं करता तब कर्त्तव्यसे च्युत हो जाता है। राग-निवृत्ति के लिए ही कर्त्तव्य अपेक्षित है, अतः नवीन राग की उत्पत्ति भी प्राणी को कर्त्तव्य-निष्ठ नहीं होने देती। इस दृष्टि से अपने अधि-कार का त्याग किए बिना कोई भी प्राणी कर्त्तव्य-निष्ट नहीं हो सकता। अधिकार के नाम पर कर्त्तव्य की बात कहना अकर्त्तव्य में कर्त्तव्यबुद्धि रखना है। जो अकर्त्तव्य-कर्त्तव्य के भेष में आता है वह बड़ा ही भयंकर होता है क्योंकि उसका त्याग कठिन हो जाता है। अकर्त्तव्य अकर्त्तव्य के रूप में अधिक काल तक जीवित नहीं रह सकता क्योंकि सर्वांश में कोई भी दोष किसी भी प्रकार से नहीं रह सकता। गुण का आश्रय पाकरही दोष अपने अस्ति-

त्त्व को सुरक्षित रख पाता है, अथवा यों कहो कि अकेला दोष रह ही नहीं सकता। इस दृष्टि से कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का भेद जानना अनिवार्य है। अधिकार की मांग अकर्त्तव्य की जननी है और दूसरों के अधिकार की रक्षा कर्त्तव्य की जननी है जिस प्राणी की दृष्टि सदैव दूसरे के अधिकार पर ही लगी रहती है वही कर्त्तव्य निष्ठ हो पाता है और जो प्राणी अपने ही अधिकार को देखता रहता है वह कभी भी कर्त्तव्यनिष्ठ नहीं हो पाता। इतना ही नहीं, वेचारा ऐसी भयंकर परिस्थिति में आवद्ध हो जाता है कि एक दोप की निवृत्ति के लिए दूसरे दोष को अपनाता रहता है जैसे किसी की रक्षा के लिए किसी की हिंसा, किसी के विकास के लिए किसी का ह्रास, किसी के काम के लिए किसी की हानि करता रहता है। प्राकृतिक नियम के अनुसार जिस रक्षा, विकास और लाभ के मूल में हिंसा, ह्रास और हानि है उससे अन्त में हिंसा, ह्रास और हानि ही सिद्ध होती है क्योंकि जिससे जिसकी उत्पत्ति होती है उसका अन्त उसी में होता है। अतः अकर्त्तव्य त्याग से जिस कर्त्तव्य का उदय होता है वही कर्त्तव्य वास्तव में विकास का मूल है। अकर्त्तव्य का त्याग किए विना कर्त्तव्यनिष्ठ होना क़िसी भी प्रकार सम्भव ही नहीं है। अथवा यों कहो कि अकर्त्तव्य का त्याग भी निषेधात्मक दृष्टि से कर्त्तव्य ही है।

प्राकृतिक नियमानुसार प्राप्त सुख दुखियों की वस्तु है। उसे अपना मानना और उसका भोग करना पराई वस्तु को अपना मानना है। पराई वस्तु को अपना मानने से प्राणी का सर्वनाश हो ज़ाता है। इस कारण जो सुख प्राप्त है उसका वितरण कर उसकी आसक्ति से रहित होना अनिवार्य है। सुख वाँट देने पर दुख सदा के लिए मिट जाता है और सुख दुःख से अतीत वास्तविक जीवन से अभिन्नता हो जाती है। जो प्राणी सुख भोग तथा सुख की

आशा में आबद्ध हो जाता है वह कभी भी स्वाधीन नहीं हो सकता और स्वाधीनता के विना चित्त की शुद्धि सम्भव नहीं है। क्योंकि पराधीन प्राणी सर्वदा सुख की आशा से आबद्ध रहता है। सुख की आशा चित्त में राग-द्वेष उत्पन्न करती है जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है। सुख की आशा से रहित होने पर राग-द्वेप त्याग तथा प्रेम में बदल जाता है और फिर चित्त स्वतः शुद्ध हो जाता है। चित्त उसी प्राणी का शुद्ध हो सकता है जो दूसरों के कर्त्तव्य पर दृष्टि नहीं रखता और जिसकी प्रसन्नता किसी की उदारता पर निर्भर नहीं है। परन्तु वह स्वयं दूसरों के लिए उदार भी है और कर्त्तव्यनिष्ठ होकर दूसरों के अधिकार की रक्षा भी करता है अर्थात् उदारता तथा कर्त्तव्यपरायणता ही जिसे अभीष्ट है उसी का चित्त शुद्ध हो सकता है।

चित्त की अशुद्धि चित्त को प्राणी के आधीन नहीं रहने देती। अर्थात् प्राणी अशुद्ध चित्त का न तो निरोध ही कर सकता है और न उससे सम्बन्ध विच्छेद कर सकता है और न उसे जब जिसमें लगाना चाहे उसमें लगा सकता है और न जिससे हटाना चाहे उससे हटा सकता है। अर्थात् चित्त के हटाने लगाने में प्राणी स्वाधीन नहीं रहता। जिसके विना, जो करना चाहिए उसे कर नहीं पाता और जो नहीं करना चाहिए उससे वच नहीं पाता। जो करना चाहिए उसके न करने से जो मिलना चाहिए वह नहीं मिलता। उसका परिणाम यह होता है कि वेचारा प्राणी उससे विमुख हो जाता है जिससे उसकी वास्तविक एकता है। जो नहीं करना चाहिए उसमें प्रवृत्त होने से उत्तरोत्तर अवनति की ओर ही गतिशील होता रहता है। इस दृष्टि से चित्त को अपने आधीन वनाए रखना अत्यन्त आवश्यक है पर वह तभी सम्भव

होगा जब चित्त स्वस्थ हो जाय। उसके लिए चित्त को शान्त तथा शुद्ध करना अनिवार्य है।

चित्त का निरोध हुए बिना आवश्यक सामर्थ्य का विकास नहीं होता और उसके बिना स्वाधीनता की ओर प्रगति नहीं होती। चित्त के निरोध के लिए किसी वस्तु व्यक्ति आदि की अपेक्षा नहीं है अपितु सभी वस्तु व्यक्ति आदि से सम्बन्ध-विच्छेद की आवश्यकता है क्योंकि वस्तु व्यक्ति आदि के सम्बन्ध से ही चित्त की गति विपरीत हो गई है, जिससे चित्त का निरोध नहीं होता। जब चित्त में वस्तु व्यक्ति का राग अङ्कित हो जाता है तब चित्त अशुद्ध हो जाता है। कोई वस्तु चित्त को अशुद्ध नहीं करती। वस्तु का महत्त्व, उसका राग, उसका दुरुपयोग और उसकी कामना चित्त को अशुद्ध करती है। वस्तु के सदुपयोग से उसकी कामना न करने से चित्त शुद्ध हो जाता है। व्यक्तियों से सुख की आशा तथा उनकी ममता चित्त को अशुद्ध करती है। यदि व्यक्तियों की सेवा की जाय और उनसे ममता न की जाय तो चित्त अशुद्ध नहीं होता अपितु शुद्ध हो जाता है। इस दृष्टि से वस्तु और व्यक्ति का होना चित्त की अशुद्धि में हेतु नहीं है।

प्राकृतिक नियम के अनुसार वस्तुओं का सदुपयोग व्यक्तियों की सेवा में है और व्यक्तियों की सेवा उनसे सम्बन्ध-विच्छेद कराने में समर्थ है। इस दृष्टि से न्यायपूर्वक सम्पादित वस्तुओं के द्वारा व्यक्तियों की सेवा करना और किसी भी व्यक्ति से सुख की आशा न करना चित्त की शुद्धि का साधन है। जो प्राणी व्यक्तियों से सुख की आशा करता है वह व्यक्तियों की सेवा नहीं कर सकता और न उनकी ममता से ही रहित हो सकता है। इस कारण किसी भी व्यक्ति को किसी भी व्यक्ति से सुख की आशा नहीं करना चाहिए अपितु सुख देने के लिए प्रयास करता रहे। सुख देने की

भावना में ही सुख की आशा का त्याग निहित है। सुख की आशा का त्याग सुख की दासता से रहित करने में समर्थ है। सुख की दासता से रहित होते ही चित्त स्वतः शान्त हो जाता है।

चित्त की शान्ति चित्त को स्वयं शुद्ध कर देती है और चित्त की शुद्धि से चित्त स्वस्थ हो जाता है। जिसके होते ही बड़ी ही सुगमतापूर्वक चित्त का निरोध अथवा चित्त से सम्बन्ध-विच्छेद अथवा चित्त अपने अधीन स्वतः हो जाता है।

जो चित्तको अपने अधीन कर लेता है वह पराधीन नहीं रहता अथवा यों कहो कि उसकी प्रसन्नता किसी परिस्थिति विशेष पर निर्भर नहीं रहती। जिसके न रहने से समस्त विश्व उसके अधीन हो जाता है अथवा यों कहो कि विश्वनाथ से अभिन्न हो जाता है। अर्थात् अनाथ नहीं रहता अपितु सनाथ हो जाता है। चित्त के निरोध में समस्त भौतिक विकास निहित है और चित्त के बाधित होने में अर्थात् उससे सम्बन्ध न रहने पर आध्यात्म-जीवन से अभिन्नता होती है। जबतक प्राणी को चित्त जैसी कोई वस्तु भासित होती है तब तक चित्त में कोई न कोई अशुद्धि है। जब चित्त सर्वांश शुद्ध हो जाता है तब उसका भास नहीं होता क्योंकि खिन्नता तथा नीरसता के रहते हुए ही चित्त का भास होता है। और खिन्नता तथा नीरसता उसी समय तक रहती है जिस समय तक चित्त में किसी न किसी प्रकार की अशुद्धि है।

चित्त स्वभाव से अशुद्ध नहीं है क्योंकि चित्त तो एक अलौकिक सामर्थ्य है। प्राकृतिक नियम के अनुसार सामर्थ्य के दुरुपयोग से सामर्थ्य दूषित होती है। यद्यपि सामर्थ्य में स्वभाव से कर्तृत्व नहीं है, परन्तु उसके दुरुपयोग का प्रभाव उसमें कर्तृत्व के आरोप को भासित करता है। सामर्थ्य का सदुपयोग अथवा दुरु-

पयोग उसी के अधीन है जिसे वह प्राप्त है। सामर्थ्य जिसकी देन है विवेक भी उसी की देन है। जब प्राणी प्राप्त विवेक के प्रकाश में चित्त रूपी सामर्थ्य का सदुपयोग करता है तब चित्त में किसी प्रकार की अशुद्धि का भास नहीं होता। इस दृष्टि से चित्त में अशुद्धि केवल अविवेक सिद्ध है जो प्राणी का अपना दोष है चित्त का नहीं अविवेक विवेक के अनादर से उत्पन्न होता है। अतः अविवेक का कोई अपना स्वतंत्र अस्तित्त्व नहीं है। जिसका स्वतंत्र अस्तित्त्व नहीं है उसकी उत्पत्ति प्राप्त के दुरुपयोग से होती है। प्राप्त का दुरुपयोग ही समस्त दोषों का मूल है। प्राप्त का दुरुपयोग किसी की देन नहीं है अपितु अपना ही बनाया हुआ दोष है जिसका अन्त प्राणी जब चाहे तब कर सकता है। इस दृष्टि से कर्त्तव्य-परायणता तथा उदारतापूर्वक प्राणी बड़ी ही सुगमता से चित्त शुद्ध कर सकता है। कर्त्तव्य-परायणता अपने अधिकार के त्याग में निहित है और उदारता किसी से घृणा न करने पर ही सुरक्षित रह सकती है। जो किसीसे भी घृणा करता है वह उस अनन्त से घृणा करता है क्योंकि समस्त विश्व उसी की अभिव्यक्ति है। इस दृष्टि से अकर्त्तव्य और घृणा के लिए कोई स्थान ही नहीं है। अधिकार लालसा अकर्त्तव्य को और परदोष दर्शन घृणा को जन्म देता है। पर दोष दर्शन की दृष्टि निर्दोष नहीं होने देती क्योंकि पर दोष दर्शी निज दोष का दर्शन ही नहीं कर पाता जिसके बिना निर्दोषता की अभिव्यक्ति सम्भव नहीं है क्योंकि अपने दोष के ज्ञान में ही निर्दोषता निहित है।

कर्त्तव्यनिष्ठ प्राणी प्राप्त वस्तु सामर्थ्य तथा योग्यता का सदुपयोग करता है, जिससे खिन्नता स्वतः मिट जाती है, जिसके मिटते ही उदारता की अभिव्यक्ति अपने आप हो जाती है। उदारता का क्रियात्मकरूप सेवा, तात्विक-रूप एकता और उसका वास्तविकरूप

प्रीति है। सेवा से नीरसता निर्जीव हो जाती है और प्रीति से उसका अत्यन्त अभाव हो जाता है। नीरसता का अन्त होते ही चित्त स्वतः शुद्ध शान्त तथा स्वस्थ हो जाता है जो समस्त विकास का मूल है।

२३-६-५६

: ६३ :

मेरे निज स्वरूप परमप्रिय,

संकल्प-उत्पत्ति से पूर्व जो स्थिति है उसमें अस्वाभाविकता नहीं है और न उस स्थिति में किसी वस्तु, व्यक्ति आदि से सम्बन्ध दृढ़ होता है। यह नियम है कि जबतक किसी वस्तु, व्यक्ति आदि से सम्बन्ध की स्थापना नहीं होती तबतक राग-द्वेष की प्रतीति नहीं होती। और राग-द्वेष-रहित स्थिति में चित्त अशुद्ध नहीं होता। इस दृष्टि से चित्त की अशुद्धि का कारण चित्त में राग-द्वेष का अंकित होना है और कुछ नहीं। अतः राग-द्वेष-रहित होनेपर ही चित्त शुद्ध हो सकता है। संकल्प उत्पत्ति से पूर्व की स्थिति का भास यदि स्पष्ट हो जाय तो संकल्प पूर्ति अपूर्ति के सुख-दुःख का प्रभाव चित्त में अंकित न हो, जिसके हुए बिना चित्त में अशुद्धि आ ही नहीं सकती। इस दृष्टि से सुख का प्रलोभन और दुःख का भय ही चित्त को अशुद्ध करता है। सुख-दुःख के भास होने मात्र से कोई चित्त अशुद्ध नहीं होता, चित्त अशुद्ध होता है सुख के महत्त्व और दुःख के भय से।

सुख का भास होने पर भी यदि उसका महत्त्व नहीं है तो राग की उत्पत्ति नहीं होगी और दुःख का भास होने पर भी

यदि उसका भय न हो तो द्वेष की उत्पत्ति नहीं हो सकती। इतना ही नहीं, सुख के महत्त्व से ही दुःख का भय उत्पन्न होता है।

जबतक प्राणी वस्तु व्यक्ति आदि के अस्तित्व को स्वीकार नहीं कर लेता तबतक संकल्प की उत्पत्ति ही नहीं होती। इस दृष्टि से वस्तु व्यक्ति आदि की सत्यता की स्वीकृति और उनका सम्बन्ध ही संकल्प का स्वरूप है। संकल्प की उत्पत्ति वस्तु व्यक्ति आदि से सम्बन्ध जोड़ देती है। संकल्प-पूर्ति-काल में जिन वस्तुओं की प्राप्ति होती है उन वस्तुओं से सम्बन्ध नहीं रहता। तात्पर्य यह कि संकल्प-अपूर्ति काल में वस्तुएं अप्राप्त हैं, पर उनका सम्बन्ध ज्यों का त्यों सुरक्षित है और संकल्प-पूर्ति-काल में वस्तुएँ प्राप्त हैं, पर उनसे सम्बन्ध नहीं रहता (चाहे वह काल कितना ही अल्प क्यों न हो)।

पर इस रहस्य को कोई विरले ही जानते हैं। एक संकल्प की पूर्ति और दूसरे संकल्प की उत्पत्ति से पूर्व जो स्थिति है उसमें किसी वस्तु आदि से सम्बन्ध नहीं है क्योंकि वह वही स्थिति है जो संकल्प-उत्पत्ति से पूर्व थी।

यह नियम है कि देश, काल, वस्तु, व्यक्ति आदि से सम्बन्ध किसी न किसी क्रिया की उत्पत्ति में ही निहित है। संकल्प उत्पत्ति की क्रिया किसी न किसी वस्तु, व्यक्ति आदि से सम्बन्ध जोड़ती है। इच्छित वस्तु की प्राप्ति-काल में संकल्प-उत्पत्ति क्रिया शेष नहीं रहती, जिसके न रहने पर उससे अभिन्नता हो जाती है, जो क्रिया-उत्पत्ति से पूर्व थी और उसी काल में सुख का भास होता है। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि सुख का भास किसी वस्तु व्यक्ति आदि पर निर्भर नहीं है अपितु उस पर निर्भर है जो संकल्प-उत्पत्ति से पूर्व है। यदि सुख का भास इच्छित वस्तु की प्राप्ति पर निर्भर होता तो वह सुख जो संकल्प-पूर्ति-

काल में था, इच्छित वस्तु के रहने पर भी नहीं रहता क्योंकि उस सुख का भास उसी समय तक रहता है जिस समय तक दूसरे संकल्प की उत्पत्ति नहीं होती अर्थात् संकल्प-उत्पत्ति सुख से बिमुख करती है। परन्तु प्राणी असावधानी के कारण उस सुख का आरोप इच्छित वस्तु व्यक्ति आदि में कर लेता है। उसका परिणाम यह होता है कि इच्छित वस्तुओं का महत्त्व बढ़ जाता है, उनकी सत्यता दृढ़ हो जाती है, जिसके होते ही प्राप्त वस्तुओं में ममता और अप्राप्त वस्तुओं का चिन्तन अपने आप होने लगता है, अथवा यों कहो कि संकल्प-विकल्प का प्रवाह स्वतः बहने लगता है जिससे वस्तु, व्यक्ति, देश, काल आदि की सत्यता भासने लगती है और जो देश, काल, वस्तु, व्यक्ति आदि का प्रकाशक है अर्थात् जो अनन्त, नित्य, चिन्मय है, उससे विमुखता हो जाती है जिससे संकल्प उत्पत्ति और पूर्ति में ही जीवन भासने लगता है और जो वास्तविक जीवन है उसका अभाव-सा प्रतीत होता है। यद्यपि संकल्प उत्पत्ति-पूर्ति के मूल में उस वास्तविक जीवन की जिज्ञासा विद्यमान रहती है अथवा यों कहो कि जिसे इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि के द्वारा जाना नहीं, जो कभी मिला नहीं, उसकी प्यास प्राणी में स्वभाव से है, जिसे कोई भी वस्तु बुझा न सकी; परन्तु कामना-पूर्ति के प्रलोभन ने न तो जिज्ञासा की पूर्ति होने दी और न उसके प्रेम की अभिव्यक्ति होने दी जिसकी प्यास प्राणी में स्वाभाविक है।

जब प्राणी संकल्प-उत्पत्ति-पूर्ति की द्वन्द्वात्मक परिस्थिति से अपने को सन्तुष्ट नहीं पाता तब विद्यमान जिज्ञासा अपने आप जागृत होती है, जो कामनाओं को खा कर स्वतः पूरी हो जाती है। परन्तु जब तक प्राणी को संकल्प-उत्पत्तिमात्र का

श्रम सहन होता है अर्थात् असह्य नहीं होता तबतक जिज्ञासा की पूर्ण जागृति सम्भव नहीं है। यद्यपि चिर विश्राम की आवश्यकता प्राणी में स्वाभाविक है परन्तु क्रियाजनित सुखासक्ति उस आवश्यकता को आच्छादित करती रहती है, किन्तु मिटा नहीं पाती। इतना ही नहीं, प्रत्येक श्रम का उद्‌गम और अंत विश्राम में ही निहित है।

ऐसा कोई श्रम है ही नहीं जो आदि और अंत से रहित हो। इसी कारण श्रम के द्वारा जिन वस्तुओं की उत्पत्ति होती है, वे वस्तुएँ भी आदि और अन्त से रहित नहीं हैं। परन्तु चिर विश्राम से जिनकी प्राप्ति होती है वह आदि और अन्त से रहित है अर्थात् अनन्त है। प्रत्येक श्रम के मूल में कोई न कोई कामना रहती है। उसकी पूर्ति के लिए ही श्रम की अपेक्षा है। कामनाएँ जिस भूमि में उपजती हैं, वह भूमि अविवेक सिद्ध है अर्थात् निज विवेक के अनादर में ही काम की उत्पत्ति होती है, और काम से ही कामनाएँ जन्म पाती हैं। परिवर्तनशील सीमित सौन्दर्य्य ही काम का स्वरूप है, अथवा यों कहो कि उत्पत्ति-विनाश-युक्त वस्तुओं में सत्यता, सुन्दरता एवम् प्रियता का भास ही काम है।

इतना ही नहीं, रस तथा जीवन की रुचि भी काम ही है। यद्यपि कामनाओं की पूर्ति में न तो जीवन ही है और न वह रस जो नीरसता में न बदला जाय परन्तु प्राणी रसके भास तथा शरीर के अस्तित्व मात्र को रस तथा जीवन मान लेता है। किन्तु इस मान्यता से वह अपने को पूर्ण संतुष्ट नहीं कर पाता क्योंकि शरीर का अस्तित्व नित्य नहीं है और कामना-पूर्ति से इसका अन्त अपने आप नीरसता में बदल जाता है। वह अस्तित्व जिसका नाश न हो अर्थात् नित्य हो और वह रस जो

नीरसता में न बदले, अर्थात् अनन्त हो कामना-पूर्ति के द्वारा सम्भव नहीं है। यद्यपि नित्य जीवन और अनन्त रस की लालसा प्राणी में स्वाभाविक है परन्तु परिवर्तनशील, सीमित सौन्दर्य की आसक्ति उस लालसा को शिथिल कर देती है जिससे बेचारा प्राणी कामनापूर्ति के श्रम में आबद्ध रहता है।

कामनापूर्ति के क्षेत्र में श्रम की अत्यन्त आवश्यकता है, परन्तु काम की निवृत्ति के लिए श्रम लेश मात्र भी अपेक्षित नहीं है क्योंकि अनन्त नित्य सौन्दर्य्य की लालसा की जागृति-मात्र से काम का नाश हो जाता है। अब यदि कोई यह कहे कि क्या उस लालसा की जागृति श्रम नहीं है? कदापि नहीं। क्योंकि श्रम शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि के द्वारा होता है और अनन्त नित्य सौन्दर्य्य की लालसा शरीर आदि वस्तुओं से सम्बन्ध-विच्छेद कर देती है। शरीर रहित जीवन में श्रम की गंध भी नहीं है। अब यदि कोई यह कहे कि क्या शरीर-रहित भी कोई जीवन है? शरीरयुक्त ही यदि जीवन है तो फिर मृत्यु क्या है? अतः यह निर्विवाद सत्य है कि शरीर से अतीत ही जीवन है, शरीर में जीवन नहीं है अपितु शरीर में जीवन का मिथ्याभास है। हाँ, यह अवश्य कह सकते है कि उस मिथ्या जीवन के भास में वास्तविक जीवन की लालसा निहित है। जिस प्रकार निर्बलता बल की लालसा से भिन्न और कुछ नहीं है, उसी प्रकार जीवन का भास वास्तविक जीवन की लालसा से भिन्न कुछ नहीं है। यदि निर्बलता का भास न हो तो बल की आवश्यकता ही जागृत नहीं हो सकती अर्थात् निर्बलता का भास बल की आवश्यकता जागृति में हेतु है और बल की आवश्यकता बल की प्राप्ति में समर्थ है क्योंकि वर्तमान की आवश्यकता में ही भविष्य की

उपलब्धि निहित है। अतः जीवन के भास में ही जीवन की आवश्यकता की जागृति और जीवन की आवश्यकता की जागृति में ही जीवन की प्राप्ति स्वतः सिद्ध है। प्राकृतिक नियम के अनुसार प्राप्ति किसी अन्य की नहीं होती प्रत्युत उसी की होती है जो नित्य प्राप्त है।

कामना उसी की होती है जिसका भास हो पर अस्तित्व नित्य न हो, और आवश्यकता उसी की होती है जिसका स्वतंत्र अस्तित्व है पर भास नहीं। यदि ऐसा न होता तो कामनाओं की निवृत्ति और आवश्यकता की पूर्ति ही सिद्ध न होती। कामनायुक्त अनित्य जीवन में कामना-पूर्ति-अपूर्ति का द्वन्द्व रहता है परन्तु कामनाओं की निवृत्ति से जिस स्वाभाविक आवश्यकता की पूर्ति होती है उस वास्तविक जीवन में पूर्ति-अपूर्ति का द्वन्द्व नहीं है अर्थात् वह द्वन्द्वातीत, अनन्त, नित्य, चिन्मय जीवन है। इस दृष्टि से श्रम का सम्बन्ध केवल उसी समय तक है जिस समय तक काम का नाश नहीं हुआ अर्थात् जिसे काम में ही जीवन प्रतीत होता है वह श्रम को ही महत्त्व देता है किन्तु श्रम के लिए भी विश्राम अपेक्षित है क्योंकि प्रत्येक गति के लिए स्थिरता अनिवार्य है, कारण कि स्थिरता के बिना गति हो ही नहीं सकती और वास्तविक जीवन की प्राप्ति के लिए भी विश्राम परम आवश्यक है। तात्पर्य्य यह है कि विश्राम की आवश्यकता सभी को सर्वत्र सर्वदा है। जिसके बिना किसी समस्या का हल न हो सके अथवा जिसका किसी प्रकार भी त्याग न किया जा सके उसके महत्त्व को भूल जाना और उसे न अपनाना इससे बढ़कर प्राणी की और कोई असावधानी हो ही नहीं सकती। अतः काम के नाश तथा वास्तविक जीवन से

अभिन्न होने के लिए चिर विश्राम, जो स्वतः प्राप्त है, अपना लेना अनिवार्य है। उसको अपनाए बिना किसी प्रकार का विकास सम्भव ही नहीं है।

जो स्वाभाविक प्राप्त है, यदि किसी कारण उसकी अप्राप्ति प्रतीत हो तो उसकी प्राप्ति के लिए उससे भिन्न जो कुछ प्रतीत हो रहा है, उसके वास्तविक स्वरूप को जानने का प्रयास निज विवेकपूर्वक करना अनिवार्य है। विश्राम से भिन्न श्रम और नित्य जीवन से भिन्न अनित्य जीवन की जो प्रतीति है उसका विवेकदृष्टि से क्या स्वरूप है ? अथवा यों कहो कि इन्द्रियदृष्टि से जिन वस्तुओं में सत्यता और सुन्दरता प्रतीत होती है, बुद्धिदृष्टि से उन्हीं वस्तुओं में मलीनता और क्षण-भंगुरता का दर्शन होता है और विवेकदृष्टि से किसी ने उन प्रतीत होनेवाली वस्तुओं के अस्तित्व का ही दर्शन नहीं किया क्योंकि विवेकदृष्टि जड़ता से विमुख कर चिन्मयता से अभिन्न कर देती है। चिन्मय साम्राज्य में किसी ने न तो काम को पाया और न श्रम को। अतः काम और श्रम का अस्तित्व उसी समय तक प्रतीत होता है जब तक प्राणी इन्द्रियदृष्टि पर बुद्धिदृष्टि से विजयी नहीं होता, और बुद्धिदृष्टि के परिणाम को अपना कर उससे विवेकपूर्वक असंग नहीं हो जाता। इन्द्रियदृष्टि प्राणी के चित्त में वस्तुओं के राग को अंकित करती है और बुद्धि दृष्टि उस अंकित राग का नाश करती है, जिसके होते ही भोग योग में बदल जाता है अथवा यों कहो कि प्राणी संकल्पपूर्ति की दासता से रहित संकल्पनिवृत्ति की शान्ति में विश्राम पाता है किन्तु विवेकदृष्टि प्राणी को संकल्पनिवृत्ति की शान्ति से भी असंग कर देती है। जिसके होते ही सभी अवस्थाओं से अतीत चिन्मय साम्राज्य में प्रवेश हो जाता है।

चिन्मय साम्राज्य में किसी प्रकार का वैषम्य तथा अभाव नहीं है। विषमता और अभाव का अन्त होने पर राग-द्वेष की निवृत्ति अपने आप हो जाती है, जिसके होते ही त्याग तथा प्रेम अपने आप आ जाता है अथवा यों कहो कि स्वाधीनता तथा प्रेम की अभिव्यक्ति हो जाती है क्योंकि त्याग पराधीनता को खा लेता है। स्वाधीनता की अभिव्यक्ति में अमरत्व और प्रेम की अभिव्यक्ति में अगाध, अनन्त रस निहित है।

संकल्प-पूर्ति-अपूर्ति से अतीत के जीवन की सत्ता स्वीकार करने पर समस्त वस्तु अवस्था आदि से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है क्योंकि संकल्प के द्वारा ही वस्तु अवस्था आदि से सम्बन्ध दृढ़ होता है। अब यदि कोई यह कहे कि संकल्प से अतीत के जीवन की स्वीकृति सम्भव नहीं है तो क्या संकल्प जिस परिस्थिति से सम्बन्ध दृढ़ करता है उसकी स्वीकृति सम्भव है? कदापि नहीं, कारण कि प्रत्येक परिस्थिति परिवर्तनशील तथा अभावरूप है। अभाव की सत्ता स्वीकार करना और जिस चिन्मय जीवन में किसी प्रकार का अभाव नहीं है उसकी सत्ता अस्वीकार करना प्रमाद के अतिरिक्त और हो ही क्या सकता है? वस्तु अवस्था आदि से अतीत की सत्ता को स्वीकार न करना ही चित्त को अशुद्ध करना है। वस्तुओं की स्वीकृति भले ही चित्त में अंकित रहे पर वस्तुओं की प्राप्ति तो सम्भव ही नहीं है। इस दृष्टि से वस्तुओं की स्वीकृति कुछ अर्थ नहीं रखती। उस पर भी यदि किसी को वस्तुओं से अतीत के जीवन की स्वीकृति अभीष्ट नहीं है अथवा उसकी स्वीकृति में उसे असमर्थता है तो उसे वस्तुओं की स्वीकृति भी नहीं करनी चाहिए। वस्तुओं की अस्वीकृति से वस्तुओं से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है जिसके होते ही वस्तुओं से अतीत के जीवन की

प्राप्ति स्वतः हो जाती है। जिसकी प्राप्ति हो जाती हैउसकी स्वीकृति की अपेक्षा ही नहीं रहती और जिसकी प्राप्ति सम्भव नहीं है, उसकी स्वीकृति कुछ अर्थ नहीं रखती। वस्तुओं से अतीत के जीवन की स्वीकृति वस्तुओं की दासता से रहित करने में साधनरूप है और कुछ नहीं। प्राकृतिक नियम के अनुसार साधन असाधन का नाश-कर साध्य से साधक को अभिन्न कर स्वयं मिट जाता है जिस प्रकार औषधि रोग को खाकर स्वतः मिट जाती है और परि-णाम में आरोग्यता ही शेष रहती है, उसी प्रकार साधनरूप स्वीकृति असाधनरूप स्वीकृति को खाकर स्वयं मिट जाती है और साध्य ही अपनी महिमा में आप स्थित हो ज्यों का त्यों अपने आपको प्रकाशित करता है अर्थात् जो अपने आप में स्वतःसिद्ध है, उसकी सिद्धि के लिए किसी अन्य की अपेक्षा नहीं रहती।

इस दृष्टि से साधन के निर्माण में ही साध्य की उपलब्धि निहित है और चित्त की शुद्धि से ही साधक में साधन की अभिव्यक्ति होती है। अतः सर्वात्मभाव से प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग कर, राग-द्वेष से रहित होकर चित्त को शुद्ध करना अनिवार्य है। सर्वात्मभाव के बिना राग-द्वेष का अन्त सम्भव नहीं है कारण कि जो भिन्नता तथा भेद को स्वीकार कर लेता है उसका चित्त राग-द्वेषरहित नहीं हो सकता, जिसके बिना हुए न तो स्वाधीनता की प्राप्ति और न प्रेम की ही अभिव्यक्ति हो सकती है।

सर्वात्मभाव की अभिव्यक्ति तभी सम्भव है जब प्राणी प्राप्त वस्तुओं के सदुपयोग से ममतारहित होकर व्यक्तियों की सेवा कर उनसे सुख की आशा से रहित हो जाय। कारण कि

सुख की आशा ने ही प्राणी को वस्तु व्यक्ति आदि की दासता में आबद्ध कर दिया है जिससे चित्त अशुद्ध हो गया है। अतः चित्त की शुद्धि के लिए वस्तु, व्यक्ति (अवस्था), परिस्थिति आदि के द्वारा सुख की आशा से रहित होना अनिवार्य है।

२४-६-५६

: ९४ :

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय,

जब प्राणी करने में सावधान और होने में प्रसन्न नहीं रहता तब चित्त अशुद्ध हो जाता है। प्राकृतिक नियम के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति में करने की रुचि विद्यमान है। उस रुचि की पूर्ति तथा निवृत्ति की सामर्थ्य भी प्राप्त है। इस दृष्टि से प्राप्त के सदुपयोगमें ही प्राणी का पुरुषार्थ निहित है। परन्तु जब प्राणी असावधानी से प्राप्त का सदुपयोग नहीं करता तब न तो करने की रुचि का ही नाश होता है और न उत्कृष्टता की ओर उसकी प्रगति ही होती है। करने की रुचि का नाश हुए बिना किसी को भी विश्राम नहीं मिलता, जिसके बिना आवश्यक विकास नहीं होता। इतना ही नहीं करने की रुचि के कारण जो नहीं करना चाहिए वह करने लगता है अर्थात् कर्तव्य के अभाव में ही अकर्तव्य का जन्म होता है जिससे चित्त उत्तरोत्तर अशुद्ध ही होता जाता है।

अब विचार यह करना है कि जो करने योग्य नहीं है अर्थात् अकर्तव्य है उसमें प्राणी की प्रवृत्ति ही क्यों होती है? जो कर्त्ता अपने लक्ष्य को जाने बिना कर्म में प्रवृत्त होता है, उसकी प्रवृत्ति सावधानीपूर्वक नहीं होती है, जिसके न होने से बेचारा कर्ता न तो कर्तृत्व के अभिमान से ही रहित हो पाता है और न फल की आशा से। कर्तृत्व के अभिमान के कारण

प्राणी अपनी प्रवृत्ति में आप वँध जाता है, अर्थात् उसके चित्त में किए हुए कर्मों का संस्कार अंकित हो जाता है, क्योंकि प्रत्येक प्रवृत्ति के दो रूप होते हैं एक तो वह जो दृश्य रूप से प्रतीत होता है और दूसरा वह जो अदृश्य रूप से उसके अहम् भाव में अंकित हो जाता है। प्रवृत्ति का वह रूप जो दृश्य रूप से प्रतीत होता है उसका सुखदुख प्रवृत्तिकाल में ही कर्त्ता को प्रत्यक्ष हो जाता है परन्तु प्रवृत्ति का दूसरा रूप जो अदृश्य के रूप में उसके अहम्भाव में अंकित हो जाता है उसका फल, प्राकृतिक विधान के अनुसार कालांतर में किसी न किसी परिस्थिति के रूप में प्रकट होता है। जो प्राणी प्रवृत्ति के उस रूप पर दृष्टि नहीं रखते जो अदृश्य के रूप में अंकित होता है, वे भविष्य को उज्ज्वल बनाने में समर्थ नहीं होते कारण कि वर्त्तमानके सुख-दुःख पर ही उनकी दृष्टि रहती है जो दूरदर्शिता नहीं है। दूरदर्शिता के विना कोई भी अपने भविष्य को सुन्दर नहीं बना सकता। अतः प्रवृत्ति के वाह्य रूप पर ही दृष्टि नहीं रखना चाहिए अपितु प्रवृत्ति के उस रूप पर भी पूरा पूरा ध्यान देना चाहिये जो कर्ता में अदृश्य रूप से अंकित होता है। कर्ता, कर्म और फल देखने में भले ही अलग-अलग मालूम होते हों पर वास्तव में प्रत्येक कर्म और फल कर्ता का ही रूपान्तर है। अतः जो कर्ता जैसा होता है वैसा ही उसका कर्म होता है और जैसा कर्म होता है वैसा उसका भविष्य होता है। सुन्दर कर्ता का कर्म और भविष्य सुन्दर होता है और असुन्दर कर्ता का कर्म और भविष्य असुन्दर होता है।

अव विचार यह करना है कि कर्ता असुन्दर क्यों होता है। जो कर्ता क्रियाजनित सुख में ही अपने को आवद्ध रखता है वही असुन्दर हो जाता है क्योंकि क्रियाजनित सुख प्राणी को

जड़ता तथा पराधीनता में आवद्ध कर देता है। जड़ता और पराधीनता में आवद्ध होने पर कर्ता की प्रवृत्ति निरुद्देश्य होने लगती है। जिस प्रवृत्ति के मूल में वास्तविक उद्देश्य नहीं है, केवल प्रवृत्तिजनित सुख ही जिसका उद्देश्य है यह प्रवृत्ति कभी भी कर्तव्यरूप नहीं हो सकती। प्राकृतिक नियम के अनुसार प्रत्येक प्रवृत्ति का उद्देश्य होना चाहिए क्योंकि प्रवृत्ति ही जीवन नहीं है। यदि प्रवृत्ति ही जीवन होती तो उसकी निवृत्ति नहीं होती किन्तु कोई प्रवृत्ति ऐसी है ही नहीं जो अपने आप निवृत्ति में विलीन न हो जाय। इतना ही नहीं, प्रवृत्ति के द्वारा जो परिस्थिति उत्पन्न होती है वह भी अपने आप बदल जाती है अर्थात् उसमें भी स्थिरता नहीं है, अथवा यों कहो कि प्रत्येक परिस्थिति स्वरूप से परिवर्तनशील, अपूर्ण तथा अभावरूप ही है। अतः यह स्पष्ट विदित होता है कि प्रवृत्ति मात्र में ही जीवन नहीं है। इस दृष्टि से प्रत्येक प्रवृत्ति का कोई उद्देश्य होना चाहिए तभी प्रवृत्ति की सार्थकता सिद्ध हो सकती है। जिसमें प्रवृत्ति की रुचि है उसमें उद्देश्य का ज्ञान भी निहित है। यदि ऐसा न होता तो कर्तव्य अकर्तव्य का प्रश्न ही उत्पन्न न होता, अथवा अपने प्रति होनेवाले अकर्तव्य का ज्ञान ही व्यक्ति को न होता, पर -सा कोई व्यक्ति है ही नहीं जो अपने प्रति होने वाली बुराई को बुराई न जानता हो। जिसे बुराई का ज्ञान है उसके द्वारा बुराई क्यों होती है, इसका एक मात्र कारण यही है कि वह लक्ष्य का निर्णय बिना किए ही प्रवृत्ति का आरम्भ कर देता है। अतः कर्ता वही सुन्दर हो सकता है जिसकी प्रत्येक प्रवृत्ति उद्देश्यपूर्ण हो।

प्राकृतिक नियम के अनुसार व्यक्ति का लक्ष्य वही हो सकता है जिसकी प्राप्ति अनिवार्य है, जिसका सम्बन्ध वर्तमान

ज न से है और जिसमें किसी भी प्रकार से परिवर्तन सम्भव नहीं है, अर्थात् लक्ष्य सदैव नित्य होता है और परिस्थिति चाहे जैसी क्यों न हो, उसमें सतत परिवर्तन होता रहता है। इस दृष्टि से कोई भी परिस्थिति किसी का भी लक्ष्य नहीं हो सकती। व्यक्ति इस बात को भले ही न जाने अथवा न माने पर यह ध्रुव सत्य है कि परिस्थिति लक्ष्य नहीं है। परिस्थिति लक्ष्य न होने पर भी प्रत्येक परिस्थिति साधनरूप अवश्य है। इस नाते सभी परिस्थितियाँ आदरणीय हैं।

जो उद्देश्य नित्य है उसका ज्ञान भी व्यक्ति में स्वतःसिद्ध है। पर प्रवृत्ति मात्र को ही उद्देश्य मान लेने से उस स्वतःसिद्ध ज्ञान की विस्मृति सी हो जाती है। विस्मृति उसकी नहीं होती जिसे प्राणी जानता नहीं। जाने हुए की विस्मृति को ही विस्मृति कहते हैं। अतः उद्देश्य का ज्ञान तो है, पर उस पर दृष्टि नहीं है। जब प्रवृत्ति का परिणाम व्यक्ति को सन्तुष्ट नहीं कर पाता तब उसमें उद्देश्य की जिज्ञासा स्वतः जागृत होती है। यह नियम है कि जिसकी विस्मृति हो गई हो, उसकी जिज्ञासा यदि जागृत हो जाय तो उसका ज्ञान स्वतः हो जाता है, इस दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति अपने लक्ष्य को स्वतः जान सकता है। जिसका जो लक्ष्य है, उसे वह सिखाया नहीं जा सकता, क्योंकि जो बात स्वयं जानने की है उसको सीखना-सिखाना उससे विमुख होना तथा करना है। हाँ, यह अवश्य है कि व्यक्ति अपने उद्देश्य को दूसरों के सामने प्रकट कर सकता है और यह भी सम्भव है कि लक्ष्य में भिन्नता न हो, पर भिन्नता न होने पर भी व्यक्ति जब तक अपने लक्ष्य को आप नहीं जानता है तब तक वह उसके लिए अपना सर्वस्व निछावर नहीं कर सकता।

जिसके लिए सर्वस्व निछावर नहीं किया जा सकता वह

वर्तमान की वस्तु नहीं हो सकती और जो वर्तमान की वस्तु नहीं हो सकती उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती और जिसकी प्राप्ति नहीं हो सकती, वह लक्ष्य नहीं हो सकता। अतः प्रत्येक व्यक्ति को प्राप्त विवेक के प्रकाश में अपने लक्ष्य को जानना अनिवार्य है।

ऐसा कौन व्यक्ति है जो यह नहीं जानता कि मुझे उत्कृष्टता, सामर्थ्य, स्वाधीनता, निःस्सन्देहता, जीवन और प्रेम की आवश्यकता है पर इस जाने हुए उद्देश्य पर दृष्टि नहीं रहती। उसका एक मात्र कारण यह है कि अपने उद्देश्य को व्यक्ति दूसरों के द्वारा सीखना चाहता है।

जिसका उद्देश्य उत्कृष्टता की ओर गतिशील होना है उसे स्वार्थ को सेवा में बदलना होगा। क्योंकि सेवा के बिना किसी को भी आदर, कीर्ति, यश तथा उत्कृष्ट भोगों की प्राप्ति नहीं हो सकती। इस प्रकार का उद्देश्य प्राणी का तभी तक हो सकता है जब तक वह अपने को देह मानता है, अथवा यों कहो कि देह से भिन्न नहीं जानता है। अपने को देह मानने में प्राप्त विवेक का विरोध है अतः जिस निर्णय में विवेक का विरोध है वह निर्णय निर्विवाद नहीं हो सकता अर्थात् नित्य नहीं हो सकता। परन्तु फिर भी उत्कृष्टता की ओर गतिशील होना अवनति नहीं है। प्राकृतिक नियम के अनुसार परिस्थिति जनित सत्यता और सुन्दरता उसी समय तक प्रतीत होती है जिस समय तक वह प्राप्त न हो जाय अथवा उसे विवेकपूर्वक जानने का प्रयास न किया जाय। परिस्थिति की प्राप्ति परिस्थिति से अरुचि उत्पन्न करने में स्वतः समर्थ है, परन्तु कब, जब दृष्टि सदैव उत्तरोत्तर उत्कृष्टता की ओर ही लगी रहे, अथवा यों कहो कि भौतिक विकास की पराकाष्ठा में वस्तुओं से अतीत के जीवन की

जिज्ञासा तथा लालसा स्वतः जागृत होती है। इस दृष्टि से क्रमशः भौतिक विकास भी व्यक्ति को वास्तविक उद्देश्य की ओर अग्रसर करता है।

इससे यह स्पष्ट होता है कि आज जो वस्तुओं में ही जीवन-बुद्धि रखता है वह कल वस्तुओं से अतीत जो जीवन है उस पर विश्वास करने का अथवा उसको प्राप्त करने का अधिकारी हो जाता है। इस दूरदर्शिता की दृष्टि से समस्त व्यक्तियों का उद्देश्य एक हो सकता है, परन्तु जो व्यक्ति अदूरदर्शी है वह कुछ काल के लिए उत्कृष्ट परिस्थितियों को ही जीवन मान लेता है, पर उसकी यह मान्यता स्थायी नहीं रह सकती, क्योंकि सारी सृष्टि का मूल आधार एक है,अतः समस्त प्राणियों का वास्तविक उद्देश्य भी एक ही है। उस उद्देश्य का वर्णन व्यक्तियों ने योग्यता, रुचि-भेद से अनेक प्रकार से किया है। पर जिसका वह वर्णन है, वह एक है और अनन्त है। इसी कारण प्रत्येक व्यक्ति उसको अपने अपने दृष्टि-कोण से देखता है, उसके सम्बन्ध में सोचता है और उसके प्राप्त करने के लिए परिस्थिति के अनुसार प्रयत्न-शील रहता है। इतना ही नहीं ज्यों-ज्यों वह उद्देश्य की ओर अग्रसर होता जाता है, त्यों-त्यों उसका व्यक्तिगत स्वभाव गलता जाता है और ज्यों-ज्यों व्यक्तिगत स्वभाव गलता जाता है त्यों-त्यों वह अनन्त-नित्य-चिन्मय जीवन से अभिन्न होता जाता है। जिस काल में व्यक्ति अपने सीमित स्वभाव का अन्त कर देता है उसी काल में वह वास्तविक लक्ष्य से अभिन्न हो जाता है।

जब व्यक्ति अपने वास्तविक उस उद्देश्य पर विश्वास कर लेता है जो समस्त कामनाओं के मूल में बीजरूप से विद्यमान है तब उसे प्रत्येक परिस्थिति समान प्रतीत होने लगती है क्योंकि परिस्थिति का बाह्य रूप काम का ही परिणाम है और कुछ

नहीं। यह रहस्य ज्यों-ज्यों स्पष्ट होता जाता है त्यों-त्यों कामनाएँ स्वतः निवृत्त होती जाती हैं। जिस काल में समस्त कामनाएँ मिट जाती हैं उसी काल में प्राणी वास्तविक उद्देश्य के लिए आकुल तथा व्याकुल होने लगता है। यह नियम है कि व्याकुलता की जागृति प्राणी के उस अहम्‌भाव को खा लेती है जिसमें काम का निवास था। काम का अन्त होते ही व्याकुलता प्रीति में बदल जाती है और निस्सन्देहता की अभिव्यक्ति हो जाती है। समस्त कामनाओं की भूमि काम है। इस कारण कामनाओं की निवृत्ति होने पर भी—काम निर्जीव दशा में रहता है जिसे व्याकुलता की अग्नि भस्मीभूत कर देती है। प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में कुछ कामनाएँ ऐसी होती हैं जिनकी पूर्ति अनिवार्य है और कुछ कामनाएँ ऐसी भी उत्पन्न होने लगती हैं जिनकी पूर्ति सम्भव ही नहीं है। जिन कामनाओं की पूर्ति के बिना विद्यमान राग की निवृत्ति नहीं हो सकती, उन कामनाओं की पूर्ति के लिए परिस्थिति प्राकृतिक न्याय से स्वतः प्राप्त होती है और जिन कामनाओं की निवृत्ति अनिवार्य है उनके लिए उस अनन्त की अहैतुकी कृपा से प्राणी को विवेक प्राप्त है। इस दृष्टि से प्राणी एक ही उद्देश्य की पूर्ति के लिए विवेकपूर्वक कामनाओं को निवृत्त भी करना है और सेवा भाव अथवा कर्तव्य बुद्धि से उन्हें पूरा भी करना है। परन्तु कामना-पूर्ति भी कामना-निवृति का ही साधन है, नवीन कामनाओं को जन्म देने के लिए नहीं।

जिस विवेक में कामना निवृत्ति की सामर्थ्य है, उसी विवेक से प्राणी को कामना-पूर्ति का विधान भी प्राप्त है। अर्थात् विधान-रहित प्रवृत्ति द्वारा किसी भी कामना को पूरा नहीं करना है क्योंकि जो विधान का अनादर करता है, वह करने

में सावधान नहीं रह सकता और जो सावधान नहीं रह सकता वह कामना-पूर्ति द्वारा कामना-निवृत्त की स्थिति को प्राप्त नहीं कर सकता।

जिस विधान से सारी सृष्टि अपने-अपने कार्य में नियुक्त है, उसी विधान से व्यक्ति को परिस्थिति मिली है और उसी विधान का प्रकाश विवेक है। इतना ही नहीं समस्त सृष्टि में जो सामर्थ्य कार्य कर रही है उसी से व्यक्ति को भी सामर्थ्य मिली है और सारी सृष्टि जिससे व्यक्त हुई है उसीसे व्यक्ति को भी वस्तु मिली है। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि व्यक्ति में जो विवेक, सामर्थ्य और वस्तु है वह अनन्त की ही देन है। इस दृष्टि से प्राणी समस्त सृष्टि से अभिन्न है अतः जिस व्यक्ति को जो परिस्थिति प्राप्त है उसका हित उसी के सदुपयोग में निहित है परन्तु व्यक्ति असावधानी के कारण प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग नहीं करता और अप्राप्त परिस्थिति के चिन्तन में आबद्ध हो जाता है, उसका परिणाम यह होता है कि जो विवेक और सामर्थ्य उसे प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग द्वारा परिस्थितियों से अतीत की ओर अग्रसर होने के लिए मिली थी, वह नष्ट हो जाती है और विवेक का अनादर हो जाता है। इतना ही नहीं, उत्कृष्ट परिस्थिति भी प्राप्त नहीं होती, अपितु प्राप्त परिस्थिति में भी अनेकों प्रतिकूलताएँ अपने आप आ जाती हैं जिनसे भयभीत होकर प्राणी कर्त्तव्यच्युत हो जाता है जो विनाश का मूल है।

प्रत्येक व्यक्ति को सावधानीपूर्वक प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करना है। वह तभी सम्भव होगा जब वह जिस परिस्थिति में जो कर सकता है उसके अतिरिक्त कुछ भी करने की बात न सोचे और जो कर सकता है उससे अपने को न बचाए।

प्रत्येक व्यक्ति पराए दुःख से करुणित हो सकता है और प्राप्त सुख को वितरित कर सकता है और विवेक-पूर्वक दूसरों से सुख की आशा का त्याग कर सकता है अतः सुख की आशा से रहित, प्राप्त सुख का सद्व्यय और पर-दुख से दुखी होने पर ही व्यक्ति परिस्थिति का सुन्दरता-पूर्वक सदुपयोग कर सकता है।

जो व्यक्ति दूसरों से सुख की आशा करता हो और पराए दुःख से अपने को बचाता हो और प्राप्त सुख को दुखियों की धरोहर न मानता हो, वह कितना ही सामर्थ्यशाली क्यों न हो परिस्थिति का सदुपयोग नहीं कर सकता। जो परिस्थिति का सदुपयोग नहीं कर सकता वह परिस्थिति की दासता से मुक्त नहीं हो सकता, जो परिस्थिति की दासता से मुक्त नहीं हो सकता, वह जड़ता, पराधीनता तथा अभावों से रहित नहीं हो सकता। इस दृष्टि से प्राप्त परिस्थिति का आदर-पूर्वक सदुपयोग करना है और प्राप्त-अप्राप्त परिस्थिति की दासता से भी रहित होना है। यह नियम है कि परिस्थितियों की दासता से रहित होने की सामर्थ्य उसी को प्राप्त होती है जो प्राप्त परिस्थिति में भी अपना हित जानता है और उसका सदुपयोग आदर-पूर्वक, उद्देश्य पर दृष्टि रखते हुए विधिवत्, कर्त्तव्य-बुद्धि से अथवा सेवा-भाव से अथवा राग-रहित होने के लिए करता है।

प्राप्त परिस्थिति में हित है, इस बात को वही जान सकता है जो अनन्त के मंगलमय विधान पर विश्वास करता है। जिसे प्राकृतिक विधान में श्रद्धा नहीं रहती वह प्राप्त परिस्थिति में अपने हित का अनुभव नहीं कर सकता। अतः प्रत्येक परिस्थिति किसी विधान से निर्मित है, इस पर अविचल श्रद्धा तथा विकल्प-रहित विश्वास करना अनिवार्य है। परिस्थिति का आदरपूर्वक सदुपयोग वही कर सकता है जो परिस्थिति को

भोग-सामग्री अर्थात् अपना जीवन नहीं मानता अपितु साधन-सामग्री जानता है। परिस्थिति के सदुपयोग-काल में अपने उद्देश्य पर दृष्टि वही रख सकता है जो उद्देश्य की पूर्ति को वर्तमान की वस्तु मानता है। उसके लिए भविष्य की आशा नहीं करता और न उससे निराश होता है। प्रत्युत उद्देश्य-पूर्ति के लिए जिसमें नित नव उत्कंठा तथा उत्साह जागृत रहता है। परिस्थिति का सदुपयोग विधिवत् वही कर सकता है जो विवेक-विरोधी चेष्टाओं को सहन ही नहीं कर सकता अर्थात् जो किसी भी भय तथा प्रलोभन से प्रेरित होकर विवेक का अनादर नहीं करता अथवा यों कहो कि विवेक का आदर करने के लिए बड़ी से बड़ी कठिनाइयों को अपना लेता है, और विवेक के अनादर से प्राप्त होनेवाली सुख-सुविधाओं का हर्ष-पूर्वक त्याग कर देता है। कर्तव्य-बुद्धि से परिस्थिति का सदुपयोग वही कर सकता है जो अपने को अधिकार-लोलुपता से रहित कर दूसरों के अधिकार की रक्षा में ही अपना अधिकार मानता है। अर्थात् जो अपने अधिकार का त्याग कर सकता है, वही कर्तव्यनिष्ठ हो सकता है। सेवाभाव से परिस्थिति का सदुपयोग वही कर सकता है जो सुख-लोलुपता से रहित होकर पर-दुःख को अपना दुःख मान लेता है। अर्थात् जिसका हृदय करुणा से भरपूर रहता है। जो किसी भी दुखी को अपना सुख देने में संकोच नहीं करता और दुखियों के दुःख को अपना लेने में ही जिसे अपने दुःख की निवृत्ति भासती है अथवा जो सभी में अपने सेव्य का दर्शन कर सकता है। राग-रहित होने के लिए परिस्थिति का सदुपयोग वही कर सकता है, जिसकी दृष्टि परिस्थितियों के परिवर्तन में लगी रहती है और जो समस्त परिस्थितियों को अपूर्ण तथा अभावरूप जानता है।

कोई भी व्यक्ति परिस्थितियों का सदुपयोग किए विना परिस्थितियों के बन्धन से रहित नहीं हो सकता क्योंकि विद्यमान राग की निवृत्ति परिस्थितियों के सदुपयोग में ही निहित है, और राग-रहित होने में ही योगी में योग, जिज्ञासु में तत्त्व-ज्ञान और प्रेमी में प्रेम की अभिव्यक्ति निहित है। अथवा यों कहो कि समस्त विकास रागरहित होने में ही निहित है, क्योंकि रागरहित हुए विना न तो चित्त का निरोध ही हो सकता है, न देहाभिमान ही गल सकता है और न समर्पित होने की सामर्थ्य ही आती है, अर्थात् रागरहित हुए बिना प्रेमी प्रेमास्पद को रस प्रदान कर ही नहीं सकता। इस दृष्टि से प्राणी-मात्र को रागरहित होना अनिवार्य है और रागरहित होने के लिए उस मंगलमय विधान से मिली हुई परिस्थिति का सदुपयोग सावधानीपूर्वक करना है। अतः जो करने में सावधान नहीं रह सकता वह कभी भी वास्तविक उद्देश्य की पूर्ति की ओर अग्रसर नहीं हो सकता। इस दृष्टि से करने में सावधान रहना अनिवार्य है। जो व्यक्ति प्रत्येक परिस्थिति में उस अनन्त का मंगलमय विधान स्वीकार कर लेता है वह न तो अप्राप्त परिस्थिति का चिन्तन करता है और न प्राप्त परिस्थिति से अरुचि करता है और न उसमें ममता रखता है और न परिस्थिति के विपरीत कुछ भी करने को सोचता है। प्रत्युत जो परिस्थिति प्राप्त है उसके अनुरूप जो कर सकता है, करता है, जो नहीं कर सकता है उसके लिए लेश-मात्र भी चिन्तित नहीं होता है। इस कारण उसके जीवन में असमर्थता तथा पराधीनता शेष नहीं रहती है और जो कर सकता है उसके करने में असावधानी नहीं करता। इस कारण उसके जीवन में असमर्थता तथा पराधीनता शेष नहीं रहती है और जो कर सकता है उसके करने में असावधानी नहीं करता। इस कारण उसके जीवन में अकर्मण्यता तथा आलस्य की

उत्पत्ति नहीं होती। अकर्मण्यता तथा आलस्य का अंत होने पर प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त में स्वतः विश्राम प्राप्त होता है जो आवश्यक सामर्थ्य तथा योग्यता के विकास में हेतु है। इतना ही नहीं, ज्यों-ज्यों व्यक्ति प्राप्त वस्तु, सामर्थ्य तथा योग्यता सद्व्यय करता है त्यों-त्यों वह उत्तरोत्तर अपने निर्दिष्ट लक्ष्य की ओर अग्रसर होता रहता है। उसकी वह प्रगति उस समय तक स्वतः होती रहती है जिस समय तक वह अपने अभीष्ट लक्ष्य से अभिन्न नहीं हो जाता।

विवेकविरोधी चेष्टाओं का अन्त किये बिना भी कोई भी व्यक्ति करने में सावधान नहीं रह सकता क्योंकि विवेक का विरोध सहन करने पर अकर्त्तव्य में कर्त्तव्य बुद्धि उत्पन्न हो जाती है। यदि ऐसा न होता तो प्राणी अपने विकास के लिए दूसरे का ह्रास; अपने आदर के लिए दूसरे का अनादर, अपने लाभ के लिये दूसरों की हानि और अपनी रक्षा के लिए दूसरों का विनाश कदापि नहीं करता अर्थात् उसमें हिंसा आदि दोषों की उत्पत्ति ही न होती। अथवा यों कहो कि विवेक का विरोध सहन करने में ही दो व्यक्तियों, दो वर्गों, दो देशों, दो मतों तथा दलों में संघर्ष की उत्पत्ति ही न होती। समस्त संघर्षों का मूल एक मात्र निज विवेक का अनादर करना है और समस्त आसक्तियों की उत्पत्ति भी एक मात्र विवेक विरोधी चेष्टाओं में ही है। इस दृष्टि से करने में सावधान वही रह सकता है जिसकी प्रत्येक प्रवृत्ति विवेक के प्रकाश से प्रकाशित है। विवेक के प्रकाश से प्रकाशित प्रवृत्तियों में सर्वात्मभाव एवं सर्व-हितकारी सद्भावनाओं की अभिव्यक्ति होती है।

करने में सावधान रहने के लिए वास्तविक उद्देश्य का ज्ञान, प्राप्त परिस्थिति का आदर और उसका सदुपयोग तथा परिस्थिति

के अनुरूप ही कर्त्तव्यनिष्ठा और अप्राप्त परिस्थिति के चिन्तन का त्याग तथा विवेक के प्रकाश से प्रकाशित प्रवृत्तियों का होना अनिवार्य है। जो व्यक्ति करने में सावधान रहता है उसका चित्त अशुद्ध नहीं होता और जिसका चित्त अशुद्ध नहीं होता उसे जो कुछ हो रहा है उसमें अपने मंगल का ही दर्शन होता है।

जो कुछ स्वतः हो रहा है, उसमें अनन्त का मंगलमय विधान ओत-प्रोत है। यह नियम है कि मंगलमय विधान से जो कुछ होता है उसमें किसी का अहित नहीं होता। तो फिर जो हो रहा है उसमें प्रसन्न न होना प्रमाद के अतिरिक्त और हो ही क्या सकता है? अर्थात् कुछ नहीं। प्रमादवश ही प्राणी घटनाओं के अर्थ को नहीं अपनाता, अपितु अपने को घटनाओं के चिन्तन में आबद्ध कर खिन्न होता रहता है जो उसे जो हो रहा है उसमें प्रसन्न नहीं होने देता। इतना ही नहीं प्रतिकूलताओं का भय और अनुकूलताओं की दासता भी उसे जो हो रहा है उसमें प्रसन्न नहीं होने देती क्योंकि अनुकूलता का वियोग और प्रतिकूलता का आ जाना उसे सहन नहीं होता जिसका एक मात्र कारण मंगलमय विधान पर दृष्टि न रखना है।

यद्यपि समस्त घटनाओं का अर्थ एक है क्योंकि ऐसी कोई घटना हो ही नहीं सकती जो प्राणी को संयोग की दासता और वियोग के भय से मुक्त होने की प्रेरणा नहीं देती अथवा विरक्ति तथा उदारता का पाठ नहीं पढ़ाती। विरक्ति तथा उदारता को अपना लेने पर जो कुछ हो रहा है उसमें मंगल ही मंगल है क्योंकि प्रतिकूलता के बिना विरक्ति और अनुकूलता के बिना उदारता सुरक्षित ही नहीं रह सकती। यदि प्राणी प्रतिकूलताओं से विरक्ति को सुदृढ और अनुकूलता से उदारता को सजीव बनाए रखे तो अनुकूलता और प्रतिकूलता दोनों ही उसके लिए मंगलमय सिद्ध

होती है क्योंकि विरक्ति से स्वाधीनता तथा उदारता से प्रेम की अभिव्यक्ति होती है।

अब यदि कोई यह कहे कि प्राप्त वस्तुओं के परिवर्तन में, संयोग के वियोग में, सुख के अभाव में और दुःख के प्रादुर्भाव में भला व्यक्ति कैसे प्रसन्न रह सकता है? यदि संयोग का वियोग न होता तो नित्य योग की प्राप्ति सम्भव ही न होती। इस दृष्टि से संयोग के वियोग में भी व्यक्ति का अपना मंगल ही है। यदि वस्तुओं में सतत परिवर्तन न होता तो प्राणी न तो वस्तुओं की दासता से ही मुक्त होता और न वस्तुओं से अतीत के जीवन में श्रद्धा ही होती जिसके बिना हुए स्वाधीनता तथा चिन्मयता सम्भव ही नहीं है क्योंकि वस्तुओं की दासता जड़ता तथा पराधीनता में आबद्ध करती है। इस दृष्टि से भी वस्तुओं के परिवर्तन में भी प्राणी का मंगल ही है। यदि सुख अभावरूप न होता और दुःख अपने आप न आता तो प्राणी के जीवन में न तो सुख की दासता से मुक्त होने का प्रश्न उत्पन्न होता और न वह दुःखहारी को पुकारता ही और न वास्तविक आनन्द की खोज ही करता। इस दृष्टि से सुख के अभाव और दुःख के प्रादुर्भाव में भी प्राणी का मंगल ही है। अतः प्रत्येक दृष्टि से यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि जो कुछ हो रहा है उसमें किसी का अमंगल नहीं है तो फिर होने में प्रसन्न न रहना भूल के अतिरिक्त और हो ही क्या सकता है?

यद्यपि जो कुछ हो रहा है उसमें प्राणी का मंगल ही है, परन्तु प्राणी अविवेक के कारण उसे देख नहीं पाता, उसका परिणाम यह होता है कि भोग में ही जीवन मान बैठता है। जीवन में भले ही भोग का कोई स्थान हो; पर भोग में जीवन नहीं है। इस रहस्य को जान लेने पर भोग से अरुचि स्वतः जागृत होती है जो भोग वासनाओं का अन्त करने में समर्थ है। भोग, वासनाओं

का अन्त होते ही प्राणी का प्रवेश सहज योग में अर्थात् नित्ययोग में स्वतः हो जाता है जो होने में प्रसन्न रहने की सामर्थ्य प्रदान करता है। जो होने में प्रसन्न नहीं रह सकता वह क्षोभ तथा क्रोध से रहित नहीं हो सकता। जो क्रोध से रहित नहीं हो सकता उसे वास्तविक स्मृति प्राप्त नहीं हो सकती अर्थात् उसे न तो कर्त्तव्य का ही ज्ञान हो सकता है और न अपने स्वरूप की ही स्मृति रह सकती है और न उसे अनन्त की ही स्मृति रह सकती है। कर्त्तव्य की विस्मृति अकर्त्तव्य में, स्वरूप की विस्मृति देहाभिमान में और अनन्त की विस्मृति प्राणी को आसक्तियों में आबद्ध कर देती है, जिससे चित्त अशुद्ध ही होता है। क्षोभरहित हुए बिना प्राणी न तो प्राप्त सामर्थ्य तथा योग्यता का सदुपयोग ही कर पाता है और न उसे आवश्यक सामर्थ्य तथा योग्यता ही प्राप्त होती है क्योंकि क्षोभ शांति को भङ्ग कर देता है। शान्ति के भङ्ग होते ही प्राप्त सामर्थ्य का ह्रास होने लगता है और अप्राप्त सामर्थ्य का विकास नहीं होता। इस कारण क्षुभित होने में प्राणी का अहित ही है। अतः न तो क्षुभित होना है और न क्रोधित, पर यह तभी सम्भव होगा जब प्राणी जो हो रहा है उसमें प्रसन्न रहे।

अकर्त्तव्य में आबद्ध प्राणी न तो करने की रुचि का ही अन्त कर सकता है, न जीने की आशा तथा मृत्यु के भय का ही और न पाने के प्रलोभन से ही रहित हो सकता है अर्थात् उसमें करने का राग ज्यों का त्यों विद्यमान रहता है जिससे उसे यथेष्ट विश्राम प्राप्त नहीं होता और न वह वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति आदि की दासता से ही रहित होता है। इतना ही नहीं बेचारा जड़ता में ही आबद्ध रहता है, अथवा यों कहो कि स्वाधीनता, चिन्मयता एवं चिर-विश्राम से वंचित रह जाता है, अकर्त्तव्य के

कारण ही बेचारा प्राणी देह में ही अहम्-बुद्धि स्वीकार करता है जिससे जीने की आशा और मृत्यु के भय से आक्रान्त रहता है। जीने की आशा और मृत्यु का भय उसे किसी-न-किसी अप्राप्त वस्तु व्यक्ति आदि की प्राप्ति के प्रलोभन में आवद्ध रखता है। इस दृष्टि से यह स्पष्ट विदित होता है कि अकर्त्तव्य में आवद्ध प्राणी का विकास नहीं होता अपितु ह्रास ही होता है, जिसका एक मात्र कारण कर्त्तव्य की विस्मृति ही है और कुछ नहीं।

देहाभिमान में आवद्ध प्राणी न तो मोहरहित ही हो सकता है और न कामरहित। मोहरहित एवं कामरहित हुए बिना किसी को भी वास्तविक जीवन की प्राप्ति नहीं होती जिसका एक मात्र कारण स्वरूप की विस्मृति ही है।

आसक्तियों में आवद्ध प्राणी में न तो अखण्ड स्मृति ही उदय होती है और न दिव्य चिन्मय प्रीति की ही अभिव्यक्ति होती है जिसका एक मात्र कारण अनन्त की विस्मृति ही है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध है कि जो स्वतः हो रहा है उसमें प्रसन्न रहने में ही सभी का हित निहित है।

प्राकृतिक नियम के अनुसार जो करने में सावधान है वही होने में प्रसन्न रह सकता है और जो होने में प्रसन्न रहता है वही करने में सावधान हो सकता है। कारण कि सावधानीपूर्वक की हुई प्रवृत्ति वही हो सकती है जो निज विवेक के अनुरूप है। प्राणी को जिस विधान से विवेक मिला है, उसी विधान के अधीन समस्त सृष्टि में कार्य हो रहा है। अथवा यों कहो कि व्यष्टि और समष्टि का विधान एक है। इतना ही नहीं समष्टि शक्तियाँ सर्वदा विधान के अधीन रहती हैं। यदि व्यक्ति भी विधान का अनादर न करे तो उसकी प्रवृत्तियों में अकर्त्तव्य जैसी वस्तु की उत्पत्ति ही न हो।

अर्थात् उसका जीवन कर्त्तव्य का प्रतीक बन जाय। यह नियम है कि कर्त्तव्यनिष्ठ होते ही समष्टि शक्तियाँ स्वतः व्यक्ति के अनुकूल हो जाती हैं जिससे उसका विकास अपने आप होने लगता है। इस दृष्टि से जो कर्त्तव्यनिष्ठ है वही होने में प्रसन्न रह सकता है। यदि किसी को जो हो रहा है उसमें प्रसन्नता नहीं होती तो उसे समझना चाहिए कि उसके कर्त्तव्य में कोई दोष है। प्राकृतिक नियम के अनुसार समस्त सृष्टि व्यक्ति को सर्वदा सुन्दर बनाने के लिए स्वभाव से ही गतिशील रहती है क्योंकि सृष्टि उसी की अभिव्यक्ति है जिसमें अनन्त नित्य सौन्दर्य्य है। परन्तु जब व्यक्ति प्राप्त विवेक का आदर तथा बल का सदुपयोग नहीं करता तब प्राकृतिक न्याय से उसके बल का ह्रास होने लगता है और विवेक आच्छादित हो जाता है। उसका परिणाम यह होता है कि प्राणी चिन्मयता से जड़ता, असीम से सीमित और स्वाधीनता से पराधीनता की ओर स्वतः जाने लगता है और इस बात को भूल जाता है कि यह अपनी ही असावधानी का परिणाम है। उसी दशा में प्राणी जो हो रहा है उसमें प्रसन्न नहीं रह पाता।

बल के सदुपयोग तथा विवेक के आदर में समस्त विकास निहित हैं। इस दृष्टि से अवनति का होना प्राणी की अपनी असावधानी है। प्राकृतिक नियम के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को सर्वथा उत्तरोत्तर उन्नति की ओर गतिशील होना है। किन्तु जब व्यक्ति मिली हुई स्वाधीनता का दुरुपयोग करने लगता है तभी उसकी अवनति होती है। अथवा यों कहो कि जब व्यक्ति उस अनन्त की उदारता का दुरुपयोग करता है तभी उसका अहित होता है। व्यक्ति को सामर्थ्य के सदुपयोग तथा दुरुपयोग, विवेक के आदर तथा अनादर की स्वाधीनता इसलिए नहीं मिली

कि वह अपने द्वारा ही अपना सर्वनाश कर डाले और उसका कारण यह मान बैठे कि प्राकृतिक विधान में कोई नियम नहीं है चाहे जो कुछ चाहे जब हो जाय।

पर बात ऐसी नहीं है। वृक्षों में भी जो गति हो रही है वह भी एक नियम के अधीन ही है। जिन वृक्षों से दूसरे वृक्ष पोषित होते हैं उनकी आयु और स्वाधीनता उन वृक्षों की अपेक्षा अधिक होती है जिन से दूसरे वृक्षों की क्षति होती है। जब वृक्षों में गति भी अवैधानिक नहीं है तो फिर यह मान लेना कि जो कुछ हो रहा है वह किसी विधान के अनुरूप नहीं है, क्या युक्तियुक्त है? कदापि नहीं। जब व्यक्ति यह स्वीकार कर लेता है कि जो कुछ हो रहा है वह मंगलमय विधान से हो रहा है तब प्रत्येक परिस्थिति में वह निश्चिन्त तथा निर्भय रहता है।

निर्भय और निश्चिन्त प्राणी बल का सदुपयोग और विवेक का आदर स्वतः करने लगता है। अतः करने में सावधान वही रहता है जो होने में प्रसन्न है।

कर्त्तव्य-विज्ञान, योग-विज्ञान और अध्यात्म-विज्ञान उसी विधान की अभिव्यक्ति है, जिसके अधीन समष्टि शक्तियाँ क्रियाशील हैं। व्यक्ति और समष्टि शक्तियों में अन्तर केवल इतना है कि व्यक्ति को जो स्वाधीनता है वह समष्टि शक्तियों को नहीं है, कारण कि व्यक्ति कर्त्तव्य-विज्ञान के विपरीत अकर्त्तव्य और योग-विज्ञान के विपरीत भोग और अध्यात्म-विज्ञान के विपरीत भौतिक विकास में ही जीवन की पूर्णता मान बैठता है। यह मिली हुई स्वाधीनता का दुरुपयोग है सदुपयोग नहीं। स्वाधीनता दुरुपयोग के लिए नहीं परन्तु सदुपयोग के लिए ही मिली थी।

यदि व्यक्ति उस मिली हुई स्वाधीनता का दुरुपयोग न करता तो वह जड़ता, पराधीनता एवं शक्तिहीनता में आबद्ध न होता।

स्वाधीनता जिस अनन्त की देन है, समष्टि शक्तियाँ उसीके अधीन क्रियाशील हैं। इसी कारण जो व्यक्ति मिली हुई स्वाधीनता का दुरुपयोग करता है उसके लिए परिस्थिति प्रतिकूल हो जाती है। परन्तु उस प्रतिकूलता में व्यक्ति का अहित नहीं है अपितु उसके सुधार की ही एक व्यवस्था है। परन्तु भोगजनित सुखासक्ति के कारण प्राणी को प्राकृतिक व्यवस्था दुःखद प्रतीत होती है। अथवा यों कहो कि दुःख से भयभीत प्राणी प्राकृतिक विधान का आदर नहीं करता। यद्यपि दुःख विकास का मूल है पर यह रहस्य वही जानता है जिसे प्राकृतिक विधान में अविचल श्रद्धा होती है और जो प्राप्त स्वाधीनता का दुरुपयोग नहीं करता। स्वाधीनता के सदुपयोग में ही स्वाधीनता की सुरक्षा निहित है। उस अनन्त का कैसा अद्‌भुत विधान है कि पराधीनता की वेदना में स्वाधीनता की साधना और स्वाधीनता के सदुपयोग में वास्तविकता की प्राप्ति स्वतः सिद्ध है। ऐसे अनुपम विधान से मिले हुए विवेक का आदर तथा बल का सदुपयोग क्या प्राणी को नहीं करना चाहिये ? अर्थात् अवश्य करना चाहिये।

समष्टि शक्तियों की क्रियाशीलता में कर्तृत्व का अभिमान नहीं है। यह नियम है कि जिसमें कर्तृत्व का अभिमान नहीं होता उसके द्वारा होने वाली क्रियायें अहितकर नहीं होतीं। कर्तृत्व का अभिमान उसी में नहीं होता जो अहम्‌भाव-शून्य है। अहम्-भाव-शून्य वही होता है जो कामरहित है और कामरहित वही है जिसमें भेद तथा भिन्नता की गंध नहीं है। इस दृष्टि से समष्टि शक्तियों में किसी से भेद तथा भिन्नता नहीं है। इसी कारण उनके द्वारा जो कुछ हो रहा है उससे किसी का अमङ्गल नहीं हो सकता। अतः किसी भी व्यक्ति को समष्टि शक्तियों से भयभीत नहीं होना चाहिए अपितु मिली हुई स्वाधीनता के सदुपयोग द्वारा निर्भय हो

जाना चाहिए। परन्तु विवेक के अनादर से प्राणी प्राप्त बल का दुरुपयोग करने लगता है जो वास्तव में करने में सावधान न रहना है। कर्त्तव्यविज्ञान योगविज्ञान का साधन है क्योंकि कर्त्तव्यनिष्ठ प्राणी ही रागरहित होकर भोग-वासनाओं का अन्त कर योग में प्रवेश करता है। योगविज्ञान अध्यात्मविज्ञान का साधन है क्योंकि योग की पूर्णता में ही सामर्थ्य, स्वाधीनता तथा चिन्मयता निहित है। इस दृष्टि से व्यक्ति को जो विवेक प्राप्त है उसके द्वारा कर्त्तव्य-विज्ञान से योग-विज्ञान में और योग-विज्ञान से अध्यात्म-विज्ञान में प्रवेश करना अनिवार्य है। अथवा यों कहो कि कर्त्तव्यपरायणता की पूर्णता में भोग वासनाओं का अन्त तथा वस्तुओं से अतीत के जीवन की प्राप्ति स्वतः सिद्ध है।

यद्यपि समस्त प्राणियों का वास्तविक उद्देश्य एक है परन्तु योग्यता तथा रुचि एवं परिस्थिति भेद से प्रत्येक व्यक्ति वास्तविक उद्देश्य तक पहुँचने के लिये अपनी-अपनी रुचि के अनुसार कर्त्तव्य-पालन की पद्धति को स्वीकार करता है। पद्धति चाहे जो हो पर उसमें अकर्त्तव्य की गंध न हो तो प्रत्येक पद्धति के द्वारा व्यक्ति क्रमशः उत्तरोत्तर वास्तविक उद्देश्य तक पहुँचने के लिए समर्थ हो जाता है क्योंकि समस्त साधन-पद्धतियाँ उस अनन्त की ही विभूति हैं।

अब विचार यह करना है कि व्यक्ति किस मान्यता को स्वीकार कर किस स्तर से उद्देश्य-पूर्ति के लिये कर्त्तव्य में प्रवृत्त हो रहा है। कर्त्तव्य वही है जिसका सम्बन्ध वर्त्तमान से हो और प्राप्त परिस्थिति के अनुरूप हो। इस कारण कर्त्तव्यपालन में असमर्थता और असफलता की गंध भी नहीं है। प्राकृतिक नियमानुसार प्रत्येक व्यक्ति में क्रियाशक्ति, भावशक्ति और विवेकशक्ति किसी-न-किसी अंश में तीनों ही विद्यमान हैं, अथवा यों कहो कि इन तीनों में से

किसी एक काल में किसी एक की प्रधानता और अन्य की गौणता रहती है। जिस व्यक्ति में क्रियाशीलता अधिक हो और भाव तथा विवेक की गौणता हो वह भौतिक विकास में ही उत्कृष्टता मानता है और विवेकपूर्वक पवित्र भाव से वर्तमान कार्य को सुन्दर से सुन्दर करने का प्रयास करता है। ज्यों-ज्यों भाव की पवित्रता तथा कार्य कुशलतापूर्वक वर्त्तमान कार्य को सुन्दर करता जाता है त्यों-त्यों स्वभाव से स्वार्थभाव गलता जाता है और करने के राग की भी निवृत्ति होती जाती है। ज्यों-ज्यों स्वार्थभाव गलता जाता है, क्रियाजन्य सुख का राग मिटता जाता है त्यों-त्यों क्रियाशक्ति भाव-शक्ति में विलीन होती जाती है। ज्यों-ज्यों क्रियाशक्ति भावशक्ति में विलीन होती जाती है त्यों-त्यों विवेक का प्रकाश स्पष्ट होता जाता है जिसके होते ही देहाभिमान गल जाता है और फिर चित्त स्वतः शुद्ध हो जाता है जिसके होते ही क्रिया, भाव और विवेक में अभिन्नता हो जाती है। जिस व्यक्ति में क्रियाशीलता की प्रधा-नता है वह अपने को यदि सेवक मान लेता है और समस्त विश्व के साथ एकता स्वीकार कर लेता है तो वह बड़ी सुगमतापूर्वक करने में सावधान हो सकता है। उसके द्वारा सेवा स्वतः होती है और उसका परिणाम सुन्दर समाज का निर्माण होता है, अथवा यों कहो कि वह करता है सेवा और होता है सुन्दर समाज का निर्माण, क्योंकि सेवा व्यक्ति और समाज के भेद का नाश कर देती है, जिसके होते ही व्यक्ति अपने में और विश्व में भेद नहीं कर पाता, अथवा यों कहो कि विश्वरूप हो जाता है जिसके होते ही वह स्वतः उस अनन्त की प्रीति होकर, जिसके किसी अंश में समस्त सृष्टि है, उससे अभिन्न हो जाता है।

जिस व्यक्ति में विवेक की पराधीनता है वह स्वभाव से ही इन्द्रियों के ज्ञान पर सन्देह करता है। ज्यों-ज्यों सन्देह की

वेदना सबल तथा स्थायी होती जाती है त्यों-त्यों इन्द्रिय-ज्ञान के आधार पर उत्पन्न हुई कामनाएँ स्वतः मिटती जाती हैं। जिस काल में सन्देह की वेदना असह्य हो जाती है उसी काल में जिज्ञासा की पूर्ति और समस्त कामनाओं की निवृत्ति स्वतः हो जाती है। जिज्ञासा की पूर्ति में निस्सन्देहता, स्वाधीनता, अमरत्व और चिन्मयता स्वतः सिद्ध है। स्वाधीनता की अभिव्यक्ति वस्तुओं की दासता से रहित कर देती है जिसके होते ही दीनता तथा अभिमान सदा के लिए गल जाता है, जिसके गलते ही भेद नष्ट हो जाता है। उसके द्वारा प्रत्येक प्रवृत्ति सर्वात्मभाव से, कर्तृत्व के अभिमान से रहित स्वतः होने लगती है। उसके चित्त में राग-द्वेष की गंध तक नहीं रहती, अथवा यों कहो कि असंगता और अभिन्नता उसका स्वभाव हो जाता है। विवेक के स्तर से व्यक्ति जो कुछ करता है वह राग-निवृत्ति का साधन है और उसकी दृष्टि में जो कुछ हो रहा है वह अभावरूप है और जो है वह स्वरूप है। असंगता में स्वाधीनता और अभिन्नता में प्रेम की अभिव्यक्ति स्वतः सिद्ध है। भावप्रधान व्यक्ति में, दृष्टि के प्रकाशक के प्रति अविचल श्रद्धा तथा विश्वास स्वतः होता है, अथवा यों कहो कि वह उस पर विश्वास करता है जो देश-काल की दूरी से रहित है अर्थात् जो सर्वत्र सर्वदा सर्वरूप से अपनी महिमा में आप स्थित है। भावप्रधान व्यक्ति उस अनन्त के विश्वास, सम्बन्ध तथा प्रीति को ही अपना अस्तित्व जानता है क्योंकि विश्वास और विश्वासी में, प्रेम और प्रेमी में विभाजन सम्भव नहीं है। अब यदि कोई यह कहे कि व्यक्ति में तो अनेक विश्वास होते हैं, तो फिर विश्वासी और विश्वास में भेद क्यों नहीं हो सकता? जिसमें अनेक विश्वास होते हैं, जिसका अनेक से सम्बन्ध होता है वह वास्तव में विश्वासी नहीं

है। विश्वासी वही है जिसमें दो विश्वास नहीं हैं, अथवा यों कहो कि विश्वास विकल्परहित तभी होता है जब उस पर किया जाय जिसे जानते नहीं, पर फिर भी मानते हैं अर्थात् जिसे इन्द्रिय तथा बुद्धि-ज्ञान से नहीं जानते। उसके द्वारा जो कुछ होता है वह पूजा है और कुछ नहीं, क्योंकि जब उसका अस्तित्व प्रेमास्पद के प्रेम से भिन्न कुछ है ही नहीं तब उसके द्वारा प्रेमास्पद की पूजा के अतिरिक्त और हो ही क्या सकता है। इतना ही नहीं, प्रीतिनिर्मित दृष्टि से किसी ने प्रीतम से भिन्न को देखा ही नहीं अतः वह जो कुछ करता है वह पूजा है और जो कुछ हो रहा है वह उसके प्रेमास्पद की लीला है।

क्रियाप्रधान व्यक्ति की समस्त प्रवृत्तियाँ सेवा, विवेक-प्रधान व्यक्ति की समस्त प्रवृत्तियाँ रागरहित होने का साधन और भाव-प्रधान व्यक्ति की प्रत्येक प्रवृत्ति पूजा होती है। कर्त्तव्य का आरम्भ चाहे जिस मान्यता तथा स्तर से क्यों न हो पर अन्त में सभी की एकता अपने आप हो जाती है, कारण कि क्रिया, भाव तथा विवेक तीनों ही शक्तियाँ किसी एक में ही हैं, अथवा यों कहो कि इन तीनों के सदुपयोग से जिस उद्देश्य की पूर्त्ति होती है वह भी एक ही है। इतना ही नहीं, उस अनन्त की सामर्थ्य ही व्यक्ति में क्रियारूप से, उस अनन्त का प्रेम ही व्यक्ति में भावरूप से और उस अनन्त का नित्य-ज्ञान ही व्यक्ति में विवेकरूप से भासित होता है। इस दृष्टि से समस्त साधन-पद्धतियाँ उस अनन्त की ही अभिव्यक्ति हैं। अतः साधन का आरम्भ किसी भी पद्धति से क्यों न हो, परिणाम में भेद नहीं है। यदि किसी को भेद की प्रतीति होती है तो उसे समझना चाहिए कि उसके करने में कोई असावधानी है। प्रत्येक कर्त्तव्य की पूर्णता में दूसरे कर्त्तव्य की उत्पत्ति स्वतः सिद्ध है। इस क्रम से प्रत्येक व्यक्ति

अपनी-अपनी योग्यता, रुचि, सामर्थ्य के अनुरूप कर्त्तव्य-पालन द्वारा चित्त शुद्ध कर सकता है।

चित्त की शुद्धि में ही समस्त विकास निहित हैं, कारण कि चित्त शुद्ध हुए विना असमर्थता का नाश नहीं होता और न अभाव का ही अभाव होता है और न अगाध अनन्त रस की ही उपलब्धि होती है। इतना ही नहीं, चित्त की शुद्धि में ही उत्कृष्ट परिस्थिति एवं आवश्यक वस्तुओं की प्राप्ति भी निहित है क्योंकि चित्त की अशुद्धि से ही प्राणी वस्तुओं के अभाव में आवद्ध हो जाता है जिससे उत्तरोत्तर अवनति की ओर ही गतिशील होता रहता है। करुणा, उदारता, आत्मीयता में ही समस्त विकास निहित हैं। करुणा की अभिव्यक्ति उन्हीं प्राणियों में होती है जो पराए दुःख को अपने दुःख से भी अधिक महत्त्व देते हैं अर्थात् जो दुखियों को देखकर अपना दुःख भूल जाते हैं। यह नियम है कि ज्यों-ज्यों प्राणी अपने दुःख को भूलता जाता है और दूसरों के दुःख को अपनाता जाता है त्यों-त्यों उसका चित्त उत्तरोत्तर शुद्ध होता जाता है और ज्यों ज्यों चित्त शुद्ध होता जाता है त्यों-त्यों करुणा की अभिव्यक्ति होती जाती है। ज्यों ज्यों करुणा की अभिव्यक्ति होती जाती है त्यों-त्यों प्राकृतिक विधान के अनुसार सेवा-सामग्री स्वतः प्राप्त होती जाती है। करुण प्राणी ज्यों-ज्यों प्राप्त सेवा-सामग्री का सदुपयोग करता जाता है त्यों-त्यों सेवा-सामग्री की स्वतः वृद्धि होती जाती है अर्थात् वस्तुओं का अभाव शेष नहीं रहता और न करुण प्राणी में वस्तुओं की दासता ही शेष रहती है और न जिनकी सेवा करता है उनके मोह में ही आवद्ध होता है अपितु, उत्तरोत्तर निर्मोहता तथा स्नेह की एकता का प्रादुर्भाव होता जाता है। निर्मोहता से अविवेक का अन्त हो जाता है और स्नेह की एकता पारस्परिक संघर्षों को खा लेती है।

इस दृष्टि से व्यक्ति का कल्याण और सुन्दर समाज का निर्माण भी चित्त की शुद्धि में ही निहित है।

चित्त की शुद्धि के बिना उदारता की अभिव्यक्ति भी सम्भव नहीं है क्योंकि उदारता उन्हीं प्राणियों को प्राप्त होती है जो पतित से पतित प्राणी को भी अपनाने में हिचकते नहीं हैं अर्थात् प्रीति ही जिनका स्वभाव बन गया है। घृणा तथा तिरस्कार की जिनके चित्त में गंध भी नहीं है, जो सभी रूपों में अपने प्रीतम का ही दर्शन करते हैं, अथवा यों कहो कि जिन्होंने प्रेमास्पद से भिन्न की सत्ता को ही स्वीकार नहीं किया है। जब प्राणी प्रेमास्पद से भिन्न की सत्ता को ही स्वीकार नहीं करता तब अनेक विश्वास एक विश्वास में और अनेक चिन्तन एक चिन्तन में स्वतः विलीन हो जाते हैं; जिसके होते ही चित्त-शुद्ध हो जाता है और उसी काल में प्राणी में उदारता की अभिव्यक्ति हो जाती है। उदारता की अभिव्यक्ति भेद तथा भिन्नता की नाशक है। जब तक चित्त सर्वांश में शुद्ध नहीं होता तब तक उदारता साधन-रूप है और जब चित्त सर्वांश में शुद्ध हो जाता है तब उदारता प्राणी का स्वरूप हो जाती है, जिसके होते ही सभी के प्रति आत्मीयता का भाव स्वतः जागृत होता है। आत्मीयता से भी भेद तथा भिन्नता मिट जाती है। भेद का नाश पराधीनता तथा संग्रह की भावना को खा लेता है और भिन्नता मिटते ही प्रेम की अभिव्यक्ति हो जाती है।

इस दृष्टि से करुणा, उदारता तथा आत्मीयता की अभिव्यक्ति चित्त की शुद्धि में ही निहित है। करुणा की अभिव्यक्ति के बिना असमर्थता का अन्त नहीं होता क्योंकि करुणा से ही प्राप्त सामर्थ्य का सद्व्यय और अप्राप्त सामर्थ्य की प्राप्ति होती है। जिन प्राणियों में करुणा उदित नहीं होती वे प्राप्त सामर्थ्य के सद्व्यय

की तो कौन कहे दुर्व्यय कर बैठते हैं जिससे समष्टि शक्तियों के द्वारा उनकी विरोधी शक्ति स्वतः उत्पन्न हो जाती है, जिसके होते ही वे प्राणी भयभीत हो जाते हैं। यह नियम है कि ज्यों-ज्यों प्राणी भयभीत होता जाता है त्यों-त्यों संग्रही होता जाता है और ज्यों-ज्यों संग्रही होता जाता है त्यों-त्यों जड़ता तथा पराधीनता में आ-बद्ध होता जाता है और ज्यों-ज्यों जड़ता आदि में आबद्ध होता जाता है त्यों-त्यों असमर्थ होता जाता है अर्थात् जो करना चाहिए उसे कर नहीं पाता और जो नहीं करना चाहिए उसे करने लगता है जिससे उसका और दूसरों का ह्रास ही होता है। इस दृष्टि से असमर्थता का अन्त करने के लिए चित्तशुद्धि अनिवार्य है।

उदारता की अभिव्यक्ति में ही अभाव का अभाव निहित है क्योंकि उदारता के बिना न तो सर्वात्मभाव की ही उत्पत्ति होती है और न स्नेह की ही एकता उदित होती है और न प्राप्त वस्तु, सामर्थ्य तथा योग्यता का सद्व्यय ही हो पाता है। उदारचरित्र प्राणी की सेवा के लिए प्राकृतिक विधान लालायित रहता है। इस कारण आवश्यकता की पूर्ति और इच्छाओं की निवृत्ति स्वतः हो जाती है। इच्छाओं की निवृत्ति से नित्य-योग, चिर-शांति, सामर्थ्य और स्वाधीनता, और आवश्यकता की पूर्ति से दिव्य-चिन्मय प्रीति की अभिव्यक्ति स्वतः होती है क्योंकि प्रीति ही प्राणी की वास्तविक आवश्यकता है और उसकी प्राप्ति में ही अगाध-अनन्त रस की उपलब्धि निहित है। इस दृष्टि से समस्त विकास का मूल चित्त की शुद्धि ही है।

करुणा भौतिक विकास का मूल है और उदारता तथा आत्मीयता में ही स्वाधीनता और प्रेम की अभिव्यक्ति है, अथवा यों कहो कि करुणा सामर्थ्य की, उदारता स्वाधीनता की और

आत्मीयता प्रेम की प्रतीक है। सामर्थ्य, स्वाधीनता और प्रेम की अभिव्यक्ति में ही जीवन की पूर्णता निहित है।

ज्यों-ज्यों प्राणी कर्त्तव्यनिष्ठ अर्थात् करने में सावधान होता जाता है त्यों-त्यों उसके चित्त की अशुद्धि स्वतः मिटती जाती है। ज्यों-ज्यों चित्त की अशुद्धि मिटती जाती है त्यों-त्यों चित्त उसके अधीन होता जाता है। यदि चित्त अपने अधीन न प्रतीत हो तो समझना चाहिये कि कर्त्तव्य-पालन में कोई दोष है, कारण कि कर्त्तव्य-परायणता विद्यमान राग का अन्त कर देती है जिसके होते ही चित्त स्वाधीन हो जाता है। इतना ही नहीं, प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त में चित्त का निरोध अपने आप होने लगता है। चित्त के निरोध में ज्यों-ज्यों गाढ़ता होती जाती है त्यों-त्यों आवश्यक सामर्थ्य का प्रादुर्भाव स्वतः होता जाता है। आवश्यक सामर्थ्य का प्रादुर्भाव जड़ता को चिन्मयता में, पराधीनता को स्वाधीनता में और मृत्यु को अमरत्व में विलीन कर देता है, जिसके होते ही चित्त से असंगता स्वतः प्राप्त होती है, जिससे अध्यात्म-जीवन से अभिन्नता हो जाती है अर्थात् वस्तु, अवस्था एवं परिस्थितियों से अतीत का जो जीवन है उससे एकता हो जाती है, अथवा यों कहो कि स्वाधीनता प्राप्त होती है। स्वाधीनता में ही सन्तुष्ट न होने पर अपने आप प्रेम की अभिव्यक्ति होती है जिसके होते ही चित्त जैसी कोई वस्तु शेष ही नहीं रहती, अथवा यों कहो कि चित्त का निरोध, चित्त से असंगता और चित्त का अभाव हो जाने में ही चित्तशुद्धि की परावधि है।

यह नियम है कि जब तक चित्त सर्वांश में शुद्ध नहीं होता तभी तक चित्त अपने अधीन नहीं होता और न चित्त से सम्बन्ध ही विच्छेद होता है और न चित्त का अभाव अर्थात् चित्त चिन्मय ही होता है।

सावधानीपूर्वक प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग से ही प्राणी में चित्त के निरोध की सामर्थ्य आती है; चित्त के निरोध से ही चित्त से सम्बन्ध-विच्छेद और सम्बन्ध-विच्छेद से ही चित्त का अभाव हो जाता है। पर यह रहस्य वे ही जानते हैं जो करने में सावधान और होने में प्रसन्न हैं।

चित्त-शुद्धि वर्तमान की वस्तु है। उसे भविष्य पर नहीं छोड़ना चाहिए और न उससे कभी निराश होना चाहिये प्रत्युत चित्तशुद्धि के लिए नित-नव आशा तथा उत्कण्ठा जागृत रहनी चाहिये तभी चित्त शुद्ध हो सकता है और चित्त शुद्ध होने पर समस्त समस्यायें हल हो सकती हैं। इस दृष्टि से चित्त-शुद्धि अनिवार्य है।

चित्त स्वरूप से अशुद्ध नहीं है, कारण कि चित्त स्वयं कर्त्ता नहीं है। वह तो अलौकिक शक्ति है, अथवा यों कहो कि भौतिक विकास की पराकाष्ठा है। चित्त इतनी गहरी खाई है कि जिसकी थाह उस समय तक लग ही नहीं सकती जिस समय तक उसमें से उस अशुद्धि का अंत न कर दिया जाय, जो प्राणी ने अपने प्रमाद से उसमें अङ्कित कर दी है।

विवेक का अनादर, सामर्थ्य का दुरुपयोग, परिस्थिति में जीवनबुद्धि आदि कारणों से प्राणी चित्त को अशुद्ध करता है। विवेक का अनादर, सामर्थ्य का दुरुपयोग और परिस्थिति में जीवनबुद्धि स्वीकार करना प्राकृतिक दोष नहीं है। जाने हुये को न मानना उसी का दोष है जो नहीं मानता; जाने हुए के विपरीत सामर्थ्य का व्यय भी उसी का दोष है जो कर्त्ता है; सतत परिवर्तन-शील परिस्थितियों में जीवनबुद्धि स्वीकार करना भी उसी का दोष है जिसने स्वीकार किया है। वह कौन-सा देवता है जो निज ज्ञान का आदर, सामर्थ्य का सद्व्यय तथा परिस्थितियों से विमुखता स्वीकार नहीं करने देता? उस देवता ने ही चित्त को अशुद्ध किया

है। जब प्राणी उसकी खोज करने लगता है तो वह देवता उसके प्रमाद से भिन्न नहीं है। इस दृष्टि से चित्त की अशुद्धि प्राणी की अपनी भूल है। भूल को भूल जान लेने पर वह स्वतः मिट जाती है। इस दृष्टि से चित्त की शुद्धि में प्राणी सर्वदा स्वाधीन है।

यदि प्राणी चित्त-शुद्धि में स्वाधीन न होता तो चित्त-शुद्धि का प्रश्न ही उत्पन्न न होता। प्राकृतिक नियम के अनुसार वही समस्या उत्पन्न होती है जिसका हल अनिवार्य है, परन्तु प्राणी जब असावधानी से उत्पन्न हुई समस्याओं से भयभीत हो जाता है तब समस्या हल करने की सामर्थ्य होते हुये समस्या हल नहीं कर पाता। चित्त की अशुद्धि चाहे जितनी पुरानी क्यों न हो पर वर्तमान में मिट सकती है। जिस प्रकार अनन्त काल के अंधकार को वर्तमान का प्रकाश खा लेता है उसी प्रकार दीर्घ काल की अशुद्धि वर्तमान में मिट सकती है, परन्तु कब? जब प्राणी को चित्त की अशुद्धि असह्य हो जाय।

चित्त की अशुद्धि उन्हीं व्यक्तियों को असह्य होती है जो चित्त की शुद्धि को वर्तमान की वस्तु मानते हैं। चित्त की अशुद्धि का ज्ञान जिस ज्ञान से होता है, चित्त की शुद्धि का उपाय उसी ज्ञान में विद्यमान है। इस दृष्टि से जिसे चित्त में अशुद्धि भासती है उसमें चित्तशुद्धि की सामर्थ्य विद्यमान है। अतः विद्यमान सामर्थ्य के सदुपयोग द्वारा प्राणी का चित्त शुद्ध हो सकता है।

चित्त की अशुद्धि का ज्ञान जिसको है क्या वह स्वयं चित्त है अथवा चित्त से अतीत? यदि वह अपने को चित्त से अलग जानता है तो उसे चित्त की अशुद्धि का ज्ञान ही कैसे हुआ? यदि वह अपने को चित्त से अलग नहीं मानता तो उसने अपनी अशुद्धि का चित्त में आरोप क्यों किया?

प्राकृतिक नियम के अनुसार जिससे किसी न किसी प्रकार

की एकता तथा भिन्नता न हो उसे उसका न तो भास ही हो सकता है और न उससे सम्बन्ध ही हो सकता है। अतः यह स्पष्ट विदित होता है कि जिसे चित्त की अशुद्धि का ज्ञान है अथवा जिसे चित्त का भास होता है अथवा जो चित्त से सम्बन्ध स्वीकार करता है वह भी उसी धातु से निर्मित है जिससे चित्त। परन्तु एक धातु से निर्मित होने पर भी गुणों की भिन्नता है। गुणों की भिन्नता के कारण ही उसे चित्त की अशुद्धि का ज्ञान, चित्त से सम्बन्ध और चित्त की प्रतीति होती है। जिसे चित्त शुद्ध करना है उसे चित्त से स्वरूप की एकता और गुणों की भिन्नता स्वीकार करना अनिवार्य है।

जब उसमें चित्त के अशुद्ध होने की वेदना जागृत हो जाती है तब वह चित्त-अशुद्धि-जनित सुख का त्याग करने में समर्थ होता है। ज्यों-ज्यों चित्त-अशुद्धि-जनित सुख कात्याग करता जाता है त्यों-त्यों चित्त स्वतः शुद्ध होता जाता है। प्राणी जिस काल में अशुद्धिजनित सुख का सर्वांश में त्याग कर देता है उसी काल में चित्त स्वतः शुद्ध हो जाता है, जिसके होते ही चित्त की अशुद्धि का ज्ञान और शुद्धि का उपाय तथा चित्त की शुद्धि इन तीनों में अभिन्नता हो जाती है, जिसके होते ही सीमित अहम्-भाव सदा के लिए गल जाता है और फिर भेद तथा भिन्नता जैसी कोई वस्तु ही शेष नहीं रहती। इस दृष्टि से अहम्-भाव की भूमि में ही समस्त अशुद्धि अङ्कित है, जिसकी निवृत्ति तभी सम्भव है जब व्यक्ति सावधानीपूर्वक जो कर सकता है उसे कर डाले और जो नहीं कर सकता है उसके लिए लेश मात्र भी चिन्ता न करे अर्थात् निश्चिन्त हो जाय तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक चित्त शुद्ध हो सकता है, अथवा यों कहो कि जो कर सकता है उसके कर डालने पर कर्तृत्व का अभिमान शेष नहीं रहता, जिसके न रहने पर जो करना चाहिये

वह स्वतः होने लगता है और जो नहीं करना चाहिये उसकी उत्पत्ति ही नहीं होती, जिसके न होने से अकर्त्तव्य की गन्ध तक नहीं रहती और कर्त्तव्यपरायणता स्वाभाविक हो जाती है, जिसके होते ही जो कुछ हो रहा है उसमें अनन्त का मंगलमय विधान ही प्रतीत होता है।

अत्र विचार यह करना है कि चित्त-अशुद्धि-जनित सुख क्या है? पराधीनता में स्वाधीनता के समान सुखी होना, जड़ता में चिन्मयता, अभाव में भाव और मृत्यु में जीवन को स्वीकार करना ही अशुद्धिजनित सुख है। अशुद्धिजनित सुखलोलुपता की भूमि कामना-अपूर्त्ति के दुःख से भयभीत होना और कामनापूर्त्ति के सुख में आवद्ध होना ही है। जब प्राणी कामनापूर्त्ति के सुख की दासता में जड़ता, अभाव, पराधीनता एवं मृत्यु का अनुभव कर लेता है तब अशुद्धिजनित सुखलोलुपता का त्याग करने में समर्थ होता है, अर्थात् वस्तु, व्यक्ति आदि की दासता से रहित हो जाता है, जिसके होते ही करने में सावधान और होने में प्रसन्न रहने की सामर्थ्य आ जाती है, जो चित्त को शुद्ध करने में समर्थ है।



शुद्धि-पत्रक

९५	८	प्रयप्र	प्रयत्न
११५	२१	ग्रेम	प्रेम
१८६	७	अशुद्य	अशुद्ध
२२३	१०	आवाहन हो	आवाहन न हो
२३७	३	को	की
२४७	७	कर्भ	कर्म
३०८	१६	मी	भी
३१२	३	जोवन	जीवन
४०६	१८	सा	ऐसा
४१०	१७	इस दृष्टि से प्राणी	इस दृष्टि से प्राणी को